॥ श्री जैनग्रन्थप्रकाशकसभाग्रन्थमालारत्नम् ॥

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-निजज्ञानचरणसंस्मारितातीनश्रुतकेवलिभगवन्-

महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजयगणिप्रणीतम् ।

॥ श्री अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणम् ॥

नचेदं-श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचिताप्तमीमांसा-श्रीमदकलंकदेवनिर्मितभाष्यसंवलित-

श्रीविद्यानन्दिसूरिप्रणीताष्टसहस्रीवृत्तिसनाथम् ।

संशोधकः-शासनसम्राट्-तीर्थोद्धारक-सूरिचक्रचक्रवर्ति सर्वतंत्र-स्वतंत्र-जगद्गुरु-तपागच्छाधिपति-भट्टारकाचार्य-श्रीमद्विजय-

नेमिसूरीश्वर-पट्टधर- न्यायविशारद-सिद्धान्तवाचस्पति-आचार्यश्रीविजयोदयसूरिः ॥

मुद्रकः-लल्लुभाइतनुज गुलाबचन्द्र श्रीभावनगरीयमहोदयमुद्रणाधिपति प्रकाशयित्री-श्रीराजनगरस्था श्रीजैनग्रन्थप्रकाशकसभा

वीर संवत् २४६३] क्रिस्ताब्द १९३७ [विक्रमाब्द १९९३

प्रतय १००० पण्यं दशकरूप्यकम् प्रथमावृत्तिः

श्रीजैनग्रन्थप्रकाशकग्रन्थमालातः मुद्रितानि ग्रन्थरत्नानि ।

×१ सम्बोधप्रकरणम् (कर्ता—हरिभद्रसूरिः)
२ अष्टकप्रकरणं सवृत्तिकम् (मू. हरिभद्रसूरिः टी. जिनेश्वरसूरिः)
३ तत्त्वप्रभावृत्तिसमेतं न्यायालोकप्रकरणम् (मूलकर्ता— यशोविजयजी उपाध्याय)
×४ स्याद्वादबिन्दुः
५ नवतत्त्वविस्तरार्थः यंत्रपरिशिष्टाद्यनेक—उपयोगिविषयसमेतः
६ दंडकविस्तरार्थः वृत्त्यवचूर्णिस्तवनादिसाहित्यसमेतः
७ हैमधातुमाला (व्याकरणोपयोगि सर्वसाहित्यसमेता)
८ धातुरत्नाकरः भाग १—२—३—४—५
×९ द्रव्यलोकप्रकाशः भा. १ (यन्त्रचित्रादिसमेतः विस्तरार्थ-
१० जैनन्याय—मुक्तावली (सटीका) [विभूषितश्च)
×११ प्राकृतरूपमाला
१२ समुद्घाततत्त्वम् । १३ जैनतत्त्वपरीक्षा प्रथमो वर्गः
×१४ स्तोत्रभानुः
१५ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणं—आप्तमीमांसातद्भाष्यसंवलित-वृत्तिसमेतं (न्यायविशारद—न्यायाचार्य—महामहोपाध्याय-विद्वत्कुलावतंस—श्रीयशोविजयजीगणिप्रणीतं)
१६ स्याद्वादरहस्यपत्रं सटीकम
१७ न्यायखंडन—खंडखाद्यप्रकरणम्—सवृत्तिकम्

मुद्रयितुमारब्धानि

१ धातुरत्नाकरः भाग ६ । २ स्याद्यन्तरत्नाकरः
३ श्रीसिद्धहैमशब्दानुशासनम (बृहद्वृत्ति—बृहन्न्यास, लघुन्यासादिसमेतम्)
४ महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीता धर्मपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्तिसमेता एवमादयः

प्राप्तिस्थान, श्रीजैनग्रंथप्रकाशकसभा, घी कांटावाडी—अमदावाद.

प्रकाशकीय निवेदन

सुज्ञ सज्जनवर्यो !!!

विक्रमनी अढारमी सदीमां विद्यमान न्यायविशारद न्यायाचार्य अपूर्व बोधथी अतीत श्रुतकेवलि भगवंतोनुं स्मरण करावनार महामहोपाध्याय **श्रीमद्यशोविजयजी गणि महाराजनो** रचेलो ते आ **अष्टसहस्त्री तात्पर्य विवरण** नामनो ग्रन्थ छे. के जे आ ग्रंथनी मात्र एकज प्रति पुना डेक्कन कोलेजना भांडारकर प्राच्यविद्यासंग्रहमां छे, तेम अमारा सांभळवामां आवतां तेनी कोपी करावी लेवा अमारी इच्छा थइ अने ते इच्छाथी महापरिश्रमे ते प्रत उपरथी प्रेमने लायक मेटर (प्रेस कोपी) तैयार कराव्युं.

जैनेतर विद्वानोए पण आ ग्रन्थने जोयो, जोइने जैनेतर विद्वानो पण कहेवा लाग्या के आवो अपूर्व तर्कवादथी भरपुर अने नवीन न्याय श्रेणिथी लखाएल अलभ्य प्राय ग्रन्थ विद्वज्जनोनी समक्ष जो प्रसिद्धिमां आवे तो प्रजानुं महद्भाग्य गणाय, वळी न्यायादि दर्शन शास्त्र वेत्ताओमां मूर्धन्य गणाता जैनेतर पंडित वर्यो पण आ ग्रन्थनी मुक्तकंठे प्रशंसा करवा पूर्वक खुल्ला हृदयथी कहेवा लाग्या के आ एकज ग्रंथनो यथार्थ अभ्यासी दर्शनशास्त्रोनो एक समर्थ वेत्ता बनी शके छे. आवा विचारो सांभळीने आ महान ग्रन्थने जगदुपकारार्थे प्रसिद्धिमां लाववा अमारी शुभभावना थइ मुद्रणकला कालना वखतमां मुद्रण सिवाय जैन-जैनेतर प्रजामां आ महान उपकारक ग्रन्थने प्रकाशमां लाववुं अशक्य जणाणुं जेथी ते छपाववा अमारी इच्छा थइ । शासनाधिष्ठायकोनी कृपाथी अमारी ते इच्छा आज परिपूर्ण थइ छे. आ ग्रन्थ छपाववामां जावाल श्री संघना ज्ञानखातामांथी प्राथमिक केटलीक मदद मळी छे. तेथी अमो **जावाल श्रीसंघनो** हार्दिक उपकार मानीए छीए.

शिरोही स्टेटमां आवेला शिरोही निकटवर्ती शिखरबंध चार अने घुमटीबंध एक एम पांच भव्य जिन प्रासादो अनेक

उपाश्रय धर्मशाळाओ धार्मिक पाठशाला विगेरे धर्मस्थानोथी विभूषित श्री **जावाल नगर** छे. जे जावाल नगरमां प्रायः प्रतिवर्ष पूज्य मुनिमहाराजाओ चातुर्मास बीराजमान होय छे तेमज ज्यां वीतराग धर्ममां दृढ श्रद्धावंत उदार प्रकृति श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छीय श्रावकोना लगभग पोणा बसो घर छे. जावालनी उदारता माटे एकज दृष्टांत लइए के जावालनी बहारनी वाडीमां गूढमंडप—रंगमंडप विगेरे अंगोपांग समेत लगभग दोढ लाख रुपीआना खर्चेथी त्यांना श्री संघे श्री ऋषभदेव भगवाननो शिखरबंध प्रासाद बंधाव्यो छे. जेनी त्रण वर्ष पहेलां तेओए प्रतिष्ठा करावी छे. आ समय व्यापारीओ माटे कटोकटीनो होवा छतां पण प्रतिष्ठामहोत्सवमां लगभग पोणा बे लाख रुपीआनी उछामणीमां उपज थइ हती. आवी रीते जावालना अनेक भव्य-जीवोए उदारतापूर्वक शासनप्रभावना करनारा भव्य जीवोने सम्यग् दर्शनना साधनभूत श्री तीर्थयात्रासंघ श्री जिनचैत्य जीर्णो-द्धार, नवीन जिनप्रासाद बंधाववा. धार्मिक पाठशाला तथा दुष्कालना विकट समये पशुओने बचाववा विगेरे धार्मिक कृत्यो कर्या छे अने करे छे. वळी जावालना श्रीसंघे **तीर्थाधिराज श्री सिद्धगिरिजी भगवंतनी** छायामां आवेला **पालीताणा** शहे-रमां **शेठश्री आनन्दजी कल्याणजीना** नामना वंडामां एक विशाल धर्मशाळा पण बंधावी छे. आवा अनेक धार्मिक स्थान अने धार्मिक कृत्यो करनार धर्मनिष्ठ पुरुषोथी सुशोभित श्री जावाल शहेरमां केटलाक समय अगाउ शासन सम्राट् तीर्थोद्धारक सूरि-चक्रचक्रवर्ति सर्वतंत्र स्वतंत्र जगद्गुरु श्रीतपागच्छाधिपति भट्टारक आचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरना** पट्ट-धर अनेक गुणगणालंकृत न्यायवाचस्पति शास्त्रविशारद आचार्य महाराजश्री **विजयदर्शनसूरिजी महाराज** चातुर्मास बिराज-मान हता ते वखते तेओश्रीए व्याख्यानमां सर्वानुयोगमय श्री**भगवती सूत्र** वांच्युं हतुं ते वखते श्रावकोए उदारताथी उल्लास-

पूर्वक श्री **गौतम** नामनुं पूजन कर्युं हतुं. ते पूजनमां आवेला द्रव्यमांथी त्यां ज्ञान खाते वपरात। बाकी रहेली रकम कोइ पण प्राचीन ग्रंथ छपाववा माटे जावाल श्री संघे अत्रे मोकली हती. ते रकम जोके आ ग्रन्थ छपाववामां जे खर्च थयो छे ते अपेक्षाए पूरती नथी तो पण प्राथमिक तेओनी मदद होवाथी फरीथी पण अमो **जावाल श्री संघनो हार्दिक उपकार मानीए छीए. उपाध्यायजी महाराजनी** एकली टीकाज मात्र आ ग्रन्थ छपाववाथी मूल ग्रन्थ सिवाय वांचनारने जोइए तेटलो उपकारक नहि थाय तेम विचारी सर्वांग (श्री समन्तभद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा मूल-श्रीमदकलंकदेव प्रणीत भाष्य संवलित श्रीमद्विद्यानंदिसूरि विरचित वृत्ति) समेत आ ग्रन्थ भावनगरना महोदय प्रिन्टींग प्रेसमां निर्णय सागरीय टाइपो अने सारा टकाउ ड्रोइंग पेपरोमां छपाव्यो छे. आ ग्रन्थनुं प्रमाण लगभग ७० फारम अने १८००० श्लोक संख्या थशे.

आ स्थळे अमारे जणाववुं जोइए के स्याद्वादना गहन विषयनो तर्क प्रधान नवीन न्यायश्रेणिथी एक समर्थ विद्वानना हाथथी लखाएल ग्रन्थनुं शोधन करवानुं कार्य छपाती वखते बीजी सामी प्रत अथवा भांडारकर इन्स्टयुटनी ते मूल प्रति सिवाय असने दुर्घट लाग्युं पण अमारे सखेद जणाववुं जोइए के ते बन्नेमांथी एक पण मेळववा प्रयत्नना साफल्य माटे अमो भाग्यशाली बन्या नथी छतां पण घणा विद्वानोनी प्रेरणाथी जे मल्युं छे ते उपरथी पण छपाववा निर्णय कर्यो. अमोने घणा विद्वानो तरफथी कहेवामां आव्युं तेमज अमारुं पण चोक्कस मानवुं थयुं के आवी रीते आ एकज कोपी उपरथी बनी शके तेटलुं सुधारवानुं कार्य करवाने लायक शासनसम्राट् सूरिचक्रचक्रवर्ति अनेकतीर्थोद्धारक सर्वतंत्र स्वतंत्र जगद्गुरु तपागच्छाधिपति भट्टारक आचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद् विजयनेमि सूरीश्वरजीना** पट्टधर सिद्धान्त वाचस्पति न्यायविशारद प्रसिद्ध विद्वान **आचार्य महाराज श्रीविजयोदयसूरिजी** महाराज करी शकशे.

तेथी घणा विद्वानोए तथा अमोए पूज्य श्रीउदयसूरिजी महाराजने सुधारी आपवा विनन्ति करी. तेओश्रीने घणाज कार्यो होवाथी वखत न मळवाथी तेमज एकप्रति उपरथी करेल प्रेस कोपी होवाथी सुधारवानी ना पाडी छतां अमोए विनन्ति करी के जेटलुं आपश्रीथी बनी शके तेटलुं सुधारी आपो अने अमारी आ विनन्ति जरुर आप ध्यानमां ल्यो. तेवी प्रबल विनन्ति थवाथी तेओश्रीए हा पाडी अने तेथी अथाग परिश्रम लइने आ ग्रन्थ तेओश्रीए सुधारी आप्यो छे, ते खाते अमो तेओश्रीना ऋणी छीए अने तेओश्रीनो हार्दिक उपकार अमो कदी भूलवाना नथी. अमो तो त्यांसुधी कहीए छीए के आ उपकार केवल अमारा उपरज मात्र नथी परंतु विद्वत्प्रजा उपर पण छे. पूज्य श्रीउदयसूरिजी महाराजना दर्शन, ज्ञान तथा चरित्रनुं स्वरूप समग्र जैन प्रजामां प्रसिद्ध ज छे. जेथी तेनुं वर्णन करवुं ते मोरना पींछाने चितरवा जेवुं छे. आ ग्रन्थनी विषयानुक्रमणिका पण तेओश्रीए करी आपेल छे ते आ साथे दाखल करी छे. आ ग्रन्थ छेवटना भागमां किंचित अपूर्ण छे जे ग्रन्थना अन्तमां आपेल टिप्पणीथी जणाशे. आ ग्रन्थमां जे कंइ मुद्रादोषथी प्रेसदोषथी अगर सुधारतां रहेल दृष्टि दोषथी भूल रही होय ते बाबत क्षमा मांगी तेओने ते सुधारी वांचवा साथे अमोने जणाववा प्रार्थना करीए छीए के जेथी बीजी आवृत्ति समये ते लक्ष्यमां रहे.

आ ग्रन्थ विद्वानोना हाथमां मूकवा आज अमो भाग्यशाली बनीए छीए ते शासनाधिष्ठायकोनी ज कृपा छे.

आ ग्रन्थ प्रायः भेटमां आपवानो नथी. तेनी कींमतमां आवेला पैसामांथी खर्च बाद करतां जो रकम वधशे तो बीजा जैन शासनना ग्रंथोना प्रकाशनमां ज ते उपयोगमां लेवाशे ए ज प्रार्थना.

निवेदिका श्रीसंघचरणकमलोपासिका

—श्री जैन ग्रन्थप्रकाशक सभा, अमदावाद.

अष्टसहस्त्या विषयसूचीपत्रम् ॥

ॐ परमात्मने नमः

॥ सवृत्तिकाष्टसहस्त्रीद्वितीयादिपरिच्छेदस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

इति द्वितीयपरिच्छेदः ॥

॥ अथ तृतीयपरिच्छेदः ॥

इति तृतीयपरिच्छेदः ॥

अथ कार्यकारणादिभेदाभेदस्याद्वादसाधनात्मा चतुर्थपरिच्छेदः

॥ अथ पञ्चमः परिच्छेदः ॥

॥ अथ षष्ठः परिच्छेदः ॥

॥ इति षष्ठः परिच्छेदः ॥

॥ अथ सप्तमः परिच्छेदः ॥

॥ इति अष्टमः परिच्छेदः ॥

॥ अथ नवमः परिच्छेदः ॥

॥ इति नवमः परिच्छेदः ॥

॥ इति सवृत्तिकाष्टसहस्रीविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

अष्टसहस्र्याः शुद्धिपत्रम्.



अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
त्वेन	पेन	२	प्र	४
द्वौ	द्वो	११	प्र	६
हावि	हवि	१२	प	३
स्पर्श	स्पार्श	१२	प्र	१०
न चै	नवै	१३	प्र	४
श्रोतव्यो	श्रोतव्यो मन्तव्यो	१७	द्वि	८
ध्या	ध्यत	२४	प्र	१२
च प्रा	चन प्रा	२५	द्वि	११
श्रिने	श्रिते	२७	द्वि	१८
न न्त	नन्त	२८	प्र	९
भावे	भावो	२८	प्र	१०
कन्या	कान्य	२८	प्र	१४
कन्या	कान्य	२९	प्र	१-३
ङोत्रे	ङ्गत्रे	३०	प्र	११
न्युक्रम्	न्गगुक्रम	३०	द्वि	५
श्रिद	धिद	३०	द्वि	१४
न्मत	न्मतः ॥१॥"	३१	प्र	४
धेय	धेयः	३१	द्वि	१०
अगौणत्वात्	गौणत्वात	३६	प्र	२
[इति टीकासम्मतः पाठः]				
पक्ष	पक्के	३६	द्वि	६
स्या	स्य	३६	द्वि	१२
बाधा स्थितस्य	स्थितस्य	३८	प्र	१२
रत्र	तरत्र	३९	द्वि	८
परं स्व	परस्व	४०	प्र	८
गमा	गममात्रा	४०	द्वि	१०
[इति टीकासम्मतः]				
प्रत्यक्षम्	प्रत्यक्षं सम्भवति	४३	द्वि	२
जं नित्यं	जमनित्य	४४	प्र	१४
न गृ	न च गृ	४४	द्वि	२
ना	न च	४४	द्वि	१३
लिङ्गा	लिङ्गा	४४	द्वि	८
लिङ्गा	लिङ्गा	५०	प्र	११
नादे	नादि	५०	द्वि	५
पत्वा	पा	५२	प्र	११
नत्व	नन्व	५६	प्र	१०

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
प्रभा	प्रमा	५६	प्र	११	य मृ	यत्विषयकम्	७८	द्वि	८	नानामि	नानमि	९२	द्वि	९
त्येयं	त्येवं	५७	प्र	८	टादि	टत्वादि	८०	द्वि	१	ध्रुयषत	द्धतुल्पा	९४	द्वि	३
रे	रेऽ	६१	प्र	३	त्तियो	त्युपयोगवृत्तिप्रत्तियो	८१	प्र	१०	कांनवतारेण	काँवतारे ना	९८	प्र०	६
णवि	णावि	६६	द्वि	१४	निश्चया	निश्चया	८२	प्र	१३	घटाद्य	घटत्वाद्य	९८	द्वि	१
शेष्ये	शेषे	६८	प्र	५	वंक	वक	८२	द्वि	७	दिनेनि	देर्गिनि	९८	द्वि	८
ह्रुव्य	ह्राव्य	६८	प्र	६	[भवतां]	[भवेनां]	८२	द्वि	९	येऽर्थानु	येऽर्थैऽनु	९८	द्वि	११
कमिति	कः प्रमङ्ग इति	६९	द्वि	१२	भवतो	भवेतो	८२	द्वि	१०	तस्येव	तस्यैव	९९	प्र	५
पर्रं	परै	७०	द्वि	७	मक	मकः	८३	द्वि	११	अन्त	अनन्त	९९	द्वि	७
कभा	काभा	७०	द्वि	८	णेनापि	णमूनापि	८४	द्वि	१३	म्मन्वे	त्मन्वेन	९९	द्वि	१०
घत्ते	घन्ते	७१	प्र	१२	तस्येति	तत्प्रेत्ति	८५	प्र	९	तदृज	तदृज	९९	द्वि	१४
मिद्ध	मिद्धत	७१	द्वि	१	न्य वा	न्यं वा	८५	प्र	१०	विशेष्य	विशिष्य	१००	प्र	१
ष्याप्य	ष्याप्य	७१	द्वि	७	च्यन्त	च्यन	८६	प्र	११	त्वानि	त्वनि	१००	प्र	१३
यादि	वादि	७३	प्र	१	श्रापे	श्राक्षापे	८८	प्र	१२	नेन न	नेन	१००	द्वि	१
र्चिं	चि	७४	प्र	९	बुद्धमिद्धान्त	बुद्धमस्व	९०	त्र	११	रस्वं	रत्वं	१०२	द्वि	४
षणं	षेण	७४	प्र	१०		[टीकासम्मतः]				देव	देवं	१०६	द्वि	१३
कप्र	कसंप्र	७७	प्र	१२	कर्षस्त	कर्षंस्त	९१	द्वि	१	चैव	चैवं	१०७	द्वि	१

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
धाऽक	धाक	१०७	द्वि	१०
ध्या	ध्य	१०९	द्वि	६
मेत्त	मेत	१०९	द्वि	१४
यन्ते	यन्त वा	१११	प्र	५
नच चा	नचा	१११	प्र	६
प्राप्या	पाण्या	१११	प्र	६
मारि	मादि	१११	द्वि	९
चित्य	चैतन्य	१११	द्वि	१०
नैवा	नैत्र	११२	प्र	१३
प्राद्	ष्टादि	११३	प्र	८
योग	योगज	११३	द्वि	३
चित्तात्मनः	विनात्मन:	११३	द्वि	१३
स्यैव	स्येत्र	११४	प्र	१२
ष्टै	ष्टे	११४	द्वि	१४
शेष्य	शेष	११५	प्र	९
म्नेव	म्नैव	११६	प्र	६

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
माण प्र	माणं प्र	११६	प्र	१४
त्र	चा	११६	द्वि	५
गाप्रवृत्तः	गवृत्तेः	११९	द्वि	४
	[टीकासम्मत:]			
माधर्म्य मेवत्रा	माधर्म्य मेत्र बौधर्म्य मंत्रवा	१२०	द्वि	१८
धर्मन्त्र व	धर्मंय	१२०	द्वि	१८
	[टीका सम्मतः]			
सुस्थितायां	सुस्थितौ	१२१	प्र	२
ध्याने	घ्रने	१२४	द्वि	१
शेष्य	शेषे	१२६	द्वि	४
द	द्	१२७	प्र	९
प्रामाण्य	प्रमाण	१२७	प्र	१४
कत्व	कत्वा	१३१	प्र	३
त्वाद् व्य	त्वाद्व्य	१३३	प्र	५
विद्	विद्र	१३४	प्र	१

अशुद्ध	अशुद्ध	प्र०	पृ०	पं०
यित्वमिं	यनादि	१३४	प्र	४
रिणा	रिणो	१३४	द्वि	३
वम्भा	वद्भा	१३५	द्वि	८
रभेदे भेदे	रभेदे	१३५	द्वि	१२
पक्षा	पत्रा	१३६	प्र	७
लब्धिः	लब्धेः	१३६	द्वि	१
परन:	परः	१३६	द्वि	६
सोपि	सोपि ह्रि	१३७	प्र	१
कारंभनि	काकारंनि	१३८	प्र	२
हस्गाल	हम्यल	१३८	प्र	१२
पत्रे	पत्रे	१३८	प्र	१४
तया	ताया	१३८	द्वि	१
घटप	घटघ	१३९	प्र	१
ततिप	तद्विष	१३९	प्र	५
व्वे	त्वे	१३९	प्र	११
के धमंघ	कं धर्मं घ	१४०	द्वि	२

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
धिकां	धिका	१४१	द्वि	७	त्रैद्रि	त्रैन्द्रि	१७८	प्र	६	शेष्ययो	शेषयो	२४३	प्र	१२
न्कं नि	कत्वनि	१४२	द्वि	१३	वांशा	वांशो	१८०	द्वि	५	रक्तो	रक्ते	२४३	द्वि	४
भावात्	भानात्	१४३	प्र	८	निष्ये	निन्ये	१८५	द्वि	९	स्यम्म	स्यास्म	२४३	द्वि	५
नत्व	नमत्व	१४९	प्र	११	गर्व	मर्व	१८५	द्वि	१०	स्य	स्य समुदायत्व-			
मना	न्मनां	१५०	प्र	४	ननो	नमो	१८९	प्र	११		निषन्धनस्य च	२४५	द्वि	२
त्वद	मद	१५१	प्र	७	न्मर्कं	न्मर्कं	१९४	प्र	८	समुदायत्व	निबन्धनस्य च	२४६	प्र	२
गिकत्व	गित्व	१५२	द्वि	६	त्वमा	त्वामा	१९७	प्र	३	भेदाभेदा	भेदाभेदौ	२५२	द्वि	९
त्रभा	त्राभा	१५४	प्र	१०	चिचि:	चिधि.	२००	प्र	१	न्तका	न्तप्रका	२५७	प्र	१३
राम	रमा	१६०	प्र	७	त्राम	न्नाम	२०५	द्वि	८	त्रैव	त्रैव	२६५	द्वि	३
गिति	रनि	१६१	प्र	१०	ग्रणं	ग्रर्णान	२०७	द्वि	१०	ज्ञानु	ज्ञादनु	२६६	द्वि	१३
तया	नया	१६२	प्र	५	ज्ञाम	ज्ञा:म	२०६	प्र०	१३	रूद्ध	रूद्धं	२६८	द्वि	१२
कारण	करण	१६७	प्र	१३	ममम	मगम	२२०	प्र०	२	न्या	त्वा	२७०	द्वि	१
कायप	कार्या	१६७	प्र	१३	स्यैवे	स्येवे	२२०	द्वि	१	धान्तता	धान्मता	२७१	द्वि	७
त्रैलक्षण्या	त्रिलक्षणा	१६८	प्र	१४	दुंत्र	दुंर्वं	२२८	प्र०	३	नत्तद्धतस्य	तत्तद्धतस्य	२८१	द्वि	१२
काभा	कभा	१७०	द्वि	५	त्रृत्ति	त्रृत्तिः	२४२	द्वि	१	वृत्तिविवि	वृत्तिवि	२८६	द्वि	१४
माणा	णामा	१७४	द्वि	८	त्वामा	त्वमा	२४२	द्वि	४	नसंभि	नभिसं	२९१	प्र	१०

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
तरवं	तत्वं	२९१	द्वि	१३
भङ्गी	भङ्गी	२९२	प्र	१
स्तुत्य	स्तुत्य	३०५	प्र	७
मद्दको	मद्दशो	३०७	प्र	१३
होट	होदि	३०७	द्वि	[illegible]
मत्र	मन्त्र	३०८	प्र	१०
भति	भांति	३०९	द्वि	४
त्यप्र	त्यात्र	३१०	द्वि	५
नानन्त	नान्त	३११	द्वि	२
मानुः	माहुः	३१६	प्र	१३
स्वख्या	[illegible]	३२१	द्वि	१२
द्वार्थो	द्वाचार्यो	३२७	प्र	८
दुःखस्य वो	दुःखस्य मुखस्य	३२८	प्र	९
माणा	माण	३२८	द्वि	२
लावि	लादित्वा	३३४	द्वि	२
तद्भावेऽभावा	तद्भावेभावा	३३७	प्र	११
नार्थं	नर्थं	३३७	द्वि	६
त्वा	त्व	३३९	द्वि	८
व्यथ्थि	व्यवस्थि	३३९	द्वि	१२
नर्मी	नत्वमी	३४१	प्र	५
स्तना	स्चना	३४१	प्र	७
तर्थोपदन्तात्क्षाकेऽपि संसर्गादि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]		३४४	प्र	१३
[illegible]	[illegible]	३४७	द्वि	१
[illegible]	[illegible]	३४७	द्वि	३
[illegible]	माद्य	३४९	प्र	३
मान	[illegible]	३५०	प्र	६
[illegible]	[illegible]	३५३	प्र	१
[illegible]	[illegible]	३५३	प्र	७
[illegible]	[illegible]	३५३	प्र	८
[illegible]	[illegible]	३५४	प्र	८
त्व न स्या	त्वं स्या	३५४	प्र	८
मविभक्तिक पदयो स्तात्पर्यस्यापि तस्यै व या समभिव्या- हारा भावात्		३५४	प्र	९
नपाः	नत्वा	३५५	द्वि	११
तस्मात् व्य	तस्माद्व्य	३५७	द्वि	६
स्ताद्धि	स्तद्वि	३५९	द्वि	२
[illegible]	[illegible]	३६०	द्वि	३
शुधना	शङ्कया	३६०	द्वि	१३
भांनु	भांनु	३६५	द्वि	१०
[illegible]	नन्दन घन	३६५	द्वि	१०

इति शुद्धिपत्रं समाप्तम् ॥

मुद्रणावसरे पंक्तिपरावर्तादिना पृष्ठस्थिरी- [illegible] यदक्षरपरावर्तनादिदूषणं सीस- [illegible] च [illegible] मचि- [illegible] च वाचकेन स्वयमवधाय मार्ज्य- मित्यभ्यर्थ्यते ।

सकलतीर्थसार्वभौमतीर्थाधिराजश्रीपुण्डरीकगिरिमण्डनश्रीऋषभजिनस्तवनम् ॥

आदिजिनं वन्दे गुणसदनं, सदनन्तामलबोधं रे; बोधकतागुणविस्तृतकीर्तिं, कीर्तितपथमविरोधं रे—आदि०॥१॥
रोधरहितविस्फुरदुपयोगं, योगं दधतमभङ्गं रे; भङ्गनयव्रजपेशलवाचं, वाचंयमसुखसङ्गं रे—आदि० ॥ २ ॥
सङ्गतपदशुचिवचनतरङ्गं, रङ्गं जगति ददानं रे; दानसुरद्रुममञ्जुलहृदयं, हृदयङ्गमगुणभानं रे—आदि० ॥ ३ ॥
भानन्दितसुरवरपुन्नागं, नागरमानसहंसं रे; हंसगतिं पञ्चमगतिवासं, वासवविहिताशंसं रे—आदि० ॥ ४ ॥
शंसन्तं नयवचनमनवमं, नवमङ्गलदातारं रे; तारस्वरमघघनपवमानं, मानसुभटजेतारं रे—आदि० ॥ ५ ॥

[वसन्ततिलका वृ.]

इत्थं स्तुतः प्रथमतीर्थपतिः प्रमोदा-च्छ्रीमद्यशोविजयवाचकपुङ्गवेन ॥
श्रीपुण्डरीकगिरिराजविराजमानो, मानोन्नतानि वितनोतु सतां सुखानि ॥ ६ ॥

॥६२॥

॥ ॐ ॥

॥ आप्तमीमांसा—तद्भाष्यसंवलिताष्टसहस्रीवृत्तिसमन्विताष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे—

॥ द्वितीयः परिच्छेदः ॥

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥ १ ॥

अद्वैतैकान्तपक्षेपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनमभिहितमाचार्यैः केवलमद्वैतैकान्ताभ्युपगमात्, न तावतानेकान्तसिद्धिरिति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । न हि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत् । नन्विदमयुक्तमेव संलक्ष्यते । "अद्वैतं ह्यैकात्म्यं, द्वाभ्यामितं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतम्" इति व्याख्यानात् । तस्यैकान्तस्तदेवेत्यभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञाभ्युपगममात्रम् । तस्मिन्नपि दृष्टः साक्षात्कृतोऽनुमितश्च कारकाणां कर्त्रादीनां क्रियायाश्च स्थानगमनादिरूपाया निष्परिस्पन्दस्वभावायाः परिस्पन्दरूपायाश्च भेदः प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुध्यते, तदभ्युपगममात्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धक्रियाकारकभेदप्रतिरोधित्वासंभवात् क्षणिकत्वाभ्युपगमवदिति तात्पर्यव्याख्यानमकलङ्कदेवानाम् ॥ न हि कारकभेदः प्रत्यक्षादिनाऽद्वैतेपि विरुध्यते, पादपस्यैकस्य युगपत्क्रमेण वा कर्त्राद्यनेककारकात्मकत्वप्रतीतेः ? क्रियानानात्वमप्येकस्य तथैव न प्रतिषिध्यते, देशाद्यपेक्षया गमनागमनयोः स्थानशयनयोर्वा सकृदपि निश्च-

यात् । तद्वदेकमपि परब्रह्म सकलक्रियाकारकभेदात्मकतया न विरोधमध्यास्ते, तथा प्रतिभासवैचित्र्येऽप्येकत्वाव्याघाताच्चित्रज्ञानवदित्यपर, सोऽप्येवं प्रष्टव्यः । क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः किमजन्मा जन्मवान्वा ? न तावदजन्मा, कादाचित्कत्वात्, यस्त्वजन्मा स न कादाचित्को यथात्मा, कादाचित्कश्चायं, तस्मान्नाजन्मेति बाधकसद्भावात् । जन्मवांश्चेत्, कुतो जायते इति वक्तव्यम् ? परमपुरुषादेवेति चेत्, कथमद्वैतसिद्धिः ? कारणकार्ययोर्द्वैतप्रसिद्धेः । क्रियादिकार्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वादद्वैतमेवेति चेत्, कथं स्वस्मादेव तस्य जन्म युज्यते ? कथं च कार्यादभिन्नस्य ब्रह्मणोऽकार्यत्वम् ? यतो नित्यत्वं स्यात् । परस्माज्जायते इति चेत्, द्वैतसिद्धिः, पुरुषात्परस्य क्रियाकारकभेदहेतोरभ्युपगमात् । परस्यानाद्यविद्यारूपत्वादकिंचिद्रूपस्य द्वितीयत्वायोगान्न द्वैतसिद्धिरिति चेत्, कथमकिंचिद्रूपस्य कारणत्वम् ? कार्यस्याप्यकिंचिद्रूपत्वाददोष इति चेत्, किमिदानीं खरविषाणादश्वविषाणस्य जन्मास्ति ?, नेति चेत्, कथमविद्यात्मनः कारणादविद्यात्मककार्यस्योत्पत्तिः ? माहेन्द्रादिषु मायामयादेव पावकादेस्तथाविधधूमादिजन्मदर्शनाददोष इति चेत्, न, तत्रापि पावकधूमयोः सर्वथा मायामयत्वासिद्धेः । न हि तत्प्रतिभासयोर्मायारूपत्वम्, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । नापि बहिःसद्द्रव्यादिरूपयोर्मायास्वभावत्वम्, व्यभिचारित्वाभावात् । तद्विशेषाकारयोर्मायारूपत्वमिति चेत्, न, तद्विविक्तवस्तुव्यतिरेकेण मायायाः संभवाभावात् । तथा क्रियाकारकभेदप्रपञ्चाकारविविक्तपरब्रह्मव्यतिरेकेणाविद्यायाः संभवाभावे कथं वेदान्तवादिनामविद्यातः कार्यस्याविद्यात्मनो जनने स्वस्मादेव स्वस्य जन्म न भवेत् ? तत्र प्रमाणविरुद्धं न शक्यं व्यवस्थापयितुं नैरात्म्यवत्, क्रियाकारकभेदोऽयं न स्वतो जायते परतो वा, अपि तु जायते एवेति सुषुप्तायते, प्रतिपत्त्युपायाभावात्, दृष्टेष्टविरोधप्रसङ्गात् । न हि किंचित्स्वस्मात् परस्माच्चाजायमानं जन्मवदेव दृष्टमिष्टं वा, येन तथा प्रतिपत्त्युपायरहितं ब्रुवाणः सुषुप्तमिवात्मानं नाचरेत् । तस्माद्दृष्टविरुद्धं तन्न समञ्जसं यथा नैरात्म्यम् । विरुध्यते च तथैवाद्वैतं क्रियाकारक-

भेदप्रत्यक्षादिभिः । एकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः सम्भवात् स्वप्नसंवेदनवत्, न कथमद्वैतं विरुद्धमिति चेत्, न, स्वप्नसंवेदनस्याप्यनेकत्वे तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात् । तत्रान्यदेव हि क्रियाविशेषसंवेदनं स्ववासनोत्थम्, अन्यदेव च कारकविशेषसंवेदनं प्रत्यक्षमनुमानादि वा, न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसङ्गात्, जाग्रद्दशायामिव स्वप्नादिदशायामपि पुंसोऽनेकशक्त्यात्मकस्य क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः । कस्यचिदेकरूपस्य पुरुषादेरनेकान्तवादिनामनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासालम्बनत्वसिद्धेर्विरुद्धमेतत्प्रत्यक्षादिभिरद्वैतम् । न हि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादिप्रत्यक्षं भ्रान्तम्, येनाद्वैतस्य विरोधकं न स्यात् । सर्वत्र क्रियाकारकादिरूपं कथंचिद्भिन्नम्, भिन्नप्रतिभासित्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानं वा नाना जीवा इत्यादिप्रवचनं वा न विभ्रमाक्रान्तम्, येनाद्वैतं न विरुन्ध्यात् । स्यादाकूतं 'विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्' इति, तदसत् । प्रकृतानुमाने पक्षहेतुदृष्टान्तभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्, तन्मिथ्यात्वे तस्मादनुमानात्साध्याप्रसिद्धेः । पराभ्युपगमात्पक्षादिभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे न दोष इति चेत्, न, स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव तद्भेदप्रतिभासेन व्यभिचार इति न क्वचिद्व्यवतिष्ठेत । कश्चिदाह 'ब्रह्माद्वैतस्य संविन्मात्रस्य स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकत्वं नास्ति तेषां भ्रान्तत्वात्, ततो न तद्विरोधकत्वम्' इति, तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात् द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात् । न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, परमार्थतस्तदभावापत्तेः, प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासमात्रविशेषस्यापि सत्यत्वसिद्धेरनेकान्तव्यवस्थानात् । तदेकान्ततः पुरुषाद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धमेव ॥ २४ ॥

यत्तीर्थे विमले क्रियोज्ज्वलगुणैः संसेविते साधुभिः, गच्छः स्वच्छतरस्तपाह्वय इह प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम् ।

समाचार्येऽपि चारुनामचकलत्त्रैव मैत्रीगृहे, तं श्रीवीरजिनेन्द्रमप्रतिहतानन्दाय वन्दामहे ॥ १ ॥
सन्नयोत्प्रेक्षयाऽकम्प्र-सम्प्रदायाश्रयान्मम ॥ व्याख्यातुर्जैनतन्त्राणां विघ्नं हरतु भारती ॥ २ ॥

अद्वैतैकान्तनिरासपूर्वमेकत्वपृथक्त्वसप्तभङ्गीसाधनायोपक्रमते—अद्वैतैकान्तपक्षेऽपीत्यादिना ॥ नन्विदमित्यादिभाष्यतात्पर्यार्थो वृत्तिकृतैव प्रकाश्यते, तेन ननुरक्षमार्थो, न तु पूर्वपक्षार्थः, तदुपमर्दाभावादिति मन्तव्यम् । इदमद्वैतैकान्तवाद्युक्तम्, तस्मिन्नपि व्याख्यानाद्वैतस्वीकारेऽपि, क्रियाकारकभेदप्रतिभासो बाधितो भविष्यतीत्यत आह 'तदभ्युपगममात्रस्येति' अद्वैताभ्युपगममात्रान्न तद्बाधोऽन्यच्च बाधकं न पश्याम इत्यबाधितक्रियाकारकभेदप्रतिभासादद्वैतपक्षो मिथ्यैवेति भावः । पारमार्थिकेऽद्वैते औपाधिकः क्रियाकारकसम्बन्धभेदो न विरोधमावहतीत्याशङ्कते—न हीत्यादिना, अपरोऽद्वैतवादी, परमार्थतो भेदाभावे प्रपञ्चब्रह्मणोः कार्यकारणभावो दुर्घट इति वक्तुमुपक्रमते—सोऽप्येवं प्रष्टव्य इत्यादिना ॥ कथञ्चेति, न च कार्यं ब्रह्मैव ब्रह्म न कार्यदशायां कार्यमन्यदा चाकार्यमित्येवमभेदेऽपि सुवर्णतद्विकारवत् कार्यकारणभाव इति शङ्कनीयम् । एवं सति भेदाभेदवादप्रसङ्गात्, कार्यदशायामपि तदभिन्नत्वे कूटस्थत्वव्याघाताच्च, तर्हि प्रपञ्चोऽविद्याजन्मास्त्वित्याशङ्क्य निषेधति—परस्मादित्यादिना ॥ 'अकिञ्चिद्रूपस्येति' अविद्याया असत्याया द्वितीयायाः कारणभूताया अभ्युपगमेऽपि सदद्वैताव्याकोपादित्यर्थः । माहेन्द्रादिष्विति उड्डीशादिग्रन्थप्रसिद्धेन्द्रजालादिकर्मसु, तद्विशेषाकारयोरिति अतद्देशस्थयोरपि तद्देशत्वेन प्रतीयमानयोरित्यर्थः । 'तद्विविक्तेति' अन्यदेशे तत्सत्त्वान्न सर्वथा मायामयत्वमिति भावः । प्रतिपत्त्युपायाभावादिति, न चाकस्मादेवोत्पत्तेरयमदोषः, तत्पक्षस्य "हेतु-

भूतिनिषेधो न ” इत्यादिना पञ्चभिर्विकल्पैरुदयनादिभिर्दूषितत्वात्, न चानुपाख्यादुत्पत्तिपक्षोऽदूष्यः, तादृशादेवाविद्याविलासात् प्रपञ्चोत्पत्त्यभ्युपगमादिति वाच्यम्, अविद्यातत्कार्यस्यानुपाख्यत्वे तन्निवृत्तेरनात्मस्वरूपत्वेनानिर्मोक्षापातात्, अतिरिक्तायास्तस्यास्तत्सम्बन्धस्य चात्मन्यभ्युपगमे तु मुक्तावपि द्वैतप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत्। एकस्मिन्नपीति यथैकस्मिन् स्वप्नज्ञाने गजतुरगादीनामनेकेषां प्रतिभासनं तथा परब्रह्मण्येकस्मिन् घटपटादिभेदानां भानमद्वैतपक्षेऽप्यविरुद्धमिति भावः। एकत्वे सर्वथैकत्वे, तद्विरोधस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिविरोधस्य, अनेकशक्त्यात्मकस्येति अन्यथा जाग्रत्स्वप्नविशेषस्य स्वप्नावान्तरविशेषस्य चानुपपत्तेरिति भावः। न च जाग्रत्स्वप्नारम्भकाज्ञानविशेषात् स्वप्नविशेषारम्भकतद्विशेषाच्च तदुपपत्तिर्मूलाज्ञाननिष्ठशक्तिविशेषाद्वेति वाच्यम्, तस्य कर्मतच्छक्त्यतिरिक्तत्वे मानाभावात्, तत्कार्यक्रियाकारकप्रतिभासभेदानामन्तःकरणधर्माणामात्मनि भानाभ्युपगमेऽन्यथाख्यात्यापत्तेः, आत्मनिष्ठानामनिर्वचनीयानां तेषामभ्युपगमेऽन्तःकरणात्माधारभेदेन सत्येतरविवेकस्य विना शपथं दुष्करत्वात्, त्रिविधप्रतिभासादितन्निष्ठानन्तधर्मादिकल्पनायां महागौरवेणात्मनिष्ठानामेव तेषां परिकल्पनौचित्यात्. आत्मनि कौटस्थ्यस्य ब्रह्माद्वैतस्य च विलूनशीर्णत्वादिति दिग्। अथैकस्य निरंशस्यात्माकाशादेरनेककारकाद्यालम्बनत्वं यथा तथा ब्रह्मणोऽपि भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–‘ कस्यचिदित्यादि ’ ॥ तथा चानेकान्तावलम्बनं विनात्माकाशादेरप्यनेककारकालम्बनत्वमयुक्तमिति न तद्दृष्टान्तेनाद्वैताविरोध इति सिद्धम्। क्रियाकारकभेदप्रतिभासस्य मिथ्यात्वात्तेन नाद्वैतधीविरोध इत्याशङ्क्य निराकरोति–स्यादाकूतमित्यादिना ॥ पराभ्युपगमादिति एतं हि तत्र प्रातिभासिकमिथ्यात्वं सिद्धं साध्यते च पारमार्थिकं मिथ्यात्वमिति

न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ 'स एवेति' विशेषेऽनुगमाभावेन सामान्यत एव मिथ्यात्वस्य साध्यत्वादिति भावः। न च तत्त्वज्ञाननाश्यतावच्छेदको धर्मः परमार्थतो मिथ्यात्वमद्वैतसिद्धेः पूर्वं सिद्ध इति तत्साध्यत्वप्रत्याशापि दत्तपदेति स्मर्त्तव्यम्। अद्वैतधीरेव महावाक्यजनितत्वेन निश्चितप्रामाण्यत्वात् क्रियाकारकभेदप्रतिभासविरोधिनी, न तु स तद्विरोधी, सन्दिग्धप्रामाण्यकत्वेन दुर्बलत्वादिति कस्यचिन्मतमुत्थापयति—कश्चिदाहेत्यादिना ॥ तथापि बाध्यबाधकबलादेव द्वैतसिद्धिः स्यादिति समाधत्ते—तदपि न साधीय इत्यादिना, एतेनात्मविषयकापरोक्षभ्रमनिवर्त्तकत्वेनात्माद्वैतापरोक्षज्ञानमेव बलवत्, तच्च सकलभेदप्रपञ्चनाशकमिति तत्सिद्धौ द्वैतबाध इत्यप्यपास्तम्। आत्मसाक्षात्कारेण देहादावात्माभेदभ्रमनिरासे तद्भेदस्यैव परमार्थतः सिद्धेः। निर्विकल्पकस्य भ्रमाविरोधित्वेन सविकल्पात्मसाक्षात्काराश्रयणे ब्रह्मणो निर्द्धर्मकत्वव्याघाताच्च। किञ्च महावाक्यजन्यापरोक्षवृत्तिविषयतैव ब्रह्मणो दुर्घटा निर्द्धर्मकत्वहानेरिति, कथं तदद्वैतधियो बलवत्त्वम्, एतेन मिथ्याज्ञानवासनानाशकत्वं तत्त्वज्ञानस्य वैजात्येनैव, न तु तत्र समानप्रकारकत्वमपि तन्त्रमित्युक्तावपि न क्षतिरिति दिग् ॥ २४ ॥

तथास्मिन्नद्वैतैकान्ते दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः ॥

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्। विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

लौकिकं वैदिकं च कर्मेति वा कुशलमकुशलं च कर्मानुष्ठानमिति वा पुण्यं पापं च कर्मेति वा कर्मद्वैतं न स्यात्। तदभावादिहामुत्र च श्रेयःप्रत्यवायलक्षणं फलद्वैतं न स्यात्, कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्तेः। तत एवेहलोकपरलोकलक्षणं लोकद्वैतं न स्यात्। कर्मादिद्वैतस्यानाद्यविद्योपदर्शितत्वाददोष इति चेत्, न, धर्माधर्मद्वैतस्याभावे विद्याविद्याद्वयस्यासंभवाद्बन्धमोक्षद्वयवत्। पूर्वाविद्योदयादेव

विद्याविद्याद्वयं बन्धमोक्षद्वयं च, परमार्थतस्तदसंभवात् " न बन्धोऽस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता " इति प्रवचनात् प्रतिभासमात्रस्य परब्रह्मण एव तात्त्विकत्वादिति चेत्, न, नैरात्म्यस्यापि तात्त्विकत्वापत्तेस्तत्कल्पनाया नैष्फल्याविशेषात्। सर्वो हि प्रमाणप्रत्यनीकं स्वमनीषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा किंचित्फलमुद्दिश्यारचयेत्, अन्यथा तत्प्रति प्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः। तथाहि। पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविभ्रेतरबन्धमोक्षविशेषरहितं प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। यथा नैरात्म्यदर्शनम्। तथा च प्रस्तुतम्। तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। इति न तज्जिज्ञासापि श्रेयसी॥ २५॥

'नैरात्म्यस्यापीति' बौद्धदृष्ट्या तत्रापि स्वागमजन्यतत्त्वज्ञानविषयत्वाविशेषात्, नैष्फल्याविशेषादिति व्यवहारबाधदूषणस्य भूषणताया उभयमतेऽपि सुवचत्वादिति तात्पर्यम्। 'यथा नैरात्म्यदर्शनमिति' न च प्रमाणगवेषणया प्रतिभासस्यावश्योपस्थितत्वात्तद्भेदस्योपाधिभिरेवोपपत्तेस्तस्य प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वकल्पने गौरवान्नित्यचिदात्मसिद्धिरेव नैरात्म्यसिद्धिमुपहन्तुं प्रगल्भत इति मधुसूदनसरस्वत्युक्तमपि क्षोदक्षमम्, प्रामाणिकस्य प्रतिभासस्य ध्वंसप्रागभावाप्रतियोगित्वकल्पनापेक्षया तत्प्रतियोगिताकल्पन एव लाघवात्, अज्ञातासत्त्वस्वीकारे गृहाद्बहिर्निर्गतस्य पुत्राद्यभावशङ्कयोरःशिरस्ताडनादिप्रसङ्गस्य च नैरात्म्यवादे बौद्धस्येव दृष्टिसृष्टिवादे वेदान्तिनोऽपि वज्रलेपत्वात्। वस्तुतः स्वाग्निकदण्डघटादिकार्यकारणभावतुल्यत्वात् यागस्वर्गादिकार्यकारणभावानां वैदिककर्ममात्रेऽनाश्वासाद्वेदान्तधर्मश्रद्धावतां न कदापि स्वोरस्ताडनाद्विरतिः। अथेदृग्दूषणास्पदं दृष्टिसृष्टिवादं त्यक्त्वा व्यवहारवादं स्वीकुर्वन् वेदान्ती निर्दोषो भविष्यतीति चेत्, मैवम्, अव्यवहारिणस्तस्य केनापि व्यवहारिपङ्क्तावप्रवेशनात्, भाट्टस्तत्र तं प्रवेशयिष्यतीति चेत्, न, कर्मविधिशे-

पत्वाद्वेदान्तानामप्रामाण्यं वदता तेन तस्य दूरत एव वर्जनात् । आश्रयतां वा भाट्टमतं बलाद् व्यवहारवादे वेदान्ती, तथापि स्वर्गनरकादेर्व्यावहारिकपदार्थस्याविद्याजन्यस्योपगमे एकस्याविद्यानाशे स्वर्गनरकाद्युच्छेदान्निर्दुःखसुखं जगत् स्यात्, तत्तदविद्याजन्यतत्तत्स्वर्गनरकाद्यभ्युपगमे चापेक्षिकत्वेन तस्य प्रातिभासिकत्वमागतं, न व्यावहारिकत्वम्, मूलाज्ञानजन्यावत्पदार्थनाशः सर्वमुक्तावेव, तद्विलासजन्यस्त्वन्यदापीत्यदोष इत्यपि न क्षोदक्षमम् । एवं सत्यध्यारोपबाधक्रमेण प्रतिपुरुषं मोक्षोपायनानात्वेन प्रतिपुरुषं जगत्सृष्टिभेदापत्तेरसमाधानात्, कथं चावस्थितव्यावहारिकपदार्थाभ्युपगमे तं पारमार्थिकत्वेन पश्यतां योगिनां नात्यन्तभ्रान्तत्वम्, योगिनः प्रत्यविद्याशक्तिविशेषेण तत्र प्रतिभाससत्त्वमेव जन्यत इति चेत्, न, क्षणिकवादिवैलक्षण्ये तत्र तदेन्यस्य वाच्यत्वात्, तथाऽप्यन्यं प्रति व्यावहारिके उभयप्रतिभासप्रसङ्गाच्च, तस्मादापेक्षिकसत्त्वं ब्रुवाणो ज्ञानमात्रमभ्युपगम्य भेदमात्रमपह्नुवानो वेदान्ती माध्यमिकं नातिशयीनेति सुनिश्चिता नः प्रतीतिः ॥ २५ ॥

स्यान्मतं " न ब्रह्माद्वैतं प्रमाणप्रत्यनीकत्वात् स्वमनीषिकाभिरर्चितं, तस्यानुमानादागमाद्वा प्रमाणात्प्रसिद्धेः । तथा हि । यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव । यथा प्रतिभासस्वरूपम । प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम् । इति हेतोः परब्रह्मसिद्धिः । न चायमसिद्धः, सुखं प्रतिभासते रूपं प्रतिभासते इति सर्वत्र प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेरन्यथा सद्भावासिद्धेः । अप्रतिभासमानस्यापि सद्भावे सर्वस्य मनोरथसिद्धिप्रसङ्गान्न किंचिदसत्स्यात् । अथ प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्यान्तर्बहिर्वोपचारात्प्रतिभाससमानाधिकरणत्वव्यवस्थितेः प्रतिभासस्वरूपस्य मुख्यतोपपत्तेरसिद्धो हेतुरिति मतम्, तदप्ययमस्यक्, प्रतिभास्यप्रतिभासयोस्तद्भावानुपपत्तेः । प्रतिभासस्य हेतुत्वात्प्रतिभास्योर्थ इति चेत्, न, प्रतिभासमात्रस्याहेतुकत्वात्कस्यचित्तद्धेतुत्वायोगात् । तदहेतुकत्वम्,

अकादाचित्कत्वात्, अन्यथा कदाचित्तदभावप्रसङ्गात्। प्रतिभासालम्बनत्वात्प्रतिभास्योर्थो भवतीति चेत्, कुतस्तस्य प्रतिभासालम्बनत्वम्? प्रतिभास्यत्वादिति चेत्, परस्पराश्रयणम्। प्रतिभासालम्बनत्वयोग्यत्वादिति चेत्, तर्हि प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभास्यं, तस्यैव प्रतिभासालम्बनत्वोपपत्तेः, सर्वत्र प्रतिभासस्य स्वरूपालम्बनत्वात्। तथा च कथं विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं, यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्। तत एव नानैकान्तिको, विरुद्धो वा, प्रतिभासान्तरप्रविष्टस्य कस्यचिदपि प्रतिभाससमानाधिकरणत्वायोगाद्धेतोर्विपक्षवृत्त्यभावात्। नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः शङ्कनीया, सर्वस्य धर्मिणः परब्रह्मण एवाश्रयत्वात् 'ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते। प्रकृतस्यात्मकात्स्न्र्यस्य वै-शब्दः स्मृतये मतः॥१॥' इति श्रुतिव्याख्यानात्, ततोऽनवद्याद्धेतोर्भवत्येवाद्वैतसिद्धिः। तथोपनिषद्वचनादपि 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसद्भावात्, ततस्तद्भ्रान्तिनिराकरणात्" इति। तदेतत्प्रतिविधित्सवः प्राहुः—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥२६॥

ननु च प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषाद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादात्म्योपगमात्। न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्तद्भावविरोधः, सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथाभावविरोधानुषङ्गात्। कल्पनाभेदादिह साध्यसाधनधर्मभेदे प्रकृतानुमानेपि कथमविद्योदयोपकल्पितहेतुसाध्ययोस्तद्भावविघातः, सर्वथा विशेषाभावादिति चेत्, न, शब्दादौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथंचित्तादात्म्यात् सर्वथा तादात्म्यासिद्धेः, तत्सिद्धौ साध्यसाधनभावविरोधात्। न चासिद्धमुदाहरणं नाम, अतिप्रसङ्गात्। ततो न हेतोरद्वैतसिद्धिः। हेतुना विनैवागममात्रात्तत्सिद्धिरिति चेत्, न, अद्वैततदागमयोर्द्वैतप्रसङ्गात्। यदि पुनरागमोप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुपज्यते इति मतम्, "उर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि तस्य

पर्वाणि यस्तं वेत्ति स वेदवित्' इति वचनात्, तदा ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य सिद्धत्वविरोधात् सिद्धासिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः। तदेवं यदसिद्धं तन्न हितेप्सुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम्, यथा शून्यतैकान्तः, तथा चासिद्धमद्वैतमिति। अत्र नासिद्धो हेतुः, पुरुषाद्वैतस्यानुमानादागमाद्वा सिद्धत्वायोगात्। प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानात्तत्सिद्धिरिति चेत्, न, तस्य विरुद्धत्वात्, प्रतिभासतद्विषयाभिमतयोः कथंचिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वासाधनात् स्वविषयस्य। न हि शुक्लः पट इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति, सर्वथाभेदवत्, प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते इत्यत्रापि न प्रतिभासतत्स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति, प्रतिभासस्य साधारणासाधारणधर्माधिकरणस्य स्वरूपादसाधारणधर्मात्कथंचिद्भेदप्रसिद्धेरन्यथा तत्सामानाधिकरण्यायोगात्, सुवर्णं सुवर्णमिति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा, तदेवं यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथंचिदर्थान्तरं, यथा प्रतिभासस्वरूपं, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनाद्धेतोर्नाद्वैतसिद्धिः।'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यान्मायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य प्रसिद्धस्याप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्, सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत्। क्वचिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्वऽनात्माभिमतेषु च विधानाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदेपि तदागमात्तद्व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः? आम्नायस्य परब्रह्मस्वभावत्वेपि न ततस्तदद्वैतसिद्धिः, स्वभावस्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः। स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधनमिति चेत्, नैतदपि सारम्, निगदितपक्षदोषोपनिपातात्। तथा हि। तत्सिद्धिर्यदि साधनात्साध्यसाधनयोस्तर्हि द्वैतं स्यात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धिवद्द्वैतसिद्धिः कथं न स्यात्? स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य सिध्येत्। न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोऽनन्यदेव, साधनत्वविरोधात्, अनुमानागमवत्साध्यस्यैव

साधनत्वापत्तेः, प्रकृतानुमानागमयोरिव स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधनस्याभावात्, स्वतः सिद्धं ब्रह्मेत्यभ्युपगमे द्वैतमपि स्वतः सकलसाधनाभावेऽपि किं न सिध्येत ? तत्त्वोपप्लवमात्रं वा ? नैरात्म्यं वा ? स्वाभिलापमात्राविशेषात्, सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं बृहदारण्यकवार्तिके "आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम् । ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥ १ ॥ आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात् । पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥ २ ॥" इति, मोहस्याविद्यारूपस्याकिंचिद्रूपत्वे पारोक्ष्यहेतुत्वाघटनात् सद्वितीयत्वदर्शननिबन्धनत्वासंभवात्, तस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतसिद्धिप्रसक्तेस्तत एव पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधनात्, पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमित्येतस्यापि द्वैतसाधनत्वात्, शास्त्रपुमर्थयोर्भेदाभावे साध्यसाधनभावासंभवात् ॥ २६ ॥

तदभावानुपपत्तेः प्रतिभासस्वरूपाभावानुपपत्तेः, '**नहीति**' प्रतिभासविषयताया अभेदनियतत्वादिति भावः । **यदि पुनरागमोऽपीति** मृन्मयगजभानेऽपि मृद्भानवत् सर्वत्र ब्रह्मभानेन तद्विषयत्वेनैवागमज्ञानस्यापि सत्यत्वादिति भावः । '**ऊर्ध्वमूलमिति**' ऊर्ध्वं शुद्धबुद्धस्वरूपावस्था मूलं यस्य स तथा तम्, अधोऽविद्याजन्यप्रपञ्चविलासावस्था शाखा यस्य स तथा तम्, **असिद्धत्वं स्यादिति** विशिष्याज्ञानादित्यर्थः, सामान्यज्ञानं तु सन्देहाविरोधि, सर्वं ज्ञानं शब्दब्रह्मविषयं वेति सन्देहस्याप्यन्ततः सम्भवादिति स्मर्त्तव्यम्, स्वविषयस्य प्रतिभास्यस्य, **सर्वथा भेदवत्** सर्वथा भेदपक्ष इव । **कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेरिति** स्वरूपपदस्य विशेषपरत्वादिति भावः । **साध्यस्यैव साधनत्वापत्तेर्ब्रह्मान्तर्भावात्**, **साधनस्य** पृथक्साधनत्वेन विवक्षितस्याभावादित्यन्वयः । **किं न सिद्ध्येदिति**, श्रुतेरद्वैतविषयिण्या इव द्वैतविषयिण्या अपि बहुश उपलम्भादित्यर्थः । **स्वस्वाभ्युपगममात्रेण** चान्योऽप्यतिप्रसङ्गो दुर्निवार इत्याह–**तत्त्वोपप्लवमात्रं वेत्यादिना, आत्मापीति**

(स) तदिदं ब्रह्मापि तत्त्वेन वस्तुतोऽपरोक्षमपि मोहादज्ञानात्, पारोक्ष्यदूषितं दोषप्रयोज्यपारोक्ष्याभिलापाक्रान्तम्, ईक्ष्यत इत्युत्तरक्रियान्वयः। तथैव स प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मापि ब्रह्माभिन्नोऽपि, मोहादज्ञानात्, सद्वितीयतया भेदाक्रान्ततयेक्ष्यते। आत्मा ब्रह्मेति वेदान्तफलीभूततत्त्वज्ञाने सति ब्रह्मण्यध्यस्तयोः पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधने सति, शास्त्रं पुमर्थे निश्चितं निश्चितपुरुषार्थं जातम्, इति हेतोः, अज्ञाननिवृत्त्यैव कण्ठगतचामीकरोपलम्भन्यायेनोद्देश्यसिद्धेरित्यर्थः ॥२६॥

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना। संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

कथं पुनर्हेतुना विनाऽहेतुरिवाद्वैतं द्वैताद्विना न सिद्ध्यतीति निश्चितमिति चेत्, उच्यते, अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवदित्यनुमानात्। अनेकान्तशब्देन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्यापि सम्यगेकान्तेन विनानुपपद्यमानत्वात्। एवममायादिशब्देनापि न व्यभिचारः, तस्य मायादिनाऽविनाभावित्वात्। तथा नञ्पूर्वग्रहणात् केवलेन शब्देन व्यभिचारो निरस्तः, पदांशेनाखण्डग्रहणात् अखरविषाणादिशब्देन च न। ततो नात्र किंचिदतिप्रसज्यते, तादृशो नञो वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात्। न ह्यखण्डपदविशेषणस्य नञः क्वचिदवस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वमुपलब्धं, पदान्तरोपहितपदविशेषणस्यैव तथा प्रतीतेरखरविषाणमित्यादिवत्। अत एव सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते संज्ञिनः प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः। न हि खरविषाणं संज्ञि किंचिदस्ति, येन तस्यापि सत एव कथंचित् प्रतिषेधः प्रसज्यते। ननु पुरुषाद्वैते परमार्थेन, प्रतिषेधव्यवहारासंभवात् परोपगतस्य द्वैतस्य परप्रसिद्धन्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते, न च स्वपरविभागोपि तात्त्विकः, तस्याविद्याविलासाश्रयत्वात्, ततो न कश्चिद्दोष इति चेत्, न, अविद्याया एव व्यवस्था-

पयितुमशक्तेः । ‘ ननु च न वस्तुवृत्तमपेक्ष्याऽविद्या व्यवस्थाप्यते, तस्यामवस्तुभूतायां प्रमाणव्यापारायोगात् ; परब्रह्मण्यविद्यावति अविद्यारहिते च विद्याया विरोधादानर्थक्याच्च नाविद्याऽस्येत्यप्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पनात्, ब्रह्माधारायास्त्वविद्यायाः कथमप्ययोगात् । यतश्चानुभवादविद्यास्मीति ब्रह्मानुभूतिमत्त्वत एव प्रमाणोत्थविज्ञानबाधिता सा, तद्बाधने तस्या अप्यात्मत्वप्रसङ्गात् । तथा ब्रह्मण्यविज्ञाते तदविद्याव्यवस्थानुपपत्तेर्बाधासद्भावात् विज्ञातेऽपि सुतरां तद्बाधनादव्यवस्थानं, अबाधिताया बुद्धेर्मृषात्वायोगात् । न चाविद्यावान्नरः कथंचिदविद्यां निरूपयितुमीशश्चन्द्रद्वयादिभ्रान्तिमिव जातितैमिरिक । तदुक्तं “ ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम् । निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥ १ ॥ नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पते । ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥ २ ॥ यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत् । अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साप्यन्यथात्मता ॥ ३ ॥ ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते । नितरां चापि विज्ञाते मृषा धीर्नास्त्यबाधिता ॥ ४ ॥ अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः । वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते ॥ ५ ॥ वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि युज्यते । अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघाताऽसहिष्णुतः ॥ ६ ॥ अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् । मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ ७ ॥ ” न चैवमप्रामाणिकायामविद्यायां कल्प्यमानायां कश्चिद्दोषः, तस्याः संसारिणः स्वानुभवाश्रयत्वात्, द्वैतवादिन एव दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य प्रमाणबाधितस्य कल्पनायामनेकविधायां बहुविधदोषानुषङ्गात् । तदप्युक्तं “ त्वत्पक्षे बहु कल्प्यं स्यात् सर्वं मानविरोधि च । कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया ” ॥ १ ॥ इति कश्चित्, सोऽपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात् । न हि प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते । न च प्रमाणानामविद्याविषयत्वमयुक्तम्, विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद्वस्तुत्वात् । तथा विद्यात्वप्रसङ्ग

इति चेत्, न, किंचिदनिष्टम्, यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्। बहिःप्रमेयापेक्षया तु कस्यचित्संवेदनस्याविद्यात्वं बाधकप्रमाणावसेयं कथमप्रमाणविषयः? तद्बाधकं पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव प्रमाणमनुभूयते इति वस्तुवृत्तमपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया। न च कथंचिद्विद्यावतोऽप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्यावत्त्वं विरुध्यते, यतोऽयं महान् दोषः स्यात्। नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य भावात्। न चाविद्यायामेव स्थित्वाऽस्येयमविद्येति कल्प्यते, सर्वस्य विद्यावस्थायामेवाविद्येतरविभागनिश्चयात्, स्वप्नाद्यविद्यादशायां तदभावात्। ततश्चात्मद्वारे(रे)वाविद्या युक्तिमती। यस्मादनुभवादविद्यावानहमस्मीत्यनुभववानात्मा तत एव कथंचित् प्रमाणोऽन्यर्थविज्ञानादबाधिता तदविद्यापि सैवेत्यात्मना, विरोधाभावात्। न चात्मनि कथंचिदविदितेऽप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाऽविरोधात्। कथंचिद्विज्ञातेपि वाऽविद्येति नितरां घटते, विदितात्मन एव तद्बाधकत्वविनिश्चितेः कथंचिद्बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः। न च कथंचिदविद्यावानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुमक्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहारविलोपात्। यदपि प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारणलक्षणमविद्यायास्तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यम्। इति न प्रमाणातिक्रान्ता काचिदविद्या नाम यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुध्येत, द्वैतप्रतिषेधो वा द्वैताविनाभावी न भवेत्। तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तम्, विज्ञानाद्यद्वैतवत्तस्यापि निगदितदोषविषयत्वसिद्धेः, प्रक्रियामात्रभेदात् तद्व्यवस्थानुपपत्तेः, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात् स्वतःसिद्ध्ययोगादत्यन्तराभावाच्च। इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या संकथया, सर्वथैवाद्वैतस्य निराकरणात् ॥ ७५ ॥

'स्वाभिधेयेति' स्वार्थप्रतियोगिप्रमाधीननिरूपण इत्यर्थः। केवलेन शब्देन घटादिना, पदांशेनेत्यादि, अखण्डपदग्रहणाच्च खरविषाणादिशब्दे नागौरनश्व इत्यादावगनश्च इत्यादिपदांशे च न व्यभिचारः, एकत्र विशेषणस्यान्यत्र च

विशेष्यस्याभावादित्यर्थः, ' परब्रह्मणीत्यादि ' अविद्यात्वेति विद्याभावेनैव विद्याया विरोधः, तद्रहिते चाविद्यानिवृत्ति-
प्रयोजनाभावे विद्याया आनर्थक्यमित्यर्थः, ' अविद्यायामेवेति ' असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते इति वच-
नादित्यर्थः, ' ब्रह्माधारायाश्चेति ' ब्रह्माश्रयायाश्चेत्यर्थः, नहि स्वतः स्फुरद्रूपं ब्रह्म विद्याया आश्रयो भवितुमर्हति, दीप-
ज्योतिरिव तिमिरस्येति भावः, अस्तु तर्हि ब्रह्मविषया जीवाश्रयाऽविद्येति मतम्, तत्राह–' यतश्चेति ' यदैवाविद्याऽस्तीति
जीवब्रह्मानुभूतिमद्भवति तदैव सा नश्यति, प्रमाणबाध्यस्वरूपत्वात्तस्या इत्यप्रामाणिकैवेयम्। अविज्ञात इति विशेषण-
ज्ञानाभावादित्यर्थः, तदबाधनाद्विद्याया अबाधनात्, अव्यवस्थानमविद्याया इत्यर्थः। अबाधितायां बुद्धेर्विद्यायाः,
मृषात्वायोगादविद्यात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। मानाघातासहिष्णुत्वं प्रमाणप्रवृत्त्यस्पर्शित्वम्, स्वानुभवाश्रयत्वा-
दिति, अहं मां न जानामीत्यनुभवस्यैवानिर्वचनीयभावरूपाज्ञानसाक्षित्वादिति भावः। कथञ्चिद्वस्तुत्वादिति पर्युदासा-
श्रयणस्यान्यथानुपपत्तेरिति भावः। तथा वस्तुत्वेऽविद्याया, यथा यत्रेति, स्वसंवेदनापेक्षया सर्वत्राविद्यायां विद्यात्वमि-
ष्टमेवेत्यर्थः, न च कथञ्चिदिति कालभेदाद्विषयभेदाच्चैकत्राप्यात्मनि विद्यावत्त्वेनाविद्यावत्त्वमविरुद्धमिति भावः। तत्फ-
लस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिरूपपूर्वविद्याफलस्य, सकलविद्यालक्षणस्य केवलज्ञानस्वरूपस्य, तन्निष्फलत्वं त्विष्टमेव, ततः
परस्य ज्ञानरूपफलस्याभावात्, तदाहुः–श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः–" दोषपक्तिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात्॥ तमः-
प्रचयनिःशेषविशुद्धिफलमेव तत्॥ १॥ ' श्रीहरिभद्रसूरयस्त्वस्यापि परममुक्तिरूपफलमधिकृत्य परापरफलत्वं स्वी-
चक्रुः। तदुक्तं षोडशप्रकरणे–" एतद्योगफलं तत्परापरं दृश्यते परमनेन॥ तत्तत्त्वं यद्दृष्ट्वा निवर्त्तते दर्शनाकांक्षा

॥ १ ॥ " इति कथञ्चित्प्रमाणोत्थेनेति ज्ञानेन विषयस्याबाधनादित्यर्थः । सैव कथञ्चिद्विर्घैव, स्वसंवेदनांशेऽबाधादित्यर्थः, कथञ्चिद्बहिःप्रमेयापेक्षया, कथञ्चिद्बाधितायाः इति भावप्रमेयापेक्षयाऽबाधितायाः अपि बहिःप्रमेयापेक्षया बाधितायाः इत्यर्थः । अहं मां न जानामीति प्रतीतिश्च विशेषज्ञानाभावविषया, न भावरूपाज्ञानविषया, अन्यथाहमज्ञः किमपि न जानामीति प्रतीत्या सर्वविषयाज्ञानसिद्धेस्तन्निवृत्तये सर्वविषयकं तत्त्वज्ञानमेष्टव्यम्, तच्च तवानिष्टमिति विपरीतसिद्ध्यापत्तेः, तस्मान्नाज्ञाननिमित्तकप्रपञ्चप्रतिपादकमद्वैतदर्शनं प्रामाणिकं नाम । स्यादेतद्भेदखण्डनादेवाभेदपर्यवसानेऽद्वैतसिद्धिर्भविष्यति, तथा च श्रीहर्षः–कोऽसौ भेदो नाम ? यद्बीरद्वैतविरोधिन्युच्यते, स हि स्वरूपं वा स्यादितरेतराभावो वा धर्मान्तरं वा, नाद्यो भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, भ्रान्त्यापि धर्मिस्वरूपावगाहनात्, न चानारब्धावयविषु तरुष्वावयविविभ्रमवदुपपत्तिः, तदुदाहरणानङ्गीकारात्, अतस्मिन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभासार्थस्यैवात्र दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्, अत्रापि धर्मारोपोपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः, स्वरूपभेदग्रहेऽभेदधर्मस्याप्यशक्यारोपत्वाच्च । नापि द्वितीयः, प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणमतो नान्योन्याश्रय इति चेत्, न, वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भपटोभयप्रतियोगिकाश्रयकत्वेन पटे निषिध्यमाने कुम्भस्यापि निषेधापत्तेः । प्रत्येकप्रतियोगिताश्रयतयोर्भिन्नत्वादेकस्य प्रतियोगिताश्रयतान्यतरनिरूपणकालेऽन्यस्य तदपेक्षाभावान्न दोष इति चेत्, न, अन्योन्याभावाधिकरणप्रतियोगितया प्रतीतेरन्योन्याभावग्रहात् पूर्वमयोगाद्विशिष्टप्रतीतौ विशेषणप्रतीतेर्हेतुत्वात्, यस्य कस्यचित् प्रतियोगितयाऽधिकरणतया च प्रतीतेरहेतुत्वात्. यत्र भिन्नेऽभेदभ्रमस्तद्देशान्यदेशे भ्रमविषयस्य स्वाभावप्रतियोगित्वेन तद्देशे

च धर्मिणः सत्त्वाधारतया प्रतीतावप्यन्योन्याभावप्रतीत्यनुत्पत्तेः, प्रतियोगिबुद्धौ स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वेऽपि योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयमिति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगित्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्यान्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात्। दोषाभावोऽपि हेतुः स भ्रमोदाहरणे नास्तीति चेत्, न। पूर्वदृष्टस्मृतिमता ततो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टाद्भिन्नाभिन्नतयाऽनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः। बुध्यत एव तत्र स इति चेत्, न, पश्चात्तत्र संशयस्य दर्शनात्, विशेषधीरपि तत्र हेतुरिति चेत्, न, विशेषत्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्। एतेन वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिर्वस्तुगत्या चाधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिर्हेतुरित्यपि निराकृतम्, भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः, अभावस्य निर्द्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याभावरूपत्वेन निर्द्धर्मकतयाऽन्योन्यभेदविरहेण ऐकरूप्यापत्तेः। अभावे धर्माभावात् स्वरूपमेव भेद इति चेत्, न। तस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन भेदत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, निष्प्रतियोगिकेनापि तेन सप्रतियोगिकव्यवहारजननाभ्युपगमे च प्रतियोगिनियमाभावात् स्वस्मादपि भेदव्यवहारोत्पत्तिप्रसङ्गात्। किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः, किं घटत्वादय एव भेदः, उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः, आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः, भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात्, न च घटत्वादयस्तथा, पटाद्यनपेक्ष्य तेषां प्रतीतेः। यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्तीति चेत्, प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यं, किं घटत्वादेरुत तद्धर्मस्य कस्यचित्, आद्ये पटाद्यपेक्षामन्तरेण कदापि घटत्वप्रतीत्यनुत्पत्तिप्रसङ्गो, न हि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम, वह्नाविवावान्तरजातिभेदेन कारणभेदस्य

चरितार्थीकर्त्तुमशक्यत्वात् , साक्षात्कारत्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः, जात्योः परस्परं संकरमिच्छतामपि मते पञ्चभ्याऽवधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन समन्वियात्, न तावद् घटत्वेन, तस्यावधिघटितत्वे तथैव पटं प्रतीत्यापत्तेः। तद्धर्मेणेति चेत्, तर्ह्ययं द्वितीयो विकल्पः, तत्र च स एव सापेक्षप्रतिपत्तिर्भेदो नतु घटत्वादिः, घटत्वादेश्च स भेदः स्यात् तद्धर्मः स्यात्, घटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतम्, कथं च भिन्नैरनुगतभेदव्यवहारः स्यात्, तथा सति वा किं न तैरेव सदादिव्यवहारोऽपि स्यात्। नापि द्वितीयोऽनभ्युपगमात्, सप्तपदार्थ्येनन्तर्भावप्रसङ्गात् । ननु घटत्वादय एव भेदो घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि च प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद्विचित्रव्यवहारोपपत्तिरिति चेत्, न, व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवार्थगतविशेषस्यावश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वे तत्रैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः, अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च तत्क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात्, तद्युगपज्ज्ञेयतायामनन्तत्वात् सुसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयाऽपि ग्रहसम्भवादिना सर्वत्र प्रामाण्यानाश्वासप्रसङ्गात्। किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वेऽवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत्पटत्वस्यापि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयाऽवधेश्च घटत्वादितो घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायामन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। भेदरूपत्वे घटत्वादेरवधिप्रतीत्यपेक्षा, न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ, स्वरूपमात्रेण चावधित्वं तत् कुत एवमिति चेत्, भेदरूपता यदि तस्य स्वात्मैव, तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम्, अथ धर्मान्तरं, तदा स एव भेदोऽस्तु, कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया। अस्तु स एव धर्मान्तरं भेद इति चेत, न, दूषितत्वात्। अथास्तु स्वरूपादित्रयं भेद इति चेत्, न, तद्व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तसिद्धौ प्रमाणत्वं, व्यभिचारात्, सामान्य-

विशेषैरेव परसामान्यस्य बुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः। किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा, आद्येऽनवस्था, द्वितीये तदभाव एव स्यात्, तद्धर्मिण्येव तत्प्रवेशात्। भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति सत्त्वेव सद्-व्यवहारमिति चेत्, न, अस्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगित्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वस्य भेदप्रतीतिव्यवहारयोः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न वयं स्वात्मा स्वाधिकरणं स्वावधिरित्यभ्युपगच्छामः, किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारके वा स्वीकृतौ यौ बुद्धिव्यवहारावुत्पद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत्, तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्द्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र विना धर्मान्तरमुत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात्, यस्य च स्वभावस्य वशेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात्, यथा सत्यरजते रजतत्वप्रतीती रजतत्वादुत्पन्ना विनापि धर्मान्तरमन्यत्रोत्पद्यत इति भ्रान्ता भवति, यस्य च सामर्थ्यात्तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते। तत्र रजतत्वं नास्ति अत्र धर्मिरूपोऽपि भेद एव सन्नवलम्बनमिति चेत्, मैवम्, भिन्नप्रतीतिर्विशिष्टविषया भेदतदाश्रयरूपोभयवस्तुविषयाऽन्यत्र यादृशी सत्याङ्गीकृता ततो मात्रयाऽप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गीकुरुषे तदा गीर्वाणगुरुणापि दुर्निवारं भ्रान्तत्वम्, अथाङ्गीकुरुषे, तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः। अथ तदुभयव्यतिरेकेणैवात्र सा सत्या, अन्यत्र तर्हि ततोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन॥ अत्रोच्यते—"श्रीहर्षहर्षस्तबखण्डनेऽस्मिन् भेदस्य चेदस्य कटुर्विपाकः। अतद्विदानां भविता वितानैर्ब्रह्मश्रुतौ किं न कृतान्तकोपः ॥१॥" किं चैतेन भेदखण्डनेनाभिमतम्, किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि वा नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकम्, सहेतुकमपि वा निर्विषयम्, सविषयमपि वा बाध्यमानविषयम्, तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः, द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः, तृती-

योऽपि विरोधादेव हेयः, चतुर्थस्तु भेदोच्छेदादेव त्याज्यः । पञ्चमपक्षचिन्तायां तु निरपेक्षस्वरूपादिद्वयबाधेऽपि जात्यन्तरा-
त्मकस्य भेदस्य किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिर्बाधनीयम् । हन्तैवं धर्म्यभिन्नधर्मान्तरमेव भेद इत्यागतं तथा चानवस्थेति
चेत्, तर्ह्यनवस्थाभिया तदधिकप्रवाहस्त्यज्यताम्, तस्य तु कुतस्त्यागः, न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्तयति, किन्तु
प्रवाहं परिहारयति, गन्धे गन्धान्तरवत्, ये त्वत्यन्ताभावात्यन्ताभावः प्रतियोग्येव तदत्यन्ताभावस्तु प्रथमस्तुरीयश्चद्वितीय
एवेति नानवस्था, भेदतद्भेदादिस्त्वधिक एव तत्रानवस्थाप्रमाणसिद्धत्वान्न दोष इति वदन्ति, तन्मतेऽप्याकाङ्क्षाक्रमवशात्
प्रतीतिपर्यवसन्नेन न दोषः । स्वरूपभेदपक्षेऽपि भिन्नत्वेन ज्ञानाभावान्नाभेदभ्रमानुपपत्तिः, तत्तत्प्रतियोगिकत्वतत्तदधि-
करणकत्वेन भेदज्ञाने च क्षयोपशमविशेषस्यैव हेतुत्वान्नातिप्रसङ्गोऽर्थित्वादिविशेषस्यापि तदाधान एवोपक्षयात्, तुल्ययोगक्षेमं
चैतत्तद्विशेषणविशिष्टभावप्रत्यक्षेणापि, न ह्युपस्थितानामेव विशेषणानां भावबुद्धौ वैशिष्ट्यग्रह इति नियमः । अनुपस्थिताना-
मपि पर्यायाणां द्रव्यग्रहकाले ग्रहस्य तुल्यवित्तिवेद्यत्वन्यायसिद्धत्वात् उपस्थितानामप्यनपेक्षितानां विशिष्टबुद्धावनारोहाच्च ।
किञ्च भेदे प्रतिक्षिप्तेऽभेदः सुतरां प्रतिक्षिप्तः स्यात्, भेदाभावरूपस्याभेदस्य भेदनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्, इत्थं च भेदेनेवाभे-
देनापि ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वात्तस्यानिर्वचनीयत्वं शून्यत्वं वा स्यादिति गतं वेदान्तिनां क्लीबानामधिष्ठानसत्तयाऽपि । पार्यन्ति-
काभेदभाने विकल्पाभावान्नानुपपत्तिरिति चेत्, पार्यन्तिकभेदभानेऽपि तत एव सा माभूत्, विचारसाध्यनिर्विकल्पकत्वस्यो-
भयत्र साम्यात् । अभेदो न भेदाभावः किन्तु तादात्म्यं प्रमेयमभिधेयमित्याद्यनुरोधादिति चेत्, न, तदपि यदि धर्मिस्वरूपं
तदा त्वदुक्तरीत्याऽभिन्ने भेदभ्रमानुपपत्तेः, यदि चातिरिक्तम्, तदा तत्सम्बन्धगवेषणेऽनवस्थानात्, अस्तु तर्हि भेदाभेदोभय-

शून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति चेत्, न, तस्य खपुष्पप्रायत्वात्, तद्ग्राहकत्वेनाभिमतस्य ज्ञानस्य सुषुप्तज्ञानतुल्यस्याप्रमाणत्वात्, सुषुप्तज्ञानमप्युत्थानानन्तरसत्यविकल्पदर्शनेन प्रमाणमिति चेत्, तर्हि स्वविषयविकल्पाजननात्ततोऽपि त्वदीयं ब्रह्मज्ञानं हीनतरमस्तु, तदभावे तस्याभेदविषयत्वं भेदविषयत्वं वेत्यत्र संशयानिवृत्तेः, वेदान्तवासनामात्रेण तत्प्रामाण्ये पिटकत्रयादिवासनया क्षणिकादिज्ञानमपि प्रमाणं स्यादिति न किञ्चिदेतत्, " यत्खण्डनं मण्डनहेतुरस्मन्मते रते तद्दशनक्षताभम् । वेदान्तवादेऽथ च शून्यवादे दंशः श्वदन्तस्य विडम्बनं तत् ॥ १ ॥ रतोत्सवः स्यात्परसंकथानां स्याद्वादयूनः किल वल्गनेन । यत्ताः सहन्ते रतियुद्धमेतन्न मल्लयुद्धं परतीर्थिकानाम् ॥ २ ॥ " ब्रह्माद्वैतदूषणं शब्दाद्वैतेऽप्यतिदिशति–' तदेतेनेत्यादि ' ॥ २७ ॥

इष्टमद्वैतैकान्तापवारणम्, पृथक्त्वैकान्ताङ्गीकरणादिति मावदीधरन् । यस्मात्,—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ। पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥ २८ ॥

पृथगेव द्रव्यादिपदार्थाः प्रमाणादिपदार्थाश्च, पृथक्प्रत्ययविषयत्वात् सह्यविन्ध्यवदित्येकान्तः पृथक्त्वैकान्तः, सजातीयविजातीयव्यावृत्ता निरन्वयविनश्वरा बहिरन्तश्च परमाणवः इत्यभिनिवेशश्च । तत्र येषां पृथक्त्वगुणयोगात् पृथक् पदार्था इत्याग्रहस्ते एवं तावत्प्रष्टव्याः—किं पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वं गुणः पृथग्भूतोऽपृथग्भूतो वा ?, न तावदुत्तरः पक्षो गुणगुणिनोर्भेदोपगमात् । नापि प्रथमः पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वस्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात् । पृथक्त्वस्य तद्गुणत्वात् पृथगिति प्रत्ययस्य तदालम्बनत्वान्न तेषामपृथक्त्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, तस्य कथंचित्तादात्म्यापत्तेः पृथक्त्वैकान्तविरोधात् । तद्गुणगुणिनोरतादात्म्ये घटपटवद्व्यपदेशोपि मा

भूत्, संबन्धनिबन्धनान्तराभावात्। कथंचित्तादात्म्यमेव हि तयोः संबन्धनिबन्धनम्, न ततोन्यत्संभवति। समवायवृत्ति संभवतीति चेत्, न, समवायस्य कथंचिद्विष्वग्भावादपरस्य प्रतिक्षेपात। पृथक्त्वमन्यद्वा पृथग्भूतमनंशमनेकस्थेषु निष्पर्यायं वर्तते इति दुरवगाहम्। न ह्यनेकदेशस्थेषु हिमवद्विन्ध्यादिषु सकृदेकः परमाणुर्वर्तते इति संभवति। गगनाद्यनंशमपि वर्तते इति चेत्, न, तस्यानन्तप्रदेशादितयानंशत्वासिद्धेरनाश्रयतया क्वचिद्वृत्त्यभावाच्च। सत्तैका युगपदनेकत्र वर्तते इत्यप्यसिद्धम्, तदनन्तपर्यायत्वासाधनात् स्वपर्यायेभ्योत्यन्तभेदासिद्धेश्च समवायवृत्त्यनुपपत्तेः। द्रव्यत्वादिसामान्यमपि नैकमनंशमनेकस्वव्यक्तिवृत्ति सकृत्प्रसिद्धम्, तस्यापि स्वाश्रयात्मकतया कथंचित्सांशत्वानेकत्वप्रतीतेः संयोगविभागपरत्वापरत्वान्यपि नानेकवृत्तीनि युगपदुपपद्यन्ते प्रतियोग्यादिसंयोगादि परिणामप्रतीतेः सादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारात्। द्वित्वादिरनेकद्रव्यवृत्तिर्युगपदित्यप्यप्रातीतिकम्, प्रतिव्यक्ति सकलसंख्यापरिणामसिद्धेः क्वचिदेकत्र तदसिद्धौ परापेक्षयापि तद्विशेषप्रतीत्ययोगात् खरविषाणवत्। ततो न पृथक्त्वमनेकत्र युगपद्वर्तते गुणत्वाद्रूपादिवत्। न संयोगादिभिरनेकान्तः, तेषामप्यनेकद्रव्यवृत्तीनां सकृदनंशानामसिद्धेः। तदनेन पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्ववतोः पृथक्त्वात्पृथक्त्वे तौ नद्यन्तावपृथगेव स्याताम्। तथा च न पृथक्त्वं नाम गुणः स्यात्, एकत्र तद्वति तदनभ्युपगमात्। अनेकस्थो ह्यसौ गुण इति कारिकाव्याख्यानं स्थितपक्षदूषणपरं प्रकाशितं प्रतिपत्तव्यम् ॥ २८ ॥

पृथक्त्वमन्यद्वेति अन्यद्गुणान्तरं १ अनेकस्थेष्वनेकदेशस्थेषु नानापदार्थेषु। न च पृथक्त्वं रूपादिवत् प्रत्याश्रयं भिन्नमेवेष्यत इत्ययमनभ्युपगतोपालम्भः परं प्रति ग्रन्थकृत इति वाच्यम्। द्वित्वद्विपृथक्त्वादीनां परेण व्यासज्यवृत्तित्वस्योपगमात्, एकपृथक्त्वस्य स्वाश्रये द्विपृथक्त्वादेरन्यत्र चैकपृथक्त्वस्यारम्भकतयोभयत्रारम्भकत्वस्वीकारात् 'प्रतियोग्या-

द्वीति' आदिनानुयोगिपरिग्रहः। तथा च घटप्रतियोगिकत्वपटानुयोगिकत्वाभ्यां घटपटसंयोगयोर्भिन्नत्वम्, न त्वेकत्वम्, घटे पटाव्यवधानात्मनः पटे घटाव्यवधानात्मनश्च संयोगस्यैकत्वायोगादित्युक्तं भवति, साहश्योपचारादिति, तन्निबन्धनीभूता वृत्तिरेव च पर्याप्तिः, अन्यथा प्रत्येकावृत्तेः समुदायवृत्तित्वायोगात्, कथं चान्यतरकर्मजत्ववदन्यतरकर्माभावजत्वमन्यतरकर्मजे उभयकर्मजे च तदतत्कर्मजत्वेन भेदकम्, अन्यथोभयकर्मजन्यतावच्छेदिकाया इव त्रयकर्मादिजन्यतावच्छेदिकाया अपि जातेरभ्युपगमप्रसङ्गात्, नो चेत्, कर्मत्रयस्थले उभयकर्मजसंयोगद्वयापत्तेः, एवमग्रेऽपि नानासंयोगस्वीकारे आदित एव किं न तत्स्वीकारः। यदि च समवायिकारणभेदेऽपि संयोगाद्यैक्यं स्वीक्रियेत, तदा घटादौ यावदवयवरूपमप्येकं स्यादेकत्वप्रतीत्यविशेषात्। यावदाश्रयबुद्धिसापेक्षत्वामापेक्षत्वाभ्यां विशेष इति चेत्, न, रूपादिप्रतीतेरप्याश्रये पर्याप्तत्वापर्याप्तत्वावगाहने न द्विविधरूपत्वादित्याद्यधिकं वादमालायां निरूपितमस्माभिः,। 'द्वित्त्वादिरिति' एकत्वद्वयादिनैव द्वित्त्वादिबुद्धिव्यवहारोपपत्तेरिति भावः। तथा च न पृथक्त्वं नाम गुणः स्यादिति। नन्वत्रेष्टापत्तिः, नैयायिकमूर्द्धाभिषिक्तेन शिरोमणिभट्टाचार्येण पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपस्यैव स्वीकारात्, तथा च तद्ग्रन्थः। पृथक्त्वमपि न गुणान्तरम्, अन्योन्याभावादेव तद्व्यवहारोपपत्तेः, पृथक्त्वप्रतीतिस्तु न सावधित्वालम्बना, मानाभावात्, घटात्पटः पृथगितरोऽन्यो भिन्नोऽर्थान्तरमित्यादौ तत्तच्छब्दविशेष्ययोगे पञ्चम्यानुशासनिकीति अन्यारादित्यादिसूत्रेऽन्यपदं विशिष्य पृथगादिपरं न त्वन्योन्याभावविशिष्टबोधकपदसामान्यपरमिति पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपत्वेऽपि घटात्पटः पृथगित्यस्यैव घटान्न पट इत्यस्य नापत्तिरित्येतदर्थ इति चेत्, सत्यम्, पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपत्वेऽप्यभेदसंवलितत्वेन तदेकान्तायोग इत्यत्र ग्रन्थकृतस्तात्पर्यात्, वस्तुतो मूले वृक्षः कपिसंयोगी-

न शाखायामिति प्रतीत्यनुरोधेनान्योन्याभावाव्याप्यवृत्तित्ववादिनो दीधितिकृतो मते श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगिति प्रतीत्यनुपपत्तेः पृथक्त्वं नान्योन्याभावः सङ्गच्छते, किन्तु प्रविभक्तप्रदेशत्वम्, इत्थमेव तन्तुभ्यः पटो न पृथगित्यस्योपपत्तेः। न च श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगित्यत्र पृथक्पदस्य तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदपरत्वादुपपत्तिः सम्भवति, प्रकारान्तरे लक्षणाश्रयणस्यातिजघन्यत्वात्, श्यामाद् घटाद् रक्तो घटे न पृथक्त्वं किन्तु पटादित्यत्र श्यामघटाप्रविभक्तपटप्रविभक्तप्रदेशवृत्त्येकविशेष्यताकबोधस्यस्मदुक्तप्रकारं विनानुपपत्तेश्चेति विचारणीयं सुधीभिः ॥ २८ ॥

सांप्रतं निरन्वयक्षणिकलक्षणपृथक्त्वपक्षे दूषणमाविर्भावयितुमनसः सूरयः प्राहुः—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः । प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

जीवादिद्रव्यैकत्वस्य निह्नवे संतानो न स्याद्भिन्नसंतानाभिमतक्षणवत् । यथैकस्कन्धावयवानामेकत्वपरिणामापलापे समुदायो न स्यान्नानास्कन्धावयववत् । तथा सधर्मत्वाभिमतानां सदृशपरिणामैकत्वापह्नवे साधर्म्यं न स्याद्विसदृशार्थवत् । मृत्वा पुनर्भवनं प्रेत्यभावः । सोपि न स्यादुभयभवानुभाव्येकात्माऽपाकरणे नानात्मवत् । चशब्दाद्दत्तग्रहादि सर्वं न स्यात्तद्वत् । न च तदभावः शक्यः प्रतिपादयितुम्, सकलबाधकशून्यत्वेन निरङ्कुशत्वात् । ननु चापरामृष्टभेदाः कार्यकारणक्षणा एव संतानः । स चैकत्वनिह्नवेपि घटते एवेत्यपि ये समाचक्षते तेषामपि कार्यकारणयोः पृथक्त्वैकान्ते कार्यकालमात्मानमनयतः कारणत्वासंभवात्तदनुत्पत्तेः कुतः संततिः? ननु कार्यकाले सतोपि कारणत्वे तत्कारणत्वानभिमतस्य कार्यकालमात्मानं नयतः सर्वस्य तत्कारणत्वप्रसङ्गः । कार्याकारेण प्रागसतः सद्द्रव्यादिरूपेण प्राक्कार्यकाले च सतस्तत्कार्यस्योत्पत्तौ खरादिमस्तके विषाणादेरुत्पत्तिः किन्न स्यात्? गवादिशिरसीव तत्रापि तस्य

विषाणाद्याकारतया प्रागसत्त्वस्य सद्द्रव्यादिरूपतया सत्त्वस्य चाविशेषात् । तदुत्पत्तिकारणस्य दृष्टस्यादृष्टस्य चाभावात् तत्र न तस्योत्पत्तिरिति वचने परेषामपि प्रागसत्त्वैकान्ताविशेषेपि कार्यस्य पूर्वं सति कारणे जन्म नासतीति न किंचिदतिप्रसज्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधाननिबन्धनत्वात् तत्कारणत्वस्य। न च निरन्वयक्षणिकत्वेऽपि कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानमसंभाव्यम्, स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात् स्वदेशापेक्षान्वयव्यतिरेकवत्। तदुक्तम् "अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः। स्वभावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न संभवः ॥१॥" इति। ततोऽव्यभिचारेण कार्यकारणभूता एवापरामृष्टभेदाः क्षणाः संतानो युक्तः। इति कश्चित् ॥ सोपि न प्रतीत्यनुसारी, तथा बुद्धेतरचित्तानामप्येकसंतानत्वप्रसङ्गात् तेषामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । निरास्रवचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्तस्यापि संतानान्तरचित्तकारणत्वाभावान्न तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति चेत्, न, यतः प्रभृति तेषां कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्याभिचारादन्यथा बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्, नाकारणं विषय इति वचनात्। स्यान्मतम्, येषामग्राह्यग्राहकत्वे सत्यऽव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तेषामेकसंतानत्वोपगमान्न दोष इति चेत्, तदप्ययुक्तम्, समनन्तरप्रत्ययेनापि सह बुद्धचित्तस्यैकसंतानतापायप्रसक्तेः, तस्य बुद्धचित्तेनाग्राह्यत्वे तस्यासर्ववेदित्वापत्तेः । समनन्तरप्रत्ययस्य समनन्तरत्वादेव बुद्धचित्तेन सहैकसंतानत्वमिति चेत्, कुतस्तस्य समनन्तरत्वम्?, तस्याव्यभिचारिकारणत्वादिति चेत, न, सर्वार्थानां तत्समनन्तरत्वप्रसङ्गात् । एकसंतानत्वे सति कारणत्वादिति चेत्, सोयमन्योन्यसंश्रयः । सिद्धे समनन्तरप्रत्ययत्वे तस्यैकसंतानत्वेन कारणत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च समनन्तरप्रत्ययत्वसिद्धिरिति। स्याद्वादिनां कस्तर्ह्येकः संतान इति चेत, पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः संतानः । क्वचित्क्षणान्तरे नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसंवेदनवत्कथंचिदेकत्वमेव भवितुमर्हति । न च साध्य-

विकलं चित्रज्ञानमुदाहरणं तस्यैकत्वसिद्धेः तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां चित्रनिर्भासो मा भूत् पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसंतानैकक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात् ? देशप्रत्यासत्तेः शीतातपवातादिभिर्व्यभिचारात्, कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्त्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात्, भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्भूतानेकपुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वाद् द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव परिशेषात् संभाव्यते। सा चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात्प्रत्यासत्तिविशेषः । इति कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धनं चित्रज्ञानस्य, अन्यथा वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात् । तयोः स्वभावभेदेपि सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे कथमेकसंतानसंविदां समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिदैक्यं न स्यात् ? कालसमनन्तरोपलम्भनियमादेकसंतानत्वमेव स्याद्देशसमनन्तरोपलम्भनियमात् समुदायवत्, न पुनरनेकद्रव्यत्वमिति चेत्, न, भवतां बुद्धेतरसंविदामेकसंतानत्वापत्तेः, कालसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् पञ्चानामपि च स्कन्धानामेकस्कन्धत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् । प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनायां तत्र यया प्रत्यासत्त्या संतानः समुदायश्च, तयैव कथंचिदैक्यमस्तु। न हि तादृशां साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाङ्कर्यात्, येन कालसमनन्तरोपलम्भनियमभाजामेकसंतानत्वं व्यवतिष्ठते देशसमनन्तरोपलम्भनियमभृतां चैकस्कन्धाख्यं समुदायत्वं युज्यते, तादृशः साधर्म्यस्यैकत्वनिह्नवेऽनुपपत्तेः कथंचिदेकत्वशून्यार्थसाधर्म्यस्य संतानान्तरेषु नानासमुदायेषु च दर्शनात् । एतेनैकसंतानत्वात् प्रेत्यभावव्यवहारकल्पनमपास्तं कथंचिदेकत्वापह्नवे तदयोगात् । कथमिह जन्मनो जन्मान्तरेणैकत्वं विरोधादिति चेत्, न, कथंचिदेकत्वे विरोधाभावात् । तथा प्रतिभासादेकज्ञाननिर्भासविशेषवत् । तथा हि । एकज्ञाननिर्भासविशेषाणां मिथः स्वभावभेदेपि यथैकत्वपरिणामः स्वभावतोऽनङ्कुशस्तथा प्रेत्यभावादिषु संतानोन्वयः परमार्थैकत्वमात्मसत्त्वजीवादिव्यपदेशभाजनं स्वभावभेदानाक्रम्य स्वामिवदन्यत्र वर्तयति। न पुनरन्यत्र जीवान्तरे तेषामशक्यविवेचनत्वाद्विरोधवैयधिकरण्यादीना-

मेकज्ञाननिर्भासविशेषैरपाकरणान्निरङ्कुशत्वसिद्धेः ॥ ७९ ॥

सन्तानो न स्यादिति मुक्तास्थानीयानां क्षणानां मालास्थानीयस्यानुगमकस्याभावादित्यर्थः । **नानास्कन्धावयववदिति**, न च धान्यराशिवदुपपत्तिः, बुद्धिकृतादेकत्वादवयवबन्धकृतस्यैकत्वस्य विलक्षणत्वात्, **साधर्म्यं न स्यादिति**, तथा च समानपरिणामैकत्वमादाय सोऽयं शब्द इति प्रयोगो न स्यादिष्यते च तद्व्यक्त्यैक्यं समानपरिणामैक्यं चादाय सोऽयमित्येव प्रयोगस्तद्व्यक्त्यभिन्नोऽयं तज्जातीयोऽयमिति विवरणद्वैविध्येऽपि प्रयोगैक्यादिति द्रष्टव्यम् ॥ '**सकलेत्यादि**' तथा च निरङ्कुशत्वं बाधारहितत्वं विशेषणं यथास्थितं विपरिणतं वा सर्वत्र योजनीयम्, तेन न तत् सर्वमित्यनेन सर्वत्र तत्परामर्शानुपपत्तिरिति बोध्यम् ॥ **पूर्वं सतीति** अव्यवहितप्राक्काले सामग्रीसत्त्वं कार्योत्पत्तिप्रयोजकं न तु कार्यस्य प्राक्सत्त्वमसत्त्वं वेति भावः । '**स्वकाले इति**' स्वाव्यवहितप्राक्काल इत्यर्थः, स्वदेशे सति कारणे यथा कार्यमुत्पद्यते तथा स्वकालेऽपीति दैशिककालिकव्याप्तिगर्भमेकं कारणत्वमिति भावः । '**तथा बुद्धेतरेति**' अनुगमकाभावेन देशस्यापि क्षणत्वाद्दैशिककालिकव्याप्त्योरभेदपर्यवसानादित्यर्थः । '**सन्तानान्तरेत्यादि**' सन्तानान्तरचित्तकारणे स्वाकारणे सन्ताने बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । अतिशयात्मनोः पर्यायस्वरूपयोः, अन्वयः द्रव्यात्मनैकत्वम्, **कथश्चिदैक्यमेवेति** नीलाद्यनेकनिर्भासपर्यायज्ञानात्मना तत्काले तदात्मद्रव्यपरिणामकृतमैक्यमित्यर्थः । **समनन्तरोपलम्भनियमादनुभवस्मरणयोरेकविषयस्पर्शनियमात्, कथश्चिदैक्यं कथं न स्यादिति** विशिष्टैक्यद्वारकं विशेषणानामैक्यं स्यादेवेत्यर्थः, **कालसमनन्तरोपलम्भनियमात्** सादृश्यप्रत्यासन्नक्षणविषयानुभवनियमात्, **देशसमनन्तरोपलम्भनियमान्नैरन्तर्यप्रत्यासन्नस्वलक्षण-**

विषयानुभवनियमात्, पञ्चानां विज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काररूपलक्षणानाम्, तत्रेति पूर्वोत्तरज्ञानक्षणेष्वेकदेशवर्तिषु च परमाणुष्वित्यर्थः ॥ तादृशामेकसन्तानभाजां ज्ञानक्षणानां परमाणूनां च, तादृश एकसन्तानत्वनिबन्धनस्य ॥ २९ ॥

पृथक्त्वैकान्तपक्षे दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः—

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् । ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ।३०।

सदात्मना सत्सामान्यात्मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेद् द्विधाप्यसदेव प्राप्तं ज्ञानस्यासत्त्वे ज्ञेयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । ततो बहिरन्तश्च न किञ्चित्कथंचिदपि ज्ञेयं नाम त्वद्द्विषां प्रतीयेत । ननु सद्विशेषाद् भेदेपि ज्ञानस्य ज्ञेयान्नासत्त्वप्रसक्तिः । सदन्तरत्वं तु न स्यात् पटान्तराद्भेदेपि पटस्य पटान्तरत्वाभाववत् । सत्सामान्यं पुनः सर्वेषु सद्विशेषेष्वसत्त्वव्यावृत्तिमात्रम् । न च तदात्मना कस्यचित्कुतश्चिद्भेदोऽभेदो वा विचार्यते तस्य वस्तुनिष्ठत्वात् सन्मात्रस्य चावस्तुत्वात् । तदात्मना व्यावृत्तस्य ज्ञानस्य ज्ञेयात्परमार्थसत्त्वाविरोधान्न कश्चिदुपालम्भ इति चेत्, न, सत्सामान्यस्याभावे सांवृतत्वे वा सद्विशेषाणामभावप्रसङ्गात् सांवृतत्वापत्तेश्च तदसत्त्वव्यावृत्तेरपि वस्तुस्वभावत्वादन्यथा खरविषाणादावपि तदनुषङ्गात् । तथा हि । ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्विशेषत्वात् । यस्य तु न सा वास्तवी स न सद्विशेषो यथा वन्ध्यासुतः । सद्विशेषौ च ज्ञानज्ञेये । इति केवलव्यतिरेकी हेतुः । तथा यत्रासद्व्यावृत्तिर्वास्तवी तत्र सत्सामान्यं वस्तु, सत्सामान्यरहितेषु वन्ध्यासुतादिष्वसद्व्यावृत्तेरवास्तवत्वात्, इति वास्तवसत्सामान्यात्मना ज्ञानस्य ज्ञेयाद्भेदे सद्विशेषात्मनापि भेदः स्यात् । तथा च ज्ञानमसन् प्राप्तम् । तदनिच्छतां विषयिणो विषयात्कथञ्चित्स्वभावभेदेपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं बोधाकारस्येव विषयाकाराद्, विशेषाभावात् । अन्यथा ज्ञानमवस्त्वेव खपुष्पवत् । तदभावे बहिरन्तर्वा ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात् तस्य ततः

श्रेयानयमुपालम्भः पृथक्त्वैकान्तवाचां ताथागतानां वैशेषिकवत् ॥ ३० ॥

समुदायत्वनिबन्धस्य च, **सदन्तरत्वं त्विति**, यद्यप्येकपटापेक्षयाऽन्यपटे पटान्तरत्वव्यवहारवद् ज्ञेयापेक्षया ज्ञाने सदन्तरत्वव्यवहारोऽपि सम्भवी तथापि प्रतिनियतप्रतियोगिसद्वाचकपदसमभिव्याहाराभावादयं निषेधो द्रष्टव्यः। प्रागुद्दिष्टधर्मविशिष्टान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यान्वयितावच्छेदकधर्मस्य चान्तरपदार्थत्वात्। **वास्तवसत्सामान्यात्मनेति** सत्सामान्यनिष्ठप्रतियोगित्वाभिन्नज्ञेयनिष्ठप्रतियोगिताके ज्ञानाधिकरणके भेदेऽभ्युपगम्यमान इत्यर्थः। परैरपि हि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसत्त्वस्याभावविरोधित्वात् सामान्यरूपेण विशेषाभावो न स्वीक्रियते तथाऽस्माभिरपि सामान्यात्मना विशेषाभाव इति मन्तव्यम्। **तथा चेति** यावद्विशेषभेदस्य सामान्यभेदनियतत्वादिति भावः। तादात्म्यमित्यनन्तरमेष्टव्यमिति शेषः। सामान्यस्यावास्तवत्वे दोषान्तरं समुच्चिचीषुराह ॥ ३० ॥ किञ्च,—

सामान्यार्था गिरोन्येषां विशेषो नाभिलप्यते। सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः। ३१।

सामान्यमेवार्थोऽभिधेयो यासां ताः सामान्यार्था गिरो यतस्ताभिर्विशेषो नाभिलप्यते इत्यन्ये, तेषां मृषैव सकलाः स्वयं सत्यत्वेनाभिमता अपि गिरः स्युः, सामान्यस्य वास्तवस्याभावात्। कुतः पुनः सामान्यस्यैवाभिधेयत्वमिति चेत्, विशेषाणामशक्यसमयत्वात्। न ह्यनन्ता विशेषाः शक्याः संकेतयितुं ततो नाभिधीयेरन्, असंकेतितानभिधानात्। विशेषदर्शनवत्तद्बुद्धावप्रतिभासनादर्थसन्निधानानपेक्षणाच्च। न हि स्वलक्षणे दर्शने यथा संकेतनिरपेक्षो विशेषः प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धावपि, तस्याः स्वलक्षणसंनिधानानपेक्षत्वात्, तदपेक्षत्वेऽतीतानुत्पन्नादिषु शब्दबुद्धेरभावप्रसङ्गात्। यद्येवं स्वलक्षणमनभिधेयं सामान्यमवस्तूच्यते इति वस्तु

नोच्यते इति स्यात् । ततः किं शब्दोच्चारणेन संकेतेन वा ? गोशब्दोपि गां नाभिधत्ते यथाश्वशब्दस्य। तथा च वस्तुनोनभिधाने मौनं यत्किंचिद्वा वचनमाचरेत्, विशेषाभावात् । अथास्ति विशेषः । कथं स्वार्थं नाभिदधीत ? मौनाद्यत्किंचनवचनाद्वा यथार्थाभिधानस्य स्वाभिधानं मुक्त्वा विशेषस्यासंभवात् । न वै परमार्थैकतानत्वादभिधाननियमः, परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिष्विति वचनात् । किं तूपादानविशेषादित्यपि वार्तम्, अविकल्पेपि तथैव प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम् "अविकल्पकप्रत्यक्षस्य न परमार्थैकतानत्वान्नियमो, द्विचन्द्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात किन्तूपादानस्य स्ववासनाविशेषस्य भेदात्" इति । तदेवमवधारितात्मकं वस्तु स्वलक्षणमापनीपद्येत, विकल्पेनेवाविकल्पेनाप्यवधारयितुमशक्तेः । निर्विकल्पकस्यार्थसंनिधानानपेक्षत्वाद्वैशद्याच्च परमार्थैकतानत्वमिति चेत, न, तदनियमात । तथा हि । नावश्यमिन्द्रियज्ञानमर्थसंनिधानमपेक्षते विप्लवाभावप्रसङ्गात् । नापि विशदात्मकमेव, दूरेपि तथाप्रतिभामप्रसङ्गाद्यथाऽऽरात् । न हि आरादेवार्थे निर्विकल्पकमिन्द्रियज्ञानम्, न पुनर्दूरे इति शक्यं वक्तुम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेपात् । दूरार्थेपीन्द्रियज्ञानं विशदात्मकमेव, तत्रावैशद्यस्याशूत्पन्नानन्तरविकल्पेन सहैकत्वाध्यारोपादेव प्रतीतेरिति चेन्, न, आमन्नार्थेपि नदवैशद्यप्रतीतिप्रमङ्गात् । न हि तत्राविकल्पानन्तरं चिराद्विकल्पस्योत्पत्तिः, पुरोवर्त्तिन्यर्थेऽक्षज्ञानजविकल्पवैशद्यस्य तल्लघुवृत्तिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् "विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति" इति वचनविरोधात् । यदि पुनरासन्नार्थे निर्विकल्पकस्य बलीयस्त्वात्तद्वैशद्येनानन्तरविकल्पावैशद्यस्याभिभवाद्वैशद्यप्रतिभासो न पुनर्दूरे विपर्ययादिति मतम्, तदा पुरोवार्तिगोदर्शनवैशद्येनाश्वविकल्पावैशद्यस्याभिभूतिप्रसङ्गात् तत्र वैशद्यप्रतीतिः किन्न स्यात ? गोदर्शनभिन्नविषयत्वादश्वविकल्पस्य नैवमिति चेत्, न, नीलदर्शनविकल्पयोरपि भिन्नविषयत्वात्तद्वैशद्याप्रतीतिप्रसङ्गात् । न हि तयोरभिन्नविषयत्वम्,

स्वलक्षणसामान्ययोस्तद्विषययोर्भेदात्। तत्र दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायान्नीलविकल्पे वैशद्यप्रतिभास इति चेत्, न, तत एव दूरेऽपि वैशद्यप्रतिभासप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्, प्रत्यासन्नेऽर्थे विकल्प्ये दृश्यस्याध्यारोपाद्विकल्पवैशद्यं दूरे तु दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपाद्दर्शनावैशद्यं प्रतीयते कुतश्चिद्विभ्रमात्, इति, तदप्यसारम्, चन्द्रार्कादावतिदूरे दृश्ये विकल्प्याध्यारोपादवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्, प्रत्यासन्नतरे च चक्षुषः करतलरेखादौ विकल्प्ये दृश्याध्यारोपाद्वैशद्यप्रसङ्गात्। यदि पुनरदृष्टविशेषवशाद्दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यारोपाविशेषेपि क्वचिद्वैशद्यमवैशद्यं च यथाप्रतीत्यभिधीयते तदा तत एवेन्द्रियजत्वाविशेषेपि कचिद्वैशद्यप्रतिभासोन्यत्रान्यथेति नैकान्तेन दर्शनस्य विशदात्मकत्वमर्थसन्निधानापेक्षत्वं वा यतः परमार्थैकतानत्वान्नियमः स्यात्, न पुनः शब्दबुद्धिवदुपादाननियमादिदिति। न शब्दबुद्धेरवस्तुविषयत्वेप्युपादाननियमाद्विशेषः, परार्थानुमानस्य वक्त्रऽभिप्रेतसमये त्रिरूपहेतुसूचित्वादविसंवादादितरवचनाद्विशेष इति चेत्, न, तथापि क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा न किंचित् सत्यं स्याद्वक्त्रऽभिप्रेतमात्रसूचित्वात् प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत्। न हि वक्त्रभिप्रेतमात्रसूचित्वाविशेषेपि क्षणभङ्गादिसाधनं प्रतिपक्षदूषणं वा सत्यं न पुनः प्रधानेश्वरादिसाधनमिति शक्यव्यवस्थम्, यतस्तदेव संवादि स्यात्, सर्वथा विशेषाभावात्। सदर्थाप्रतिपादनाद्वा न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यम्, प्रसिद्धालीकवचनवत्। ननु च व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः। ते हि दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य यथेष्टं व्यवहरन्ति। क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा सत्यम्, न प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यम्। परमार्थतस्तु न किंचिद्वचनमवितथम्। इत्यभ्युपगमेपि दृश्यविकल्प्यार्थाकारयोः कथंचिदप्यतादात्म्ये स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षणं दानादिचेतोधर्मादिक्षणवत् कथं संशीतिमतिवर्तेत? निर्विकल्पकदर्शनात्तदवधारणासंभवात् विकल्पानां चावधास्तुविषयत्वात्। सोयमविकल्पेतरराश्योरर्थेतरविषयत्वमन्यद्वा स्वांशमात्राव-

लम्बिना विकल्पान्तरेण प्रत्येतीति सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः । न ह्यविकल्पेतरराश्योरर्थानर्थविषयत्वं विशदेतरात्मत्वं वाऽनुपप्लवेतररूपत्वं वा येन विकल्पान्तरेण प्रत्येति । तद्वस्तुविषयं युक्तम्, तस्य विकल्पराशावनर्थविषयेनुप्रवेशात् । स्वत एव विकल्पसंविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोपि विकल्पः स्यात् । परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्तिः अतोर्थविकल्पोपि मा भूदित्यन्धकल्पं जगत् स्यात्, स्वयमनिश्चयात्मनो विकल्पादर्थनिश्चयानुपपत्तेः । न चायं परोक्षबुद्धिवादमतिशेते, सर्वथार्थचिन्तनोच्छेदाविशेषात् । यथैव ह्यप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति तथा स्वयमनिश्चितात्मोपलम्भस्यापि । स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना बुद्धिरर्थं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् । न वै स्वरूपं पररूपं वा बुद्धिरध्यवस्यति निर्विषयत्वाद्भ्रान्तेः स्वप्नबुद्धिवदिति विभ्रमैकान्तवादिवचनम् । इदमतो भ्रान्ततरं, बहिरन्तश्च सद्भावासिद्धेः । स्वप्नादिभ्रान्तज्ञानं हि बहिरर्थासत्त्वादेव, न पुनः स्वरूपासत्त्वात्, इदं तु विभ्रमैकान्तसंवेदनं बहिरन्तरप्यर्थासत्त्वादिति कथं न तदतिशेते ? न चास्य स्वरूपसत्त्वं, तद्व्यवस्थानस्य विपक्षव्यवच्छेदेन प्रतिपत्तिपथमुपनेतुमशक्तेः । स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां प्रत्येतीति किमपि महाद्भुतम् । संवृत्त्या प्रत्येतीति चायुक्तम्, कथंचिदपि परमार्थप्रतिपत्त्यभावे संवृतिप्रतिपत्त्ययोगात् परमार्थविपर्ययरूपत्वात्संवृतेः । अन्यथा परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रमबाधाकरमेव परेषामनुषज्येत । सोयं संवृत्त्या विभ्रमैकान्तसाधनमविभ्रमदूषणं च प्रत्येतीति परमार्थतो न प्रत्येतीति उपेक्षणीयवचन एव । तमन्येऽप्याप्यनुमन्यन्ते इत्यचिन्त्यमनल्पतमतमोनिबन्धनमशक्यपर्यन्तगमनमिहाद्भुतम् ॥ ३१ ॥

किञ्चेत्यादिना, इत्यन्ये इति, अन्ये सौगताः, स्वयमिति अन्यगिरामसत्यत्वे इष्टापत्तिवारणाय अभिधेयत्वमित्यनन्तरं युक्तिसिद्धमिति शेषो द्रष्टव्यः । 'समयान्तरभेदेष्विति' तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेषु प्रधानेश्वराद्यर्थेष्वपारमार्थिकेष्वि-

त्यर्थः । उपादानविशेषाद्विलक्षणविकल्पात् । प्रत्यासन्नेऽर्थे इति दर्शनविषयाध्यारोपाधिष्ठानविषयकत्वं विकल्पस्य वैशद्यं विकल्पविषयाध्यारोपाधिष्ठानविषयकत्वं च दर्शनस्यावैशद्यमित्यर्थः, यद्यप्यत्र दर्शनविकल्पयोरन्तराध्यारोपानवकाशः, औत्तरकालिकश्चारोपो धर्मिणं विना धर्मानुत्पत्तेरभित्तिचित्रार्पितः, तथापि सन्निकर्षविप्रकर्षकृतो भेदाग्रह एव वैशद्यावैशद्यव्यवहारहेतुः स्वरूपतो वैशद्यं तु स्वलक्षणविषयत्वेनेत्यत्र तात्पर्यम्, यथाप्रतीत्यभिधीयत इति तथा व्यवहारस्य तथा प्रतीतिसाध्यत्वाद्भेदाग्रहस्य च विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदकत्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति भावः ॥ परमार्थैकतानत्वाद्वस्त्वेकावलम्बनत्वात्, नियमः स्याद्दर्शनेऽर्थप्रकाशकत्वस्येति गम्यम् । उपादाननियमाद्वासनाविशेषव्याप्तेः । भाष्ये प्रसिद्धालीकवचनवदिति नदीतीरे मोदकराशयः सन्तीति विप्रतारकवचनवदित्यर्थः । ननु वक्त्रभिप्रायसूचकत्वं तदवच्छेदकार्थानुमापकत्वं, तथा चैतानि पदानि वक्तृतात्पर्यविषयसंसर्गप्रमाणपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वा द्गामभ्याज दण्डेनेत्यादिपदवदित्यनुमानविधया शब्दप्रामाण्यं ताथागतानां न दुर्वचं काणादताथागतयोः प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयवादित्वात्, एवमपि वक्तृतात्पर्यसम्भावनामात्रहेतुतया शब्दप्रामाण्यप्रतिक्षेपे धूमादपि वह्निसम्भावनयैव प्रवृत्तिसम्भवादनुमानमात्रोच्छेदेन चार्वाकमतप्रवेशापत्तेरिति चेत्, नाननुमितममाक्षात्कृतं श्रुतमिदं मयाऽऽप्तमुखादिति प्रतीत्या शाब्द्याः प्रमाया अतिरिक्तत्वे तत्करणस्यानुमानातिरिक्तत्वात्, व्युत्पत्तिज्ञानादेः स्वातन्त्र्येण शाब्दबोध एव हेतुत्वाच्च । विलक्षणानुमितावेव तद्धेतुत्वोपगमे च विलक्षणमानस एव तद्धेतुत्वं किं न स्यात् येन शाब्दत्वं मानसत्वव्याप्यं न भवेत्, व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानेऽपि व्युत्पन्नस्य शब्दश्रवणेन शाब्दबोधाच्च नानुमानं शब्द इति दिक् । स्वांशमात्रावलम्बिनेति स्वमेवांशो भागस्तन्मात्रावलम्बिना परमार्थचि-

न्तायां स्वरूपमात्रग्राहिणेत्यर्थः । तदुक्तं 'न्यायविनिश्चयालङ्कारे' "स्वग्राह्यैकस्वभावोऽयं विकल्पस्तन्मते स्थितः । व्याहारादेः कथं तेन बहिरर्थस्य वीक्षणम् ॥ १ ॥" इति । 'स्वत एवेति' स्वत एव स्वग्राह्यार्थस्य विकल्पज्ञानेन तत्तत्प्रकारकत्वेन निर्णये बोधस्वरूपस्वलक्षणांशेऽपि विकल्पः सप्रकारकः स्यात्, न च त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे इष्टापत्तिः, बोधांशे निर्विकल्पकत्वेऽपि स्वात्मोभयव्यवहारजनकत्वेनैव स्वात्मविषयत्वव्यवस्थानात्, अन्यथाऽनुव्यवसायाकारपरम्पराभाजनत्वापत्तेरित्यर्थः । **विभ्रमैकान्तवादिवचनमिति** विभ्रमैकान्तवादी माध्यमिको ग्राह्यांशे ग्राहकांशे च तस्य विभ्रमवादित्वात्, वेदान्ती वा, विद्याया अप्यविद्याकार्यत्वेन तेन भ्रान्तत्वोपगमादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

एवं तर्हि मा भूत् पृथक्त्वैकान्तोऽद्वैतैकान्तवदशक्यव्यवस्थापनत्वात् । तदुभयैकात्म्यं तु श्रेय इति मन्यमानं वादिनं सर्वथा वाऽवाच्यं तत्त्वमातिष्ठमानं प्रत्याहुः—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्न वाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

अस्तित्वनास्तित्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोपि मा भूद्विप्रतिषेधात् । न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत् । यथैव हि वन्ध्याया विधिरेव तत्सुतप्रतिषेधः स एव वा वन्ध्याया विधिरिति वन्ध्यासुतयोरन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वं तथा पृथक्त्वस्वभावविधिरेव सर्वथैकत्वप्रतिषेधः स एव च तद्विधिः । इति कथमिव स्याद्वादमनिच्छतां विरुद्धधर्माध्यासः संभवेद्यतस्तदुभयैकात्म्यं तत्त्वमेकान्तवादिनः स्वीकुर्युः ? सर्वथानभिलाप्यतत्त्वाधिगमेपि यदेतदनभिलाप्यं तत्त्वमिति तद्व्याहन्यते, पूर्ववत् । इत्यलं प्रपञ्चेन ॥ ३२ ॥

पृथक्त्वैकत्वयोस्त्वविरोधात्तत् सम्भवत्येवेति भावः । वन्ध्याया विधिरेव तादात्म्येनेति द्रष्टव्यम् । तत्सुतप्रतिषेधः जनकतासम्बन्धेन सुताभाव इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि ॥ ३२ ॥

तदेवमेकत्वाद्येकान्तनिराकृतिसामर्थ्यात्तदनेकान्ततत्त्वप्रसिद्धावपि तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थमन्यथाशङ्कापाकरणार्थं च तत्सप्तभङ्गीं समाविर्भावयितुकामास्तन्मूलभङ्गद्वयात्मकत्वं जीवादिवस्तुनः प्राहुः ।

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः । तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

हि यस्मादवस्त्वेवानपेक्षे पृथक्त्वैक्ये--ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयात् प्रतिपादिते प्राक्, तस्मात्तदेवैक्यं पृथक्त्वं च जीवादिवस्तु कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयादवसीयते । यथा साधनं सत्त्वादि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणैर्भेदैर्विशिष्टमेकं प्रसिद्धमुभयोः । तत्राप्यन्वयव्यतिरेकयोरनपेक्षयोरवस्तुरूपत्वात् साधनलक्षणत्वायोगात् सापेक्षयोरेव तल्लक्षणत्वेन वस्तुस्वभावत्वसिद्धेः साम्यमुदाहरणस्य प्रतिपत्तव्यम् । किं पुनरनया कारिकया करोत्याचार्यः ? पूर्वेणैवास्यार्थस्य गतत्वादिति चेत्, एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः स्तः प्रत्यक्षादिविरोधादिति स्पष्टयति, गतार्थस्याप्यनुमानविषयत्वदर्शनात्स्पष्टत्वप्रसिद्धेः, प्रमाणसंप्लववादिनां गृहीतग्रहणस्यादूषणात् । तथा हि । पृथक्त्वैकत्वे तथाभूते न स्ताम्, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्व्योमकुसुमादिवत् । तथा हि । सर्वथा पृथक्त्वं नास्त्येव, एकत्वनिरपेक्षत्वाद्व्योमकुसुमवत् । सर्वथैकत्वं नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्तद्वदिति । अत्र न हेतुद्वयमसिद्धं तदेकान्तवादिनां तथाभ्युपगमात् । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, विपक्षवृत्त्यभावात् । सापेक्षत्वे हि तदेवैक्यं पृथक्त्वमित्यविरुद्धं कथंचिज्जीवादिवस्तु

पक्षधर्मत्वादीनां स्वारम्भकावयवादीनां वा विवक्षायां पृथगेव हेतुत्वेन घटावयव्यादित्वेन वा तदभेदविवक्षायामेक एव तथा सर्वं विवादाध्यासितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकघटनात् । कश्चिदाह, सर्वार्थानां समानपरिणामेपि कथमैक्यं भेदानां स्वभावसाङ्कर्यानुपपत्तेः । न हि भावाः परस्परेणात्मानं मिश्रयन्ति, भेदप्रतीतिविरोधात् । तेषामतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या समानव्यवहारभाक्त्वेपि परमार्थतोऽसंकीर्णस्वभावत्वात् । तदुक्तं “ सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ॥ १ ॥ तस्माद्यतो यथार्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः । जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥ २ ॥ ततो यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते । न स शक्यस्ततोऽन्येन, तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥ ३ ॥ ” इति । अत्राभिधीयते । जीवादिभेदानामैक्यं, यथैकभेदस्य स्वभावविच्छेदाभावात् । न हि स्वभावविच्छेदाभावादृते नीलस्वलक्षणस्य संवेदनस्य वा कस्यचिदेकस्य स्वयमिष्टस्याप्येकत्वनिबन्धनं किंचिदस्ति । नापि कथंचिद्भिन्नानामपि भावानां सत्सामान्यस्वभावेन विच्छेदोस्ति, तथा विच्छेदाभावस्यानुभवात् । अन्यथैकं सदन्यदसत् स्यात् । ततः समञ्जसं सर्वमेकं सदविशेषादिति, सदात्मना सर्वभावानां परस्परमिश्रणेपि साङ्कर्याप्रसक्तेः चित्रैकज्ञाननीलादिनिर्भासानां संविदात्मनैकत्वेपि साङ्कर्याप्रसक्तिवत् । नहि तेषामनेकत्वे चित्रज्ञानसिद्धिः सर्वथैकत्ववत् । तत एव न किंचिद्विभ्रज्ञानं निरंशसंवेदनाद्वैतोपगमादिति चेत्, न, तत्रापि वेद्याकारविवेकसंविदाकारयोः परोक्षप्रत्यक्षयोरेकसंवेदनत्वेपि साङ्कर्यानिष्टेरन्यथा संविदाकारस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् वेद्याकारविवेकवत् । तस्य वा प्रत्यक्षत्वं संविदाकारवत् स्यात् । न चैवं तद्विप्रतिपत्तिविरोधात् समारोपस्यापि सर्वथाप्यविशेषे क्वचिदेवासंभवान्निश्चयवत् । तस्यैव मतो द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वमुदाहरणं पूर्ववत् । तथा च बहिरन्तश्च भावानां सदात्मनैकत्वं द्रव्याद्यात्मना पृथक्त्वं च स्वस्वभावः सिद्धो, न पुनरसाधारणं भिन्नं रूपम् । तेन च स्वस्वभावेन व्यवस्थितेः

स्वभावपरभावाभ्यां भावाः स्वभावेनानुवृत्तिव्यावृत्तिभागिनो, न पुनरेकान्ततो व्यावृत्तिभागिनः। तस्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना भेदविशेषा एव प्रकल्प्यन्ते, न जातिविशेषाः, प्रतीतिविरोधात्। यतो यतस्त्वनुवृत्तिस्ततस्ततो जातयः प्रकल्प्यन्ते, तासामेवानुवृत्तिप्रत्ययलिङ्गत्वात्। ततो यो येन धर्मेण विशेषोऽविशेषश्च संप्रतीयते, न स शक्यस्ततोन्येन। तेन भिन्नाऽभिन्ना च व्यवस्थितिः पदार्थानां, तथा प्रतीतेर्बाधकाभावात्। ततः स्थितमेतत्, सत्सामान्यविवक्षायां सर्वेषामैक्यम्, द्रव्यादिभेदविवक्षायां पृथक्त्वमेव, इतरस्याविवक्षायां गुणभावात्॥ ३४॥

उक्तमेव विवृणोति वृत्तिकृत्–स्वभेदैरित्यादिना, सत्सामान्याच्चिति सर्वस्य वस्तुनः सत्त्वेनैक्यं द्रव्यादिभेदेन पार्थक्यं यथाऽसाधारणः शृङ्गग्राहिकयाऽभिहितः सत्त्वादिर्हेतुस्तद्धेतुत्वेनाभेदविवक्षयैकः पक्षधर्मत्वाद्यपेक्षया च पृथग्रूप इति। तथा चैकत्वं पृथक्त्वं च वैवक्षिकमेव नतु क्वचन विशिष्यविश्रान्तं द्रव्यार्थिकनयेनैकीकृतस्यैव पर्यायार्थिकनयेन पृथक्करणात्, तेन पृथक्कृतस्यैव चान्येनैकीकरणात्, सम्मतौ द्रव्योपयोगस्यापश्चिमविकल्पनिर्वचनत्वोक्तेः, कार्यकारणभावप्रवाहपतितानां द्रव्यपर्यायाणां तत्र विश्रान्त्या सम्भवेऽपि सामान्यतस्तदविश्रामात्, नीलादिस्वलक्षणज्ञानस्वलक्षणयोरपि रूपरसादिपर्यायैस्तत्तन्निर्भासभेदैश्च पृथक्त्वेन सर्वथैकत्वायोगात्, तत्तदात्मनि तत्तत्परमाणौ च द्रव्यैक्येऽपि पर्यायाविवक्षाप्रयुक्तद्रव्यविवक्षाया एव शरणत्वात्, देशप्रदेशकल्पनाविनिर्मुक्तवस्तुगोचरैवंभूतनयप्रवृत्तेरपि नयान्तराविवक्षाहेतुकत्वात्, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकोभयप्रवृत्तेरपि सर्वत्र नियमस्य भजनामात्रेण च क्वचन तदपवादस्य शास्त्रसिद्धत्वात्, सर्वेषां नयानां स्वस्ववचनीयसत्यत्वेऽपि च परविचारप्रवृत्तौ मोघत्वादित्यादिरहस्यं सहृदयैः स्वयं बोध्यम्। ज्ञापकः साध्यज्ञानजनकज्ञानविषयः,

कारकोऽनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ती, जातिभेदा अतद्व्यावृत्तिरूपास्तुच्छाः, तद्विशेषावगाहिनस्तद्विशेषाकारज्ञानविषयाः, यथाश्रुतेऽवगाहित्वस्य ज्ञानधर्मस्य जातिभेदविशेषणत्वानुपपत्तेरिति द्रष्टव्यम्। भिन्नं रूपं गुणान्तरं पदार्थान्तरं वा, इतरस्याविवक्षायां गुणभावादिति गुणभावस्तत्प्रकारकबोधोद्देशेन वचनाप्रवृत्तावप्यभेदसंसर्गप्रवेशमर्यादया भानं, तत्र मूलं चानन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकोऽपि धर्मस्तदितरसकलधर्माभिन्नत्वविशिष्टसंसर्गेण भातीति व्युत्पत्तिः। नन्वेकत्वमभेदः पृथक्त्वं च भेदः साधनमेकं पक्षधर्मत्वादिना न भिद्यते किन्तु भिन्नप्रकारकप्रतीतिविषयो भवतीति दृष्टान्तावष्टम्भेन जीवादिवस्तुन्येकत्वपृथक्त्वयोरन्योन्यानुगमसाधनं युक्तिरिक्तमिति चेत्, न, धूमो वह्नौ धूमत्वेनैको हेतुः पक्षधर्मत्वादिरूपैः पृथग्रूपः, दण्डो घटे दण्डत्वेन हेतुर्द्रव्यत्वेन न हेतुरिति प्रतीत्या हेतावेकत्वपृथक्त्वयोर्भेदाभेदयोश्चान्योन्यानुगमसिद्धान्तदृष्टान्तेन जीवादिवस्तुनि तत्साधनस्य युक्तिपथानतिवर्त्तित्वात्। न च द्रव्यत्वेन न हेतुरित्यत्र द्रव्यत्वानवच्छिन्नहेतुतावानर्थः, मूले वृक्षः संयोगी न शाखायामित्यत्रापि शाखानवच्छिन्नसंयोगवद्विषयकत्वापत्तेः, दण्डोऽदण्डश्च द्रव्यत्वेन न हेतुरित्यत्रागतेश्च। युक्तिसिद्धे च भेदस्याव्याप्यवृत्तित्वे किमेकत्रापेक्षया भेदाभेदोभयावगाहिप्रतीतेरन्यविषयत्वकदर्थनेन, न च द्रव्यत्वावच्छिन्नतादात्म्येन हेतुमति द्रव्यत्वेन हेतुभेदोऽप्यसम्भवीति शङ्कनीयम्। तादात्म्येन तत्तद्धेतुतत्तद्भेदयोस्तत्तद्धेतुतावच्छेदकतदनवच्छेदकभेदेन सत्त्वस्वीकारात् प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावावच्छेदकत्वेऽतिप्रसङ्गस्तु कथञ्चित् पक्षेणैव प्रतीत्यबाधया परिहरणीय इति दिग्॥ ३४॥

विवक्षाऽविवक्षयोरसद्विषयत्वान्न तद्वशात्तत्त्वव्यवस्था युक्तेति मन्यमानं प्रत्याहुः सूरयः—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि । सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः॥३५॥

क्रियते इति विशेषः विशेष्योर्थस्तावदनन्तधर्मा प्रागुक्तः । तत्र कस्यचिद्विशेषणस्यैकत्वस्य सत एव विवक्षा पृथक्त्वस्य च सत एव वाविवक्षा, न पुनरसतः क्रियते तैः प्रतिपत्तृभिरेकत्वपृथक्त्वाभ्यामर्थिभिः, सर्वथा तत्र कस्यचिदर्थित्वानर्थित्वयोरसंभवात्, तस्य सकलार्थक्रियाशक्तिशून्यत्वात् खरविषाणवत् । न हि कस्यचिद्विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वे सर्वस्यासत्त्वं युक्तम्, कस्यचित् प्रत्यक्षविषयस्य केशोंडुकादेरसत्त्वे सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षाभासविषयस्यासत्त्वं, न पुनः सत्यप्रत्यक्षविषयस्येति चेत्, तर्ह्यसत्यविवक्षाविषयस्यासत्त्वमस्तु, सत्यविवक्षाविषयस्य तु मा भूत् । न काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवदिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य सत्यत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात् तदसत्यत्वे साध्याप्रसिद्धेः । यतोनुमानविकल्पादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां न विसंवाद्यते, तद्विषयः सन्नेवेति चेत्तर्हि यतो विवक्षाविशेषादर्थं विवक्षित्वा प्रवर्तमानो न विसंवाद्यते तद्विषयः कथमसन् भवेत् ? अविवक्षाविषयोऽसन्नेवान्यथा तदनुपपत्तेरिति चेत, न, सकलवाग्गोचरातीतेनार्थस्वलक्षणेन व्यभिचारात् । सर्वस्य वस्तुनो वाच्यत्वान्नाविवक्षाविषयत्वमिति चेत्, न, नाम्नस्तद्भागानां च नामान्तराभावादन्यथानवस्थानुपङ्गात् तेषामविवाक्षाविषयत्वेपि सत्त्वे कथमन्यदपि विशेषणमविवक्षाविषयत्वे सदेव न सिध्येत् ? तदेवं विधिप्रतिषेधधर्माणां सतामेव विवक्षेतराभ्यां योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावात् न ह्यर्थक्रियार्थिनिष्पत्तिमनपेक्ष्य विवक्षेतराभ्यां योगः संभवति, येन तदभावेपि स स्यात् । उपचारमात्रं तु स्यात् । न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात्, पाकादावुपयुज्यते । ननु चान्यव्यावृत्तय एव विवक्षेतराभ्यां युज्यन्ते, न वस्तुस्वभावो, यतस्तयोः सद्विषयत्वमिति चेत्, न, शब्देभ्यो वस्तुनि प्रवृत्तिविरोधात्, व्यावृत्तितद्वतोरेकत्वाध्यारोपात्तद्वति प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अध्यारोपस्य विकल्प-

त्वेनार्थाविषयत्वात् स्वाविषयेण व्यावृत्तेरेकत्वारोपणायोगात् । सामान्येनार्थोऽध्यारोपविकल्पविषय एवेति चेत्तदपि यद्यन्यव्यावृत्तिरूपं तदावृत्त्यैव व्यावृत्तेरेकत्वारोपात्कुतोऽर्थे प्रवृत्तिः ? तामिच्छता तदेकैकशः परपरव्यावृत्तयोपि परिणामविशेषा एषितव्याः ॥ ३५ ॥

विकल्परूपत्वादिति, न च पक्षावृत्तित्वेनास्यासिद्धत्वं, विवक्षाया मोहाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वेनास्य पक्षवृत्तित्वात्, नाम्नो घटादिनाम्नः, तद्भागानां च घकारटकाराद्यक्षराणाम्, उपचारमात्रं तु स्यादिति मुख्यार्थबाधे तद्योगरूढिप्रयोजनान्यतरसंपत्तेरेव तद्धेतुत्वादिति भावः । न चाग्निरित्यादि, ततः सतामेवार्थानामर्थिविवक्षेतराभ्यां योग इति निर्व्यूढम् ॥ ३५ ॥

योप्याह भेद एव परमार्थसन्नर्थानां नाभेदस्तस्य संवृतिसत्त्वादन्यथा विरोधादिति । अभेद एव तात्त्विको भावानां न भेदस्तस्य कल्पनारोपितत्वादन्यथा विरोधानुषङ्गादिति चापरः तौ प्रति सूरयः प्राहुः –

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती । तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ ३६ ॥

अभेदस्तावत्सन्नेव न पुनः संवृतिविषयः प्रमाणगोचरत्वाद्भेदवत् । भेदः सन्नेव न पुनः संवृतिः प्रमाणगोचरत्वादभेदवत् । भेदाभेदौ सन्तावेव, न पुनः संवृती, प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववदित्यपि पक्षान्तरमाक्षिप्तं लक्ष्यते, तदुभयसंवृतिवादिनोपि सकलधर्मविधुरत्वमनुमन्यमानस्य भावात् । न चात्र साध्यसाधनधर्मविकलमुदाहरणं, भेदाभेदतदुभयानुभयैकान्ताभिधायिनां तत्प्रसिद्धेः स्याद्वादिवत् । तथैकत्र वस्तुनि भेदाभेदौ परमार्थसन्तौ ते भगवतो न विरुद्धौ प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववत् । इति सामर्थ्यात् परस्परनिरपेक्षौ भेदाभेदौ विरुद्धावेव प्रमाणागोचरत्वाद्भेदैकान्तादिवत् इति कारिकायामर्थसङ्ग्रहः । किं पुनः प्रमाणं यद्गोचरत्वमत्र हेतुरिति चेत्

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वादित्यग्रे वक्ष्यति । अधिगमो हि स्वार्थाकारव्यवसायः । स्वार्थाकारौ च कथंचिद्भेदाभेदौ, तदन्यतरापाये‌ऽर्थक्रियानुपपत्तेस्तदेकान्ते सर्वथा तदयोगात । तदेवं सति भेदमभेदं वा नान्योन्यरहितं विषयीकरोति प्रमाणम् । न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते । इति भेदैकान्ताभावेऽभेदैकान्तासत्त्वे च परस्परनिरपेक्षतदुभयैकान्तापाकरणेऽनुभयैकान्तापसारणे च साध्ये स्वभावानुपलब्धिः, स्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलभ्यमानत्वसिद्धेः । न चेयमसिद्धा, सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात । न हि प्रत्यक्षे स्वलक्षणं सूक्ष्मं परमाणुलक्षणं प्रतिभासते स्थूलस्य घटाद्यात्मनः प्रतिभासनात् । परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टौ प्रतिभासमानेषु कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि परत्र चासन्तमेव स्थूलाकारमादर्शयन्ती संवृतिस्तान् संवृणोति केशादिभ्रान्तिवदिति चेत्, नैवं, बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसङ्गात्, संव्यवहारतः परमार्थतो वा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति लक्षणस्यासंभवदोषानुषङ्गात्, परमाणूनां जातुचिदध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात । ते इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः, स्वावयवभिन्नैकावयविवत् । न हि सोपि सूक्ष्मस्वावयवव्यतिरिक्तो महत्त्वोपेतः प्रत्यक्षे प्रतिभासते, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवत । समवायात्तेभ्योऽनर्थान्तरमिव प्रतिभासते इति चेत्, न, अवयविप्रत्यक्षस्य सर्वत्र भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तथा चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात् । न चैतेऽवयवा अयमवयवी समवायश्चायमनयोरिति त्रयाकारं प्रत्यक्षमनुभूयते सकृदपि, यतोऽसावप्यमूल्यदानक्रयी न स्यात, प्रत्यक्षबुद्धावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणाविशेषात् । तत एव परस्परभिन्नावयवावयविनामपि प्रत्यक्षे प्रतिभासनादमूल्यदानक्रयिणावुक्तौ, समवायवत । सर्वं वस्तु क्षणिकपरमाणुरूपं, सत्त्वात्, नित्यस्थूलरूपे

क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेस्तद्योगादित्यनुमानेन स्वलक्षणमध्यवसीयते इति चेत्, न, अत्र हेतोर्विरुद्धत्वात्, सत्त्वस्य कथंचिन्नित्यानित्यात्मकसूक्ष्मस्थूलात्मकत्वेन व्याप्तत्वात्, सर्वथा नित्याद्येकान्तरूपे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्तत्त्वानुपपत्तेः समर्थनात्। एतेन स्थूलमेवावयवि द्रव्यं सूक्ष्मावयवरहितं प्रतिभासते इति व्युदस्तम्, तदनुमानस्यापि विरुद्धत्वाविशेषात् प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाच्च हेतोरतीतकालत्वात्यव्यवस्थितेः। अत एव नोपमानादावपि तत्प्रतिभासनमिति नासिद्धं सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनम्, यतस्तत्प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्न सिध्येत्। तत्प्रतिषेधे च सिद्धः सूक्ष्माद्यनेकान्तः। तत्र स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य गुणभावः स्यात्, घटोयं परमाणवो रूपादयो वेति। घटार्थिनो हि घटविवक्षायां घटः प्रधानं परमाणवोऽनुमेयाः, प्रत्यक्षाश्च रूपादयो गुणीभूताः, तदनर्थित्वादविवक्षाप्रसिद्धेः। तदर्थिनां तु तद्विवक्षायां त एव प्रधानं न पुनर्घटोवयवी, तद्विवक्षायाः संभवाभावात्तदर्थित्वानुपपत्तेः। न च तदुभयसत्त्वाविशेषादविशेषेणार्थित्वमनर्थित्वं वा प्रसज्यते, तस्य तत्सत्तामात्रानिबन्धत्वात्, मोहविशेषोदयहेतुकत्वात् तदुदयस्यापि मिथ्यादर्शनादिकालादिनिमित्तकत्वात् ॥ तदेवं स्याद्द्वैतं, स्यात् पृथक्त्वमिति मूलभङ्गद्वयं विधिप्रतिषेधकल्पनयैकवस्तुन्यविरोधेन प्रश्नवशादुपदर्शितम्। शेषभङ्गानां तु प्रक्रिया यथोदितनयविशेषवचनभाक् 'एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्' इत्याद्यतिदेशकारिकानिर्देशसामर्थ्यात्प्रपञ्चतो निश्चेतव्या ॥ ३६ ॥

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलङ्घ्यवीर्याः, स्यात्कारामोघमन्त्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः ॥
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मण्डलं जैनमग्र्यं, वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥१ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

कारिकायां न संवृती इति, संवृतिपदस्य संवृतिविषये लाक्षणिकत्वान्न सांवृतावित्यर्थः। अविरुद्धावित्यतः पूर्वं वक्तुमिति शेषः। एकत्राविरुद्धतया वचन एव गुणमुख्यविवक्षाया हेतुत्वसम्भवादित्यर्थः। न चेयमसिद्धेति एतेषु साध्येषु इयं स्वभावानुपलब्धिरसिद्धा न॥ सूक्ष्मेत्यादिभाष्यम् सूक्ष्मस्थूलाकाराणामवयवावयविरूपाणां विषयाणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेणावयव्यवयवस्वभावानुपरागेण, अन्यासन्नासंसृष्टेष्विति अयोग्यपरमाणुभ्यो योग्यपरमाणूत्पत्त्युपलक्षणमेतत्, तेन वाय्वादेरचाक्षुषत्वमप्युपपादितं भवति. शक्तिविशेषेणैवाणूनां चाक्षुषादिजननयोग्यत्वादिति बोध्यम्। 'संवृणोतीति' तथा च घटादावेकत्वग्रहहेतुरनेकत्वग्रहप्रतिबन्धकश्च दोष एव संवृतिः, संवरणाच्चान्वर्थत्वं संज्ञाया इत्युक्तं भवति, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवदिति। यथा कुण्डादिव्यतिरिक्तं दधि प्रतिभासते तथा स्वावयवव्यतिरिक्तोऽवयवी न प्रतिभासत इति व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम्। अनर्थान्तरमिवेति तन्तव एव पट इत्यवयवभिन्नोऽप्यवयवी समवाययोगात्तदभिन्नत्वेन भासत इत्यर्थः। 'प्रत्यक्षलक्षणमिति' "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इत्यक्षपादसूत्रोक्तप्रत्यक्षलक्षणघटकमित्यर्थः। अत्र हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारिप्रत्यक्षमित्येतदेव लक्षणम्, अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं चेत्येतावत् निर्विकल्पकत्वसविकल्पकत्वाभ्यां विभागपरमित्यादि व्यवस्थितं न्यायसिद्धान्तमालायाम्। न चेत इति समवायाप्रत्यक्षत्वं च वैशेषिकेणापि स्वीक्रियते, तच्च न सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् समवायसंयोगान्यतरत्वगर्भं सम्बन्धत्वं परित्यज्य संयोगप्रत्यक्षत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वादिति विषयासत्त्वादेव तदप्रत्यक्षत्वं स स्वीकारणीयः, तत्सम्बन्धतत्सम्बन्धादिप्रत्यक्षपरम्पराभियाद्य (भिया ह्यस्य सुग्राह्यत्वम्, अन्यथा समवायस्य

सत्त्वे तत्प्रत्यक्षमिव तत्सम्बन्धतत्सम्बन्धपरम्पराऽपि प्रत्यक्षा स्यात्) प्रत्यक्षादाविति भाष्यस्थादिशब्दगृहीतानुमानादावपि सूक्ष्मस्थूलाकाराः स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण न प्रतिभासन्त इति समर्थयितुमनाः प्राह-सर्वं वस्त्वित्यादिना प्रत्यक्षबाधितेति अवयवसहितस्यैवावयविनः प्रत्यक्षे भानादित्यर्थः, गुणीभूता इति, यावत्स्वप्रदेशगुणपर्यायविशिष्टतादात्म्यसंसर्गेणैवेदंतादृग्घटे भानाभ्युपगमादित्यर्थः । तदनर्थित्वादिति रूपाद्युद्देश्यकजिज्ञासाभावादित्यर्थः, तत्सद्भावे तु जायत एवैते रूपादयो घट इति प्रत्यक्षमिति भावः । यद्यपि विवक्षा शाब्दबोध एव प्रयोजिका, न प्रत्यक्षे, नापि जिज्ञासा, घटदिदृक्षयोन्मीलितनयनस्य पुरःस्थितपटप्रत्यक्षानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तथापि प्रधानगुणभावेन तथातथाप्रत्यक्षे तत्तदर्थित्वादिनियन्त्रितक्षयोपशमस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां विशिष्य हेतुत्वात्तानुपपत्तिरिति सर्वमनवद्यम् । शिष्टं सुगमम् ॥ ३६ ॥

इत्येकत्वपृथक्त्वचिन्तननयौ यौ सप्तभङ्ग्यावहौ, तावुन्मग्नजलानिमग्नजलयोः साहाय्यमन्विच्छतः ॥
उल्लङ्घ्य द्वयमस्तमोहविषमम्लेच्छो लिखित्वाभिधां, स्याद्वादर्षभकूट एव हि निजां स्याच्चक्रवर्त्ती बुधः ॥१॥

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपंडितश्रीलाभविजयशिष्याग्रेसरपंडितश्रीजितविजयगणिसतीर्थ्यालंकारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचंचरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे द्वितीयः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

ॐ 卐 ॐ ॥ अथ तृतीयः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐 ॐ

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि, विक्रिया नोपपद्यते । प्रागेव कारकाभावः, क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥

अष्टशती प्रथितार्था, साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ॥ विलसदकलङ्कधिषणैः, प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥१॥

सदसदेकत्वपृथक्त्वैकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः, प्रक्रमायातोऽनेनेति तात्पर्यम् । तत्र नित्यत्वैकान्तः कूटस्थत्वाभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञानम् । तस्मिन्नपि विविधा क्रिया परिणामपरिस्पन्दलक्षणा नोपपद्यते । कार्योत्पत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तौ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यते इति कूटस्थः प्रागेव कारकः स्यादात्मा भोगस्य । अथ प्रागेव कारकाभावस्तदा विक्रियापि नोपपद्यते इति शश्वदकारकः स्यात् तदविशेषात् । सोऽस्त्वकारकोऽविक्रियश्चेति चेत्, कैव प्रमाणं प्रमितिलक्षणं च तत्फलमुपपद्येत ? प्रमातुरभावे तदसंभवात् । न ह्यकारकः प्रमाता नाम, प्रमितिक्रियासाधनस्य कारकविशेषस्य स्वतन्त्रस्य प्रमातृतोपपत्तेः । सकलकार्योत्पत्तिपरिच्छित्तिक्रिययोः सर्वथाप्यसाधनस्य सत्त्वासंभवादवस्तुत्वापत्तेः कथमात्मसिद्धिः परस्य स्यात् ? खरविषाणादिसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु चात्मनश्चेतनैवार्थक्रिया, न पुनः स्वव्यतिरिक्तकार्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, तस्याः प्रधानहेतुत्वात् । न च चेतना पुंसोऽर्थान्तरमेव, तस्य तल्लक्षणत्वात् "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" इति वचनात् । न चानित्या चेतना, नित्यपुरुषस्वभावत्वात् साक्षित्वादिवत्, तस्याः प्रधानस्वभावत्वे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत् । न च नित्यायाश्चेतनायाः परस्यार्थक्रियात्वं विरुद्ध्यते धात्व-

र्थरूपायाः क्रियायाः प्रतिघाताभावात्सत्त्वात् । ततोऽर्थक्रियास्वभावत्वादात्मनो वस्तुत्वमेव । न ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वमर्थक्रियायाः स्वयमवस्तुत्वापत्तेस्तत्रार्थक्रियान्तराभावादन्यथानवस्थाप्रसङ्गात् । स्वतोऽर्थक्रियाया वस्तुस्वभावत्वे पुरुषस्यापि स्वतः शश्वदर्थक्रियास्वभावत्वान्नित्यं वस्तुत्वमस्तु, विक्रियाविरहेऽपि नित्यकारकत्वस्यापि घटनात् । इति कश्चित्, सोपि न परीक्षादक्षधिषणः, प्रमाणविरोधात्. प्रत्यक्षतोऽनुमानादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः कदाचिदपरिच्छेदात् । स्वसंवेदनमेव नित्यचेतनार्थक्रियां परिच्छिनत्तीति चेत्, न, तथा तद्बुद्ध्यानध्यवसायात् । न हि बुद्ध्यानध्यवसितां चेतनां पुरुषश्चेतयते, बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, सर्वस्य शब्दादेर्विषयस्य बुद्ध्यनध्यवसितस्यैव पुंसा संवेद्यत्वसिद्धेः । स्यान्मतं ' न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरं पुंसोऽस्ति या बुद्ध्याध्यवसीयते तस्यास्तत्स्वरूपत्वात् स्वतः प्रकाशनाच्च ' इति तदप्ययुक्तं, तदर्थक्रियात्वायोगात् । न ह्यर्थक्रियावतः स्वरूपमेव सदावस्थाय्यर्थक्रिया प्रसिद्धास्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन च स्वस्मिन् परत्र वा प्रतीतेः । सोऽयं पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येपि ब्रुवाणः कथमनुन्मत्तः ? सा ह्यर्थक्रियोत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । न च शश्वदवस्थिते सर्वथासौ प्रतीयते, तत्र कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात् । न हि पुरुषस्यार्थस्योत्पत्तिश्चेतनाक्रिया येन कारकहेतोरुपादानस्य सहकारिणो वा व्यापारस्तत्र भवेत् । तथोपगमे वा तस्यानित्यत्वानुषङ्गात्कुतः कौटस्थ्यसिद्धिः ? चेतना पुंसो ज्ञप्तिक्रियेत्यपि न युक्तं, यतस्तत्र ज्ञापकहेतोः प्रमातुः प्रमाणस्य च व्यापारः स्यात् । स्यान्मतं ' न पुरुषलक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । किं तर्हि ? स्वभाव एव, तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात् ' इति तदप्यसत्, पुंसः परिणामसिद्धिप्रसङ्गात्, परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् । ननु च ' स्थितस्य धर्मिणः पूर्वाकारतिरोभावेनोत्तराकाराविर्भावः परिणामः । स कथं स्वभावपर्यायः ? सदावस्थितस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । एतेन विवर्तविकारा-

वस्थानां स्वभावपर्यायत्वं व्युदस्तं, विवर्तादीनां कादाचित्कत्वात् । तत एव धर्मविशेषस्य न स्वभावपर्यायत्वम् । धर्मसामान्यस्यापि साधारणत्वादसत्त्वमेव, शश्वदनपायिनोऽसाधारणस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् ।' इति कश्चित्, सोपि न तत्त्ववित्, सततावस्थितस्यैकान्ततः कस्यचित्स्वभावस्यासंभवात् । स हि न तावत्सकलप्रमाणेनापरिच्छिद्यमानः प्रतिष्ठामियर्ति, अतिप्रसङ्गात् । परिच्छिद्यमानस्तु पूर्वापरिच्छिद्यमानरूपताव्यवच्छेदेन परिणामलक्षणानुसरणात् कथं न स्वभावः परिणाम एव स्यात्तदन्तत्पर्यायो न स्यात्? एतेन विवर्तादीनां स्वभावपर्यायत्वमुक्तं, तद्वत्स्वभावस्यापि कथंचित्कादाचित्कत्वसिद्धेः । धर्मसामान्यस्य तु यथा साधारणत्वं तथा स्वभावसामान्यस्यापि, परिणामादिसामान्यवत् । ततः परिणामादिविशेषाणां स्वभावविशेषपर्यायत्वं परिणामादिसामान्यानां तु स्वभावसामान्यपर्यायता व्यवतिष्ठते । पूर्वोत्तराकारयोस्तिरोभावाविर्भावौ तु नाशोत्पादावेव नामान्तरेणोक्तौ, सर्वथा तदभावे स्वभावस्यासंभवात् । तदेतद्विनाशोत्पत्तिनिवारणमबुद्धिपूर्वकं प्रत्यक्षादिविरोधात् क्षणिकैकान्तवत् । नेदमसिद्धं साधनं, पुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् स्मरणात्प्रत्यभिज्ञानादूहादनुमानाच्छ्रुताच्च प्रमाणात् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणात्प्रतिपत्तेः, विनाशोत्पत्तिरहितस्य जातुचिदप्रतीतेः प्रत्यक्षादिविरोधस्य निश्चयात् । एतेन क्षणिकैकान्तनिदर्शनस्य साधनविकलता निरस्ता, सर्वथा स्थितिरहितस्य चेतसः प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्तद्विरोधस्य सिद्धेः । साध्यशून्यता च न संभवति, स्थितिमात्राभिनिवेशस्येव निरन्वयक्षणिकाभिनिवेशस्यापि मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात् । एतेनाव्यक्तं नित्यमेवेत्यपास्तं, व्यक्तस्यापि नित्यत्वानुषङ्गात्, नित्यादव्यतिरिक्तस्याप्यनित्यत्वे चैतन्यस्याप्यनित्यत्वापत्तेः । सर्वथा व्यक्तस्यापि नित्यत्वे प्रमाणकारकव्यापारविरोधात्तदप्रमेयमनर्थक्रियाकारि प्रसज्येत ॥ ३७ ॥

रमारमणशङ्करद्रुहिणचन्द्रसूर्यादयः, प्रसादमिव मूर्ध्नि यत्क्रमरजःकणं बिभ्रति ॥

प्रसीदतु स वो विभुर्द्धरणराजपद्मावती-निषेवितपदद्वयः प्रकटपार्श्वपुण्याह्वयः ॥ १ ॥

तृतीयपरिच्छेदे किंचिद् विविच्यते-साक्षित्वादिवदिति, प्रधानात् सकलकार्योत्पत्तावात्मनस्ताटस्थ्येनावस्थानं साक्षित्वम्, आदिना प्रकृतिभिन्नत्वादिग्रहः, पुरुषकल्पनावैयर्थ्यादिति पुरुषो हि प्रधानकार्यबुद्धितत्त्वनिष्ठचित्प्रतिबिम्बग्राहितयैव कल्प्यत इति, बुद्ध्याध्यवसितस्यैवेति अन्यथा पुरुषे विषयोपरागप्रसङ्गेन निर्द्धर्मकत्वव्याघातापत्तेः, परम्परासम्बन्धेनोपचारस्तु न तद्व्याहन्ति, उपलक्षणस्याविशेषकत्वादिति भावः। तस्या इति वस्तुत्वव्यवहारे तादृश्या एवार्थक्रियाया उपयुक्तत्वादिति भावः। किं तर्हि स्वभाव एवेति धात्वर्थरूपक्रियाश्रयणादिति भावः। पुंसोऽर्थस्य चेतनायाः स्वभावक्रियात्वोक्तौ स्वभावपदस्य परिणामपर्यायत्वात्परिणामाभ्युपगमप्रसक्तिरित्याह-पुंस इत्यादिना, स्वभावपदस्य न परिणामपर्यायत्वमित्याशयेन सांख्य आशंकते-ननु चेत्यादिना, अप्रच्युतत्वं भावस्वभावपर्यायत्वमेव, उक्तसांख्याशयं दूषयति जैनः सोऽपि न तस्याविक्रियात्विति, पर्यायपरिच्छिद्यमानत्वावच्छेदेनेति, न च परिच्छिद्यमानत्वापरिच्छिद्यमानत्वे न स्वभावं भेत्तुमलमिति वाच्यम्। अतद्व्यावृत्तेरपि स्वभावभेदनिबन्धनत्वस्य बहुधा व्यवस्थापितत्वात्, अन्यथाऽधिकृतचित्स्वभावस्यापि स्वभावान्तरस्यापरिनिरूपणत्वप्रसङ्गादिति ध्येयम्। सर्वथा तदभाव इति, त्रैलक्षण्यस्यैव स्वभावत्वव्यवस्थितेरित्यर्थः। एतेनेत्यादेरयमर्थोऽन्यात्मन एव स्वात्मनः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेन, एतेनात्मतत्त्वस्यैकान्तनित्यतानिराकरणेन वक्ष्यमाणकारिकार्थानुसारेण च, इष्टापत्त्याशङ्कायामाह-' सर्वथेत्यादि ' ॥ ३७ ॥

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं, व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्। ते च नित्ये विकार्यं किं, साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥ ३८ ॥

न हि प्रमाणं नित्यं नाम, तत्कृताभिव्यक्तेः प्रमितिरूपाया महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनि नित्यत्वप्रसङ्गात्। नापि कारकं नित्यं, तद्विहिताभिव्यक्तेरुत्पत्तिरूपायाः मानत्यप्रसक्तेः। तथा च न व्यक्तं प्रमाणकारकैरभिव्यक्तमिन्द्रियैरर्थवदिति शक्यं वक्तुम्, पूर्वमनभिव्यक्तस्य व्यञ्जकव्यापारादभिव्यक्तिप्रतीतेः। अथ मतम, प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भावं व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम्। ततो न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धमिति, तदप्ययमम्यक्, सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात् कथंचिदनित्यस्यैव प्रमाणकारकव्यापारविषयत्वविनिश्चयात्। चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावोपपादनेन च व्यञ्जयन्तः स्वयमव्यञ्जकरूपत्यागेन व्यञ्जकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजो दृष्टाः। न चैवं प्रमाणं कारकं च परैरिष्टम, तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात्। तत्कृतस्य च विषयविशेषविज्ञानादेः शाश्वतत्वान्न किञ्चिद्व्यक्त्यर्थं पश्यामः, कथञ्चिदपूर्वोत्पत्तौ तदेकान्तविरोधात्। न ह्यनेकान्तवादिनस्तव साधोः शासनाद्बहिर्विषयविशेषविज्ञानाभिलापप्रवृत्त्यादेरुत्पत्तिः कथञ्चिदपूर्वा युज्यते, यतोऽस्यामभ्युपगम्यमानायां नित्यत्वैकान्तविरोधो न भवेत्, तदभावे विकार्यानुपपत्तेः। न हि कथञ्चिदपूर्वोत्पत्त्यभावे किंचिद्व्यङ्ग्यं कार्यं वा विकार्यमुपपद्यते॥ ३८॥ न वै किंचिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमादित्यनालोचितसिद्धान्तम, कार्यस्य सदसत्त्वविकल्पद्वयानतिक्रमात्। तत्र—

प्रमाणेत्यादिकारिकायां ते च नित्ये इत्यन्तेन, यदि व्यक्तमिन्द्रियैरर्थवत् प्रमाणकारकाभ्यां व्यक्तं स्वीक्रियते ते च प्रमाणकारके नित्ये स्वीक्रियेते तर्हीत्यध्याहारात्तर्हि तदा, ते तव, साधोः शासनाद्बहिरन्यत्र, विकार्यं किं न किञ्चित्, प्रमाणकारककृताभिव्यक्तेरपि सदातनत्वादित्यक्षरार्थः। अत्र प्रमाणकारकैरित्यपपाठः बहुवचनान्तक्रान्तस्य ते इति द्विवचनान्ततच्छब्देन परामर्शायोगात्, किन्तु प्रमाणकारकव्यक्तमिति समस्तपाठ एव युक्तः, वृत्तौ बहुवचनान्तपाठस्य

तात्पर्यविवरणरूपत्वेनाप्युपपत्तेरिति ध्येयम् । भगवतः साधुत्वेनाभिधानं तच्छासनबहिष्ठानामसाधुत्वेन तदुत्प्रेक्षामात्रकल्पितप्रवचने विचारसम्मर्दासहिष्णुत्वमभिव्यनक्ति । न किञ्चिद्व्यक्त्यर्थं न किञ्चिदभिव्यक्तिप्रयोजनम्, तदेकान्तविरोधान्नित्यत्वैकान्तविरोधात् ॥ ३८ ॥

यदि सत्सर्वथा कार्यं, पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति । परिणामप्रक्लृप्तिश्च, नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

न तावत्सतः कार्यत्वं चैतन्यवत् । न हि चैतन्यं कार्यं, तत्स्वरूपस्य पुंसोपि कार्यत्वप्रसङ्गात्, यतस्तद्वन्महदादेः सत एव कार्यत्वं सिद्ध्येत् । नाप्यसतः, सिद्धान्तविरोधाद्गगनकुसुमादिवत् । "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः । स चासतः कार्यत्वे विरुध्यत एव । तथा 'यत्सर्वथाप्यसत् तन्नोत्पद्यते । यथा गगनकुसुमम् । सर्वथाप्यसच्च कार्यं कस्यचित् । इत्यनुमानविरोधश्च प्रत्येयः । नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति । तत एव न किंचित्कार्यं, केवलं वस्तुविवर्त एवेत्येकान्तोस्तीति चेत्, न, तस्याप्यसंभवात्, विवर्तादेः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वंसोत्पत्तिलक्षणत्वात्, तथोपगमे परिणामसिद्धेरनेकान्ताश्रयणप्रसङ्गात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादित्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, स्वदर्शनानपेक्षं यथोपलम्भमाश्रयस्वीकरणात् ॥३९॥ तदेवं नित्यत्वैकान्तवादिनां,—

सूत्रेऽवतरणिकोक्तद्वितीयविकल्पोत्तरस्यानुक्तां परिजिहीर्षुराह— भाष्यकृत्—' नाप्यसत इत्यादि ' परिणामसिद्धेरिति तथा च सूत्रे प्रक्लृप्तिपदार्थः प्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

पुण्यपापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः । बन्धमोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥

॥२५७॥

पुण्यपापक्रिया कायवाङ्मनःकर्मलक्षणा शुभाऽशुभा । सा प्रधाने तावन्नास्ति, सर्वथा नित्यत्वात्पुरुषवत् । तदभावे पुण्यपापयोः क्रिया उत्पत्तिलक्षणा नास्ति, कारणाभावे कार्यानुदयात् । ततः प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणस्तत्फलं च सुखाद्यनुभवलक्षणं कुतः स्यात् ? ततो बन्धमोक्षौ च यथोक्तलक्षणौ न सन्त्येषां येषां त्वमनेकान्तवादी नायको नासि । इति तात्पर्यार्थः । ततो नित्यत्वैकान्तदर्शनं नैतत् प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयं, पुण्यपापप्रेत्यभावबन्धमोक्षविकल्परहितत्वान्नैरात्म्यादिवत् । न चैतत् क्वचिदेकान्ते संभवति, कुशलाकुशलं कर्मेत्यत्र तदसंभवस्य समर्थितत्वात् ॥ ४० ॥ सत्यमेतन्नित्यत्वैकान्ते दूषणं क्षणक्षयैकान्तस्यैव प्रातीतिकत्वादिति वदन्तं वादिनं प्रत्याहुः—

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि, प्रेत्यभावाद्यसंभवः । प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न, कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

क्षणिकैकान्तपक्षे चेतसः कार्यारम्भो नास्ति, प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात् सन्तानान्तरचित्तवत् । तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात् । सन्तानः कार्यमारभते इत्यपि मिथ्या, तस्याऽवस्तुत्वविरोधात् कार्यारम्भकस्य वस्तुत्वात् । चित्तक्षणानां चावस्तुतापत्तिरकार्यारम्भकत्वात् । न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं पुण्यपापलक्षणं संभवति । तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात् । इति क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहितम्, असंभवत्प्रेत्यभावादित्वादुच्छेदैकान्तवद् ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा । न हि सर्वथोच्छेदैकान्ते शून्यतालक्षणे नित्यत्वैकान्ते वा प्रेत्यभावादिः संभवति, यतोऽयं दृष्टान्तः साधनधर्मविधुरः स्यात् । नापि प्रेक्षावतां तदाश्रयणं हितत्वेन मतं, येन साध्यविकलः स्यात् । अथ मतमेतत्, क्षणिकत्वेऽपि चित्तक्षणानां वासनावशात्प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं सुखसाधनमिति स्मरणपुरस्सरमुत्पद्यते । ततोऽभिलाषात्तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति कार्यारम्भात्पुण्यपापक्रियासिद्धेः प्रेत्यभावादिसंभवादसंभवत्प्रेत्यभावादित्वादिति

हेतुरसिद्धो न साध्यसाधनायालमिति, तदसत्, भिन्नकालक्षणानामसंभवद्वासनत्वादकार्यकारणवत् । पूर्वमेव चित्तमुत्तरोत्पत्तौ वासना तत्कारणत्वादिति चेत्, न, निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासंभवात् । तथाहि । न विनष्टं कारणमसत्त्वाच्चिरतरातीतवत् । समनन्तरातीतं कारणमिति चेत्, न, समनन्तरत्वेऽप्यभावाविशेषात् । न च पूर्वस्योत्तरं कार्यं, तदसत्येव हि भावाद्वस्त्वन्तरवदतिक्रान्ततमवद्वा, यतः पूर्वस्य कारणत्वनिर्णयः स्यात् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यमिति चेत्, न, तस्यासिद्धेः । न हि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा नित्यवत्, तद्भावे स्वयमभवतस्तदभावे एव भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात् । क्षणिकैकान्ते कारणाभावाविशेषेऽपि कार्योत्पत्तिसमयनियमावक्लृप्तौ कस्यचित्कौटस्थ्येऽपि तत्करणसमर्थसद्भावाभेदेऽपि कार्यजन्मनः कालनियमः किन्न स्यात् ? विशेषाभावात् । यथैव हि स्वदेशवत्स्वकाले सति कारणे समर्थे कार्यं जायते, नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीष्यते तथा स्वकालेऽनाद्यन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यमुपजायमानमन्यदानुपजायमानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कथं नानुमन्यते ? सर्वदा समर्थे नित्ये कारणे सति स्वकाले एव कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्, तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तदभावे विशेषशून्येऽपि क्वचिदेव तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि ? इति न कश्चिद्विशेषः । तदेवमन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाविशेषेऽपि क्षणिकैकान्ते एव कार्यजन्मेति वचनमभिनिवेशमात्रनिबन्धनम् । तथा चाकस्मिकत्वं स्यात्, समर्थं कारणमनपेक्ष्य स्वयमभिमतसमये भवतः कार्यस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तेर्नित्यकार्यवत् । उभयत्राविशेषेण कथञ्चिदनुपयोगेऽपि क्वचिद्व्यपदेशकल्पनायामन्यत्रापि किं न भवेत् ? क्षणिकस्य कारणस्य सर्वथा कार्यं प्रत्युपयोगाभावेऽपि तस्येदं कार्यमिति व्यपदिश्यते, न पुनर्नित्यस्य तादृश इति न किञ्चिन्निबन्धनमन्यत्र महामोहात् । नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्,

क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः। स हि क्षणस्थितिरेकोऽपि भावोऽनेकस्वभावश्चित्रकार्यत्वान्नानार्थवत्। न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत्। यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मादपि भावात् प्रदीपादेर्वर्तिकामुखदाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते। अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न सिध्येत्, चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोऽवकल्प्येत, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावभेदरहितमेकमनंशमिति वदतोपि निवारयितुमशक्तेः। चक्षुरादिबुद्धौ रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्रूपादयो नानैवेति चेत्, तर्हि वर्तिकामुखदाहादिकार्यानुमानबुद्धिषु विचित्रतच्छक्तिव्यतिरेकेण प्रदीपक्षणस्यैकस्याप्रतिभासनान्नानाशक्तय एव किं न स्युः? ॥ ननु च 'शक्तिशक्तिमतोरर्थान्तरानर्थान्तरभावपक्षयोः शक्तीनामघटनान्न ताः परमार्थसत्यः संभाव्यन्ते। ततस्तासामर्थान्तरभावे व्यपदेशानुपपत्तिः संबन्धाभावात्। तेन तासामुपकार्योपकारकभावसंबन्धकल्पनायां यदि शक्तिमता शक्त्यन्तरैः शक्तय उपक्रियन्ते तदानवस्था, अपरापरार्थान्तरशक्तिपरिकल्पनात्। तस्य शक्तिभिरुपकारेऽनेकोपकार्यरूपतापत्तिः। तदुपकार्यरूपाणां ततो भेदे तस्यानुपकारात्तद्व्यपदेशानुपपत्तिस्तदवस्था। तैस्तस्योपकारकरणेऽनवस्थितिरेव परापरोपकार्यरूपपरिकल्पनात्। शक्तिमतः शक्तीनामनर्थान्तरभावे शक्तिमानेव, न शक्तयो नाम अन्यत्रातद्व्यावृत्तिभ्यः कल्पिताभ्यः' इति चेत्, न, रूपादीनामपि द्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरभावविकल्पयोरघटनात् परमार्थसत्त्वाभावानुषङ्गात् प्रकृतदोषोपनिपाताविशेषात्, प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनरनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तय इति वक्तुमशक्तेः क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात्। क्षणक्षयादीनां प्रत्यक्षे प्रतिभातानामेव विपरीतारोपव्यवच्छेदेऽनुमानव्यापाराददोष इति चेत्, तर्हि नानाकार्यजननशक्तीनामपि प्रत्यक्षेऽवभातानामेव समारोपव्यवच्छेदे कार्यानुमानव्यापारात्क्वचि-

दपि दोषो मा भून् । नानाकार्यदर्शनात्तज्जननशक्तिरेका तादृश्यनुमीयते, न पुनर्नानाशक्तय इति चेत्तर्हि नानारूपादिज्ञाननिर्भासभेदात्तादृशैकस्वभावो द्रव्यस्य व्यवस्थाप्येन, न पुनर्नानारूपादय इति समः समाधिः। प्रदीपक्षणस्यैकस्य वर्तिकामुखादिसहकारिसामग्रीभेदान् तद्दाहादिविचित्रकार्यजननं न पुनः स्वभावभेदादिति चेत्तर्हि कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसहकारिसामग्रीभेदाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदो न पुना रूपाद्यनेकस्वभावभेदादिति निश्चीयते। युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनामपि भवितव्यमेव प्रतिभासभेदेन, कारणसामग्रीभेदात्। अन्यथा दर्शनभेदोपि मा भून् । न चैवं, प्रत्यासन्नेतरयोर्वैशद्येतरनिर्भासोपलब्धेः। सेयमुभयतः पाशारज्जुः सौगतानां, रूपादिज्ञाननिर्भासभेदाद्रूपादिभेदं व्यवस्थापयतः प्रदीपक्षणस्यैकस्य कार्यवैचित्र्यात् स्वभावभेदप्रसङ्गात्, तस्यैकस्वभावत्वं व्यवस्थापयतो रूपादिनानात्वाव्यवस्थापनात् । सकलकारणस्वभावभेदमन्तरेण यदि कार्यनानात्वं, क्रमशोपि कस्यचिदपेक्षितसहकारिणः कार्यसन्ततिः किं न स्यात् ? सहकारिणस्तद्धेतुस्वभावमभेदयन्तोपि कार्यहेतवः स्युः क्षणक्षयवत् । यथैव हि क्षणिकस्वलक्षणस्य नानाकार्याणि युगपदुपजनयतः सहकारिकारणानि न कञ्चिदतिशयं ततो भिन्नमभिन्नं वा समुपजनयन्ति, किं तर्हि ? कार्याण्येव भिन्नस्वभावानि विदधति। तथैव नित्यस्यापि। न हि कादाचित्कानि तत्तत्कर्तुं समर्थानीति स्थिरोर्थस्तत्करणस्वभावं जहाति तद्बुद्धिपूर्वकत्वाभावात् क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैककारणान्तरवत् । न हि क्षणिकक्षित्युदकादिसामग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्तायामङ्कुरजननसमर्थायां सत्यां तत्सन्निपतितं बीजं कारणान्तरमङ्कुरजननस्वभावं जहाति, तस्य तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । न हि हेतवः परस्परमीर्ष्यावलिप्ताः क्वचिदेकत्र कार्ये, येनैकस्य तत्र व्यापारेऽपरे निवर्तेरन् । क्षणिकोर्थः स्वान्त्यकारणसामग्रीसन्निपतितः स्वकार्यकारी तादृशस्वहेतुस्वभावादुत्पन्नत्वात्, न पुनर्नित्य इति कल्पयित्वापि स्वहेतुप्रकृतिं भावानां स्वप्रकृतिरवश्यमन्वेष्या, तत्स्वभाववशात् तत्कारणप्रकृतिव्यवस्थापनात् तदयमकारणोपि स्वभावनियतोर्थः

स्यात् । ननु च क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थानं स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्विष्यते । विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्वं, न पुनः कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमहेतुकत्वाद्विनाशस्य । तथा हि । यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतम् । यथान्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रत्यनपेक्षा तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः, कलशादेर्विनाशस्य मुद्गरादिहेतुभिर्व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य वा करणासंभवात्, तं प्रति तदनपेक्षत्वसिद्धेः । घटादेर्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्य करणे तदवस्थत्वप्रसङ्गाद्विनष्ट इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसंबन्धाद्विनष्ट इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्संबन्धो वक्तव्यः । स च न तावत्तादात्म्यलक्षणः, तयोर्भेदोपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणो घटादेस्तदकारणत्वात् तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्ववचनात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोष इत्यप्यसारम्, मुद्गरादिवद्विनाशोत्तरकालमपि कुम्भादेरुपलम्भप्रसङ्गात् । कुटादेः स्वविनाशं परिणामान्तरं लक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले दर्शनमित्यपि न युक्तं, परिणामान्तरस्यैव हेत्वपेक्षत्वसिद्धेः, विनाशस्य तद्व्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वव्यवस्थितेः सुगतमतसिद्धिप्रसक्तेः । सुगतमतं हि न सर्वथा विनाशस्य निर्हेतुकत्वम् । किं तर्हि ? कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति वादावसानं स्यात् । विनाशतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावः संबन्ध इत्यपि मिथ्याभिधानं, परस्परमसंबद्धयोस्तदनुपलब्धेः । प्रागभावतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनेनैव निरस्तः । कार्यकारणयोरस्येदं कार्यमिति विशेषणविशेष्यभावः कथमित्यपि न चोद्यम्, तत्र तद्व्यवहारस्य कार्यकारणभावनिबन्धनत्वात्, तद्व्यतिरेकेण भिन्नयोर्विशेषणविशेष्यभावासंभवात् । ततोऽनर्थान्तरं विनाशः कारणैः क्रियत इति पक्षान्तरमपि न सम्यक्, स्वकारणादुत्पन्नस्य कुटात्मनो विनाशस्य कारणान्तराणां वैयर्थ्यात् । अन्यथा परापरकारणानुपरमः स्यात् ।

इति भावानां विनाशस्वभावत्वं साधनं स्थितेरपि निर्निमित्तत्वं साधयेत् । तथा हि यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतम् ।

यथा विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षं विनश्वरम् । तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थास्नु वस्तु । इति स्वभावहेतुः । न चायमसिद्धः, तद्धेतोरकिञ्चित्करत्वात् तद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणात् इत्यादि सर्वं समानम् । न हि वस्तुनो व्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना क्रियते, तस्यास्थास्नुत्वापत्तेः । स्थितिसंबन्धात्तस्य स्थास्नुतेति चेत्, न, स्थितितद्वतोः कार्यकारणभावासंभवात् सहभावात्तयोः, असहभावे स्थितेः पूर्वं तत्कारणस्यास्थितिप्रसक्तेः, स्थितेरपि स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयत्वानुषङ्गात् । तयोराश्रयाश्रयिभावः संबन्ध इति चेन्न, अर्थान्तरभूतयोः कार्यकारणभावाभावे तदभावाभ्युपगमात् कुण्डबदरवत् । तदव्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना विधीयते इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान्, तद्वैयर्थ्यात्, स्थितिस्वभावस्यापि स्थितिकरणे तत्कारणानामनुपरमप्रसङ्गात्, स्वयमस्थितिस्वभावस्य स्थितिकरणायोगादनुत्पत्तिस्वभावस्योत्पत्तिकरणायोगवत् । ततः स्थितिस्वभावनियतोर्थः स्यात् सर्वदा स्थितेरहेतुकत्वात् । तदेवमादौ स्थितिदर्शनाच्छब्दविद्युत्प्रदीपादेरन्तेऽपि स्थितेरनुमानं युक्तम् । अन्यथा, अन्ते क्षयदर्शनादादौ तत्प्रतिपत्तिरसमञ्जसैव । तादृशः कारणादर्शनेपि कथंचिदुपादानानुमानवत् तत्कार्यसन्तानस्थितिरदृष्टाप्यनुमीयेत । शब्दविद्युदादेः साक्षादनुपलब्धमुपादानमनुमीयते निर्निबन्धनोत्पादप्रसङ्गभयान्न पुनस्तदुत्तरकार्यमवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति किमपि महामोहविलसितम । शब्दादेरुत्तरकार्याकरणेपि योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वप्रसक्तिरिति चेत्, न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानानुपपत्तेरनिष्टप्रसङ्गात् । तथा दृष्टत्वान्नेहानिष्टप्रसङ्ग इति चेत्, किं पुनः शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिरुपलब्धा कदाचित् ? शङ्खादिशब्दसंततौ मध्यावस्थायां शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिदृष्टेति चेत्, कथमुत्तरशब्दोत्पत्तिरदृष्टा ? तथैव तद्दृष्टेरिति शब्दादेर्योगिज्ञानकरणवदुत्तरशब्दादिकरणमनुमीयतां, रूपोपादानाद्रूपोत्पत्तिवत् । तस्मात् कथंचन स्थितिमतः प्रतिक्षणं विवर्तोपि, नान्यथा, गगनकुसुमवत् । यदि पुनः परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावा-

द्विरोध्यविरोधकभावादिवत् प्रतिक्षणं विवर्तोपि नेष्यते संविदद्वैताभ्युपगमादिति मतिस्तदा प्रभवादेरयोगात् कुतः प्रेत्यभावादिः ? स्याद्वादिभिरापाद्यस्य प्रेत्यभावपुण्यपापक्रियाबन्धमोक्षतत्फलाभावस्य स्वयमेवाभ्युपगमादतिभीतप्रलापमात्रमेतदालक्ष्यते, संविदद्वैतस्य साधनासंभवात्, संविन्मात्रस्य स्वकार्याकरणेऽनर्थक्रियाकारिणो वस्तुत्वविरोधान्नित्यत्ववत्, तस्य स्वकार्यकरणे कार्यकारणस्वभावसिद्धेः । संविदद्वैतेन भेदभ्रान्तिबाधने बाध्यबाधकभावः । तदबाधने तस्याव्यवस्थितिः प्रतिपक्षव्यवच्छेदाभावात् । संवृत्तिमात्रेण सत्यपि हेतुफलभावेऽकारणकार्यान्तरवत्सन्ततिर्न स्यादतादात्म्याविशेषात् । न हि कार्यकारणक्षणानामकार्यकारणक्षणेभ्यस्तादात्म्याभावैकान्ते कश्चिद्विशेषो नैरन्तर्यादिः संभवति, तस्य भिन्नसंतानकार्यकारणक्षणेष्वपि भावात् । तत्स्वभावविशेषावक्लृप्तौ तादात्म्ये कोऽपरितोषः ? कथंचित्तादात्म्यस्यैवैकसंतानक्षणानां स्वभावविशेषस्य व्यवस्थितेरव्यभिचारिणः कार्यकारणभावस्य सुगतेतरक्षणेषु भिन्नसंतानेष्वपि भावात्, भेदतादात्म्ययोर्हि विरोधस्य सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात्, संविदि वेद्यवेदकाकारभेदेऽपि तादात्म्योपगमादन्यथैकज्ञानत्वविरोधात्, संविदाकारवेद्याद्याकारविवेकयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्भेदेपि संविदेकत्वाङ्गीकरणात्, कथंचित्तादात्म्याभावे संताननियमनिबन्धनस्य स्वभावविशेषस्यानुपलब्धेः । तत्संतानापेक्षया प्रेत्यभावादि मा मंस्त, क्षणक्षयैकान्ते संतानस्यैव साधयितुं दुःशक्यत्वात्, ज्ञानज्ञेययोः प्रतिक्षणं विलक्षणत्वात् । स एवाहं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानादनुस्मरणादभिलाषादेश्च संताननियमसिद्धिरिति चेत्, न, तस्यैवासंभवात् । सर्वथा वैलक्षण्ये पुंसोऽर्थस्य च न वै प्रत्यभिज्ञानादिः पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च । ततः कर्मफलसंबन्धोपि नानासंतानवदनियमान्न युक्तिमवतरति । तदनादिवासनावशात्तन्नियम इति चेत्, न, कथंचिदप्यतादात्म्ये कार्यकारणक्षणयोस्तदघटनात्तद्वत् । तत्सूक्तं ‘ क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः सर्वथार्थक्रियाविरोधान्नित्यत्वैकान्तवत ’ । न चार्थक्रिया कार्यकारणरूपा सत्येव कारणे स्याद-

सत्येव वा । सत्येव कारणे यदि कार्यं, त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणकाल एव सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणसंतानस्य भावात्, ततः संतानाभावात्पक्षान्तरासंभवाच्च । इति स्थितमेव साधनं सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति, साध्यं च क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीय इति, प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रेत्यभावासंभव इति च, अस्मिन्पक्षे प्रयासाभावात् । यदि पुनरसत्येव कारणे कार्यं तदा कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात् कारणाभावाविशेषात् । तदविशेषेपि कार्यस्य स्वयं नियतकालत्वे नित्यस्य सर्वदा भावाविशेषेऽपि तत्स्यादित्युक्तम् । किं च क्षणिकपक्षे न तावत्सदेव कार्यमुत्पद्यते स्वमतविरोधादुत्पत्त्यनुपरमप्रसङ्गाच्च ॥ ४१ ॥

'तस्यावस्तुत्वविरोधादिति' सन्तानान्कार्यारम्भस्वीकारे तस्यावस्तुत्वं यत्सौगतैः प्रतिपाद्यते तद्विरुध्यत इत्यर्थः । **' भिन्नकालेति '** स्याद्वादिनां तु कारणक्षणस्य द्रव्यप्रत्यासत्त्या कार्यकालेऽपि सत्त्वान्न सर्वथा भिन्नकालत्वमिति नोभयोरस्य दोषस्य तुल्ययोगक्षेमत्वम्, न च स्वाभिन्नद्रव्यसामान्याभिन्नत्वादिनाऽतिप्रसङ्गः, अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि द्रव्यप्रत्यासत्तेर्विशिष्य भेदेऽनुपपत्त्यभावात्, यथा चास्माभिरुपादेयोत्पत्तावुपादानस्य स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन नियामकत्वमुक्तं तथासमर्थने न दोषलेशोऽपि, स्वध्वंसत्वस्यापि द्रव्यपरिणतिप्रयुक्तत्वेन द्रव्यप्रत्यासत्तिताया अक्षतत्वादिति मन्तव्यम् । **'तदसत्येव हीति'** भावप्रधाननिर्देशात्तदसत्त्व एव हीत्यर्थः । **'स्वदेशवत् स्वकाल इति,'** कार्याधिकरणदेशावच्छिन्नकार्यकाल इत्यर्थः । **'न कश्चिद्विशेष इति '** यदा कारणं तदव्यवहितोत्तरसमये कार्योत्पत्तिरिति व्याप्तौ अव्यवहितत्वप्रवेशे बीजाभावात्, अव्यवहितत्वस्य द्वित्रादिक्षणसाधारण्येन विनिगमकाभावाच्चेत्यर्थः, व्यवहितजन्मनि कार्यत्वबुद्ध्यनुदयादव्यवहितत्वप्रवेशे तु कार्याभावकालोत्पत्तिकेऽपि तदनुदयात् कथञ्चित्कार्यसहभावोऽपि कारणस्य कार्योत्पत्तिनियामक आस्थीयतामिति भावः । **'तादृशोऽ-'**

नुपयुक्तस्य, 'क्षणिकस्येति' वक्ष्यमाणरीत्या क्षणिकस्याप्यनेककार्यकारित्वात् कथमेकत्वमिति पर्यनुयोगः सम इत्यर्थः, क्षणिकस्येत्यत्र प्रतिक्षणमित्यादि प्राक्तनं सर्वं योजनीयम् । यत्त्वत्र स्वाभावकाले कार्यजननाविशेषादिति कस्यचिद्धेत्वभिधानं तत् स हीत्यादिसमर्थनग्रन्थसन्दर्भविरुद्धम् । 'नानार्थवत्' सम्प्रतिपन्ननानाप्रयोजनवत्, 'अतद्व्यावृत्तिभ्यो'ऽशक्तिव्यावृत्तिभ्यः, 'कल्पिताभ्यो' वासनाविशेषोत्थविकल्पज्ञानविषयीकृताभ्यः । 'विपरीतारोपव्यवच्छेदे'ऽक्षणिकत्वभ्रान्तिव्यवच्छेदे, 'समारोपव्यवच्छेदे' नानाकार्यजनकशक्त्यभावभ्रमव्यवच्छेदे, नत्वक्यादिक्षणे कार्यभेदेऽपि कारणभेदाभावमाशंक्याह—भाष्यकृत् 'युगपदित्यादि,' तत्र दर्शनभेदाभावेष्टापत्तावनुभवबाधमाह वृत्तिकृत्—न चैवमित्यादिना, क्षणिके नानाकार्यजनकस्वभावभेदानभ्युपगमे तत्त्वसाधकमूलयुक्तिबाधः स्यादित्याह भाष्यकृत्—सकृदित्यादिना, 'क्षणक्षयवदिति' धर्मनिर्देशस्य धर्मिपरत्वात् क्षणक्षयवति स्वलक्षण इवेत्यर्थः । तथा च व्याचष्टे वृत्तिकृत् यथैव हीत्यादि, क्रमिकसहकारिभिरेव कार्यस्य कृतत्वात् स्थिरमकिञ्चित्करमित्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्—' नहीत्यादि ' ' तद्बुद्धिपूर्वकत्वाभावात्,' अन्यतः कार्यसम्भवेऽहं न कुर्यामिति स्थिरसम्बन्धिबुद्धिपूर्वकत्वाभावात् कार्यस्येत्यर्थः, तथा च सहकारिवत् स्थिरस्य हेतोर्नियतपूर्ववर्त्तित्वादेव कारणत्वमवर्जनीयम् तदभिमतसामग्रीप्रविष्टहेत्वन्तरवदित्यर्थः । तदाह—'क्षणिकेति' 'न तत्काले दर्शनमिति' उपादेयस्योपादाननाशत्वान्नाशस्य च दर्शनायोग्यरूपत्वान्नश् अदर्शन इति धात्वनुसारादित्यर्थः । ' तद्व्यतिरिक्तेति ' तच्छब्देन परिणामान्तरस्य कपालादेर्हेतुः समनन्तरो घटादिलक्षणो गृह्यते, ततो व्यतिरिक्तो हेतुर्मुद्गरादिस्तदनपेक्षत्वव्यवस्थितेरित्यर्थः । सुगतमते हि घटादेर्नाशकाले मुद्गरादिना न किञ्चिज्जन्यते, तुच्छस्य ध्वंसस्य जनयितुमशक्यत्वात्, कपा-

लादिजनने च तस्याव्यापारात्, केवलं मुद्गरादिसहकृता समनन्तरसामग्री सजातीयकार्यं न जनयतीत्यर्थात् कपालादेरुत्पत्तिरिति भावः। साधयेदिति तच्चानिष्टं सौगतस्येति तं प्रत्यनिष्टापादनमेतज्जैनेन क्रियत इति बोध्यम्। 'कुण्डबदरवदिति यद्यपि कुण्डबदरयोराश्रयाश्रयिभावे कार्यकारणभावस्य नियामकत्वमप्रातीतिकमनभ्युपगमदोषदुष्टं च, तथापि स्वतोऽवयवावयविभावेन कार्यकारणतया निष्पन्नयोरेव तयोर्यथाश्रयाश्रयिभावस्तथात्र नास्तीत्ययुक्तोऽयं पक्ष इति केचिद् व्याचक्षते, वयं तु जगदवगाहनाहेतुगगनदृष्टान्तेन बदराधारतापर्याये कुण्डस्य हेतुत्वात् कार्यकारणभावाभावे स्थितितद्वतोराश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिमुपपादयामः। बदरप्रतियोगिकसंयोगरूपबदराधारतायां कुण्डस्य ताद्रूप्येण हेतुत्वमित्यपरे। 'तादृश' आदौ स्थितिमतः। अनुमीयत इत्याद्यशब्दस्य कार्यत्वेन सोपादानत्ववदन्त्यशब्दस्य कारणत्वेन सोपादेयत्वस्यानुमानाविशेषादिति भावः। 'अवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति' शब्दविद्युदादेरुत्तरकार्यानभ्युपगमे हि स्यादेव कार्याविच्छेदरूपसत्त्वाभावादवस्तुत्वापत्तेर्भयमिति भावनीयम्। ननु वस्तुत्वमर्थक्रियाकारित्वमात्रनियतमित्यन्त्यशब्दादेर्योगिज्ञानजनकत्वेनैव तत्त्वोपपत्तेर्नैकद्रव्यकार्याविच्छेदसिद्धिरित्याशङ्कायामाह–'शब्दादेरित्यादिना,' 'ननो रसादिति' परस्परोपादेयपरस्परसहकारित्वादेव हि तदनुमानं व्यवस्थितं नियतोपादानोपादेयभावविच्छेदे तु व्यभिचारशङ्कया तन्न स्यादित्यर्थः। 'कथञ्चन स्थितिमत इति' कथंचनेत्यनेनैकद्रव्यतयैव कार्याविच्छेदरूपस्थित्यभ्यनुज्ञानादन्त्यशब्दाद्युत्तरं न सदृशकार्यानुपलम्भानुपपत्तिः, संविदद्वैताभ्युपगमादिति मध्यमक्षणसंविन्मात्रस्वीकारादन्त्यक्षणानां तत्कालाज्ञातानां तत्कालसत्त्वे मानाभावादित्यर्थः। 'प्रभवादेः' कार्यारम्भादेः, 'तत् स्वभावविशेषावक्लृप्ताविति' एकमन्ततिपतितकार्यकारणक्षणेषु तदीयत्वनियामकस्व-

भावविशेषकल्पन इत्यर्थः। कार्यकारणभावमात्रस्यैकसन्ताननियामकत्वेऽतिप्रसङ्गमुपदर्शयति,—'अव्यभिचारिण इत्यनेन,' नन्वेकसन्तानेऽपि क्षणानां भिन्नत्वात् कथं तादात्म्यमुपपत्स्यत इत्यत आह 'भेदेत्यादि' भेदतादात्म्ययोर्विरोधस्यापि हि सर्वथाऽपरिहार्यत्वात् कथञ्चित्पक्षे तु द्रव्यपर्यायविधया परिहार्यत्वादेवेति चूर्णकसहितभाष्यप्रतीकार्थः। उक्तप्रकारमेव समर्थयति वृत्तिकृत्, 'संविदीत्यादिना,' 'तदनादीनि' उत्तरचित्तोत्पत्तिकारणीभूतप्राक्तनचित्तक्षणा(त्मक)स्मवास-नावशात्तस्य प्रत्यभिज्ञानादेर्नियम इत्यर्थः। 'तद्वत्' नानासन्तानवत् 'पक्षान्तरासम्भवाच्चेति' असति कारण इति पक्षान्तरस्य चासम्भवादित्यर्थः। तेन तद् द्वितीयोत्तराभावान्न्यूनत्वं यदि पुनरसत्येव कारण इत्यादिना वृत्तौ तु भाष्योक्त-पक्षान्तरस्यैव स्फुटीकारान्न पौनरुक्त्यम् ॥ ४१ ॥

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्। मोपादाननियमो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

पर्यायाकारेणेव द्रव्याकारेणापि सर्वथा यद्यसत्कार्यं तदा तन्मा जनिष्ट, खपुष्पमिव। तथा हि यत् सर्वथाप्यसत्तन्न जायमानं दृष्टं, यथा खपुष्पम्। तथा च परस्य कार्यम्। इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। कार्यत्वं हि कथंचित्सत्त्वेन व्याप्तम्। तद्विरुद्धं सर्वथाप्यसत्त्वम्। प्रतीतं हि लोके कथंचित्सतः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरीभवनात्। सदेव कथमसत् स्याद्विरोधादिति न चोद्यं, (अ) सकृदपि विरुद्धधर्माध्यास-निराकृतेश्चित्रवेदनवदित्युक्तप्रायम्। तथा चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनायाः किं फलमपलापेन ? तदन्यतरनिराकृतावुभय-निराकृतिरभेदात्। कथमन्वयव्यतिरेकयोरभेद इति चेत्, कारणस्य भावे भावस्यैव तदभावेऽभावरूपत्वात्। न हि कारणस्याभावेऽभाव एव भावे भावो न प्रतीयते यतस्तदभेदो न स्यात्। कथं भावस्वभावनिबन्धनान्वयव्यतिरेकप्रतीतिस्तस्या भावाभावस्वभावनिबन्ध-

नत्वादित्यप्यनाशङ्कनीयं, स्वभावान्तरस्यैवाभावव्यवहारार्हत्वात्। पावकविविक्तप्रदेशविशेषस्यैव पावकाभावस्य धूमरहितदेशस्य च धूमाभावस्य प्रतीतिगोचरत्वात्, पावकाभावे धूमाभावस्य च व्यतिरेकलक्षणत्वात् सिद्धं व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनत्वमन्वयप्रतीतेरिव। इति निरारेकं, नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपात्। न च सर्वथाप्यसतः कार्यत्वेऽन्वयव्यतिरेकप्रतीतिः कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुः, कारणाभावे एव कार्यस्य भावाद्भावे चाभावात् इति निवेदितप्रायम्। तन्नासत्कार्यं, सर्वथाप्यनुत्पादप्रसङ्गात् खकुसुमवदिति व्यवतिष्ठते, कार्यत्वकथंचित्सत्त्वयोरेव व्याप्यव्यापकभावस्य प्रसिद्धस्तथा प्रतीतेः। तत एव न तादृक्कारणवत्, सर्वथाऽभूतत्वाद्वन्ध्यासुतवत् कथंचिदस्थितानुत्पन्नत्वादिति योज्यम्। न हि सर्वथाप्यसत्कार्यमभूतं न भवति, यतः कथंचिदप्यस्थितमनुत्पन्नं च न स्यात्, कथंचित्सत एव स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवत्, सत उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वलक्षणत्वात्। न चोत्पादादित्रयरहितं वस्तु समस्ति यतः कारणवत्स्यात्, निरन्वयविनाशे तत्कारणस्य तद्भावायोगात् कार्यस्य तद्भावायोगवत्। सत्यपि प्रभवलक्षणे पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिषु सकललोकसाक्षिकं सिद्धम्। नन्न स्वमनीषिकाभिः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भानवधारणावक्लृप्तिमारचयतां सोपादाननियमो भूत कारणान्तरवत् तदन्वयाभावाविशेषात् सर्वथा वैलक्षण्यात्। न हि मृत्पिण्डस्थासादीनां तन्तुपटादीनां च सर्वथा वैलक्षण्येनान्वयाभावाविशेषेपि मृत्पिण्ड एवोपादानं स्थासस्य, स्थास एव कोशस्य, कोश एव कुशूलस्य, कुशूल एव घटस्य, न पुनस्तन्त्वादयः स्थासादीनामिति नियमनिबन्धनं किमप्यस्ति, यतः पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासादिषु सकललोकसाक्षिकं न भवेत्। वैलक्षण्यानवधारणं निबन्धनमिति चेत्तर्हि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्प्रतिपत्तॄणामिष्यते तदा समसमयवर्तितिलादीनां संतत्योत्पद्यमानानां वैलक्षण्यानवधारणं स्यात्। ततश्च परस्परभिन्नसंततीनामप्युपादानत्वं प्रसज्येत विशेषाभा-

वात्। यथैव ह्येकसंतानवर्तिनः सदृशस्यापरापरस्योत्पत्तिः सादृश्यमभावाव्यवधानं च बाह्यं, विप्रलम्भस्त्वनाद्यभेदवासनाहित-मभेदज्ञानमन्तरङ्गं वैलक्षण्यानवधारणस्य कारणं तथा भिन्नसंततीनामपि तिलादीनामिति न विशेषः। ननु भिन्नदेशानां तेषां सत्या-मपि सादृश्योत्पत्तौ नाभावेनाव्यवधानमन्तराले परस्परमभावस्य व्यवधायकस्य भावादिति न मन्तव्यं, मृत्पिण्डस्थासादीनामेकसंतान-वर्तिनामपि भिन्नदेशत्वसंभवादभावव्यवधानप्रसङ्गात्। न हि तेषां काल एव भिद्यते न पुनर्देशस्तस्य नित्यत्वप्रसङ्गात्। सर्वस्वल-क्षणानां स्वरूपमात्रदेशतया देशाभावान्नोप इति चेत्कथमेवं भिन्नसंततितिलादीनां भिन्नदेशता? । स्वरूपलक्षणदेशभेदादिति चेन्मृ-त्पिण्डादीनामपि तत एव सास्तु, न चान्यत्रापीत्यविशेष एव। सादृश्यविशेषाद्विशेष इत्यपि मिथ्या, सादृश्यस्यापि परमार्थतः कचि-दभावात्सामान्यवत्। अतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या कल्पितस्य तु सादृश्यस्य को विशेष इति चिन्त्यम्। वैलक्षण्यानवधारणहेतुत्वमिति चेत् कृष्णतिलादिषु भिन्नसंतानेष्वपि समानम्। परम्पराश्रयत्वानुषङ्गश्चैवम्। सति सादृश्यविशेषे मृत्पिण्डादिषु वैलक्षण्यानवधारणं तस्मिन् सति सादृश्यविशेषनिश्चय इति नैकस्यापि निर्णयः स्यात्। नन्वनिश्चितादेव सादृश्यविशेषादभेदाध्यवसायरूपं वैलक्षण्या-नवधारणं निश्चीयते, ततः सादृश्यविशेषानुमानान्नेतरेतराश्रयत्वं तयोरिति चेत्, न, एवं यमलकादिष्वपि तदनुमानप्रसङ्गादन्वयस्यापि तद्वत्प्रसक्तेः। ननु च निरन्वयस्यापि तादृशी प्रकृतिरस्मानं कारणान्तरेभ्यो यया विशेषयतीति चेत्, न, अत्यन्तविशेषानुपलब्धेः। तदविशेषादर्शने सर्वथाऽन्ध्यं स्यात्, विशेषाविशेषयोरदृष्टौ तद्रहितवस्तुरूपोपलम्भाभावात्। तस्मादियमस्य प्रकृतिर्यया पूर्वोत्तरस्वभाव-हानोपादानाधिकरणस्थितिं प्रतिक्षणं बिभर्ति यतोऽयमुपादाननियमः सिद्धः, पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे तदसिद्धेः स्थितिमात्रवत्। अथापि कथंचिदुपादाननियमः कल्प्येत, कार्यजन्मनि कथमाश्वासः? संवृतिमात्रेणोपकल्पितादुपादाननियमात्कार्योत्पत्तावनाश्वासदर्श-

नात् स्वप्नवत् । तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात् । पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरमियमकल्पनायामनुपादानेऽपि स्यात् तन्नियमकल्पना । तथाऽदर्शनमहेतुरत्रैव विचारात् । न हि यत्रैव विवादस्तदेव नियमहेतुरिति युक्तं वक्तुम्, अविचारकत्वप्रसङ्गात् । यथादर्शनं नियमकल्पनायां हेतावपि कथंचिदाहितविशेषतन्तूनां पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात प्रतीतेरलमपलापेन । न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे च नियमनिमित्तमस्ति । न हि तन्तव एवातानादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिषेधनियमो वा स्यात् । नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते यतो विशेषविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वाऽवतिष्ठेत । न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमेऽस्ति येन तदत्ययेपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत । ननु च नास्ति तन्त्वाद्यन्वय उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिस्तत्प्रतिषेधनियमनिमित्तं, विशेषमात्रस्यैवोपलब्धेस्तद्विधिनियमहेतुत्वादिति चेन्, न, तन्त्वाद्यन्वयवत्तद्विशेषस्यापि निरपेक्षस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरविशेषात्प्रतिषेधनियमप्रसङ्गात् । तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरनन्वयस्यैव न पुनरुभयरूपस्य इत्यलं प्रसङ्गेन । सर्वथान्वयविशेषयोरेव प्रतिषेधनियमस्य निमित्ताभावात् तदुभयरूपजात्यन्तरस्यैव विधिनियमस्य निमित्तसद्भावात् तन्निमित्तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य सकलप्रमाणोपलम्भस्य च प्रसिद्धेर्विरोधाद्यसंभवाच्च । तदेवं क्षणिकैकान्तपक्षे ॥ ४२ ॥

'उपादानस्योत्तरीभवनात्' मृत्पिण्डादेर्घटादिकार्यत्वेन परिणमनादित्यर्थः । भाष्ये 'सकृदपीति' अपिरेवकारार्थः । 'सकृदेव' विरुद्धधर्माध्यासस्यानिराकरणात्, तथा च वारंवारं तन्निराकरणादित्यर्थः । 'चित्रवेदनवदिति' चित्रवेदने ह्येकत्वा-

नेकत्वयोर्विरोधो वारंवारमेव निराकृतः, सैव रीतिः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतीयतामित्यनेनोक्तम्, तत एव कार्यत्वकथञ्चित्सत्त्वयोर्व्याप्तिरेव, भाष्ये न तादृक् सर्वथाऽसत्, कारणवत् कारणापेक्षोत्पत्तिकं, वैलक्षण्यानवधारणं निबन्धनमिति मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिनियतोपादानप्रवृत्तिनिबन्धनं नान्वयः, किन्तु वैलक्षण्यस्य भेदस्यानवधारणमिति सौगताशङ्का। तत्राह–इति चेत् तद् यदीत्यादि, सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् सदृशापरापरोत्पत्तिदोषसध्रीचीनानादिवासनाप्रसूताभेदज्ञानादित्यर्थः। उपादानत्वं प्रसज्येतेति कार्यागृहीतभेदक्षणस्योपादानत्वादित्यर्थः, अभावाव्यवधानं चेति अन्तराविसदृशक्षणोत्पत्तिव्यवधानाभावश्चेत्यर्थः। अपि न विशेष इति न विशेष इत्यर्थः। अन्तराले सादृश्यप्रतियोगिनां मध्ये, अभावस्य दैशिकाभावस्य, न पुनर्देश इति तथा च स्थासदेशे मृत्पिण्डाभावसत्त्वाद्दैशिकाभावेन तत्रापि व्यवधानादुपादानत्वं न स्यादित्यर्थः। अतिरिक्तदेशेन भिन्नदेशत्वाभाव उपादानतानिमित्तमित्याशङ्कते सर्वस्वलक्षणानामिति भिन्नसन्ततिक्षणेष्वतिप्रसङ्गान्न किञ्चिदेतदिति समाधत्ते कथमेवमित्यादि, विशेषः क्षणानामुपादानताऽनुपादानतयोर्भेदः, सति सादृश्यविशेष इति निश्चिते सादृश्यविशेष इत्यर्थः। अन्यथा वक्ष्यमाणाविशेषेण पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्, तदनुमानप्रसङ्गादभेदाध्यवसायेनोपादानोपादेयभावनियामकसादृश्यविशेषानुमानप्रसङ्गात्, तद्वत् सम्प्रतिपन्नैकसन्तानवत्, यत उक्तहेतोर्वैलक्षण्यात्, अयं प्रत्यक्षसिद्धः, अविचारकत्वप्रसङ्गादिति यदेव पृष्टं तस्यैवोत्तरत्वप्रदानादित्यर्थः। ननु तन्तुभ्यः पटादिरिवेत्यादिनियमः कुतो दृश्यत इति न पृष्टं, येन तत्र तथा दर्शनस्य हेतुत्वोक्तावविचारकत्वम्, किन्तु तन्नियमहेतुप्रश्न एव मः, तत्र चान्वयव्यतिरेकशालित्वमेव तद्धेतुरित्युत्तरं, तत्सिद्धिश्च तथा दर्शनादिति न प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यमित्याशंक्य तदपि

सामान्यविशेषरूपत्वे तन्त्वादेरित्यू(रप्यू)र्ध्वतासामान्येनान्वयान्नात्यन्तासत्त्वं कार्यस्येत्यागतमित्याशयेनाह–यथा दर्शनमि-त्यादिना शोभतेत्यन्तेन, एतेन शक्तेर्नियामकत्वमपि व्याख्यातं, द्रव्यार्थतया सत्त्वस्यैव तदर्थत्वात्, विशेषैकान्तवादी सामा-न्यानुपलब्धिमादाय शङ्कते–ननु चेत्यादिना, सिद्धान्तवादी विशेषानुपलब्धिमादायोत्तरयति नेत्यादि, ह्रदे वह्निर्नेत्यत्रैव तर्कि-तप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वेन योग्यानुपलब्ध्या निरपेक्षान्यतराभावसिद्धेरुभयैकरूपतामुपसंहरति–तस्मादित्या-दिना, भाष्यकृत्–'अनन्वयस्यैवेति' न विद्यतेऽन्वयः सामान्यस्य विशेषेण सह यत्रेत्यर्थान्निरपेक्षान्यतरपरिग्रहः ॥ ४२ ॥

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् । सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥

क्षणिकैकान्तपक्षेपीऽनि विवर्तते । तेन पूर्वोत्तरक्षणानां न हेतुफलभावो वास्यवासकभावः कर्मफलसंबन्धः प्रवृत्त्यादिर्वास्ति, सर्वथाऽनन्वये सत्यन्यभावात संतानान्तरवत् । तेषामेकसंतानत्वात्सोस्तीति चेत्, न, एकसंतानस्य तद्वतः पृथगसत्त्वात्, संतानिन एवापरामृष्टभेदाः सन्तान इति स्वयमभ्युपगमात् सर्वेषां वैलक्षण्याविशेषात् । सन्तानसंकरप्रसङ्गश्चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य संभवात्, एते एवाभेदपरामर्शविषया न पुनरन्ये इति विशेषनिबन्धनस्याभावात् । विलक्षणानामत्यन्तभेदेपि स्वभावतः किलासंकीर्णाः संततयः कर्मफलसंबन्धादिनिबन्धनं शशविषाणस्येव वर्तुलत्वमाचरितं कश्चेतनः श्रद्दधीत ? प्रत्यक्षेणाप्रतीतेर्थे स्वभावस्याश्रयितुमशक्यत्वात् "प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे कानुपपन्नता" इति स्वयमभिधानात् । न च परस्परं विलक्षणाना-मेव क्षणानामत्यन्तमन्वयासत्त्वेप्यन्तर्बहिर्वा संततयोऽसंकीर्णा एव प्रत्यक्षतः प्रतीताः, तस्यैकक्षणगोचरतया संतानाविषयत्वात् । नाप्यनुमानतः, स्वभावस्य कार्यस्य वा तल्लिङ्गस्य प्रतिबद्धस्यानवधारणात् । प्रत्यभिज्ञानादि तदनुमाने लिङ्गमिति चेत्, न, तस्य कचि-

दन्वयासिद्धेर्व्यतिरेकानिश्चयाच्च । तत एव नान्यथानुपपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानादेः संतानाभावेऽसंभवनियमनिश्चयायोगात्, तत्रैकद्रव्यप्रत्यासत्तेरेव ततः प्रसिद्धेर्विरुद्धत्वनिर्णयात् । ततो न संतानोऽस्ति स्वभावत एवासंकीर्णाः संतानान्तरैरिति सूक्तम् । ॥ ४३ ॥ स्यान्मतम्—

कर्मफलसम्बन्धादिनिबन्धनमित्यनन्तरमिति वचनमिति शेषः । आरचितमित्युक्तमित्यर्थः । कः श्रद्दधीतेति एकद्रव्यातिरिक्तासु तासु प्रमाणाप्रमरादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् ? । मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥४४॥

संतानिभ्योऽनन्यः संतानः, अन्यथात्मनो नामान्तरकरणात्—आत्मा संतान इति, सुखादिपरिणामेभ्यो भिन्नस्य वस्तुनो व्यापकस्यात्मत्वादर्थभेदाभावात् । तथा नामान्तरकरणे च नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेर्नान्यः संतानो वास्तवः स्यात् । नित्यविकल्पे तस्य संतानिव्यापकत्वाभावोऽनेकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे तस्य नित्यैकरूपत्वविरोधात् एकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे संतानिनामेकरूपत्वापत्तेः कुतः संतानः अनेकव्यापिनः क्रमशः संतानत्वात् । तदनित्ये विकल्पेऽपि न संतानः, संतानिवद्भेदादेकप्रत्यवमर्शाविषयत्वात्, अपि तु संवृत्त्याऽन्येष्वनन्यव्यवहारात्, अनन्य इति शब्दविकल्पलक्षणत्वादेकत्वमुपचरितमिति । अन्येष्वनन्यशब्दोयं संवृतिः सौगतैरभिधीयते संतानः । सोपि कथं मृषा न स्यात् ? । अस्तु व्यलीकोऽयं व्यवहारस्तथेष्टत्वादिति चेत्तर्हि व्यलीकव्यवहारेपि विशेषानुपपत्तेः संबन्धनियमाभावस्तदवस्थः, सकलसंतानिनां साङ्कर्यस्यापरिहृतत्वात्, उपचरितेनैकसंतानेन केषांचिदेव स्वेष्टसंतानिनां व्याप्तेर्नियमयितुमशक्तेः । यदि तु मुख्यार्थ एव संतानः स्यात्तदा न संवृतिः । संवृतिरेव संतानस्तथोपचारादिति चेत्, न, तस्य मुख्यप्रयोजनत्वविरोधात् । मुख्यप्रयोजनश्चायं, प्रत्यभिज्ञानादेर्मुख्यस्य कार्यस्य करणात् । उपचारस्तु नर्ते [न ऋते] मुख्यात् । यथाग्निर्माणवकः । इति

स्खलति हि तत्रानन्यप्रत्ययः, परीक्षाऽक्षमत्वात् । अत एवामुख्यार्थः प्रस्तुतासाधनम् । न ह्यग्निर्माणवक इत्युपचारात्पाकादावादीयते । तथा संतानोप्युपचरितः संतानिनियमहेतुर्न स्यात् । इति तदवस्थं संतानिसाङ्कर्यं, संतानस्यैकस्य संतानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्योभयरूपस्यानुभयरूपस्य चासंभवात् ॥ ४४ ॥ तत एव—

स्यान्मतमित्याशङ्कावचनं, वक्ष्यमाणकारिकापेक्षया तत्रैव तदभिव्यञ्जकस्य चेच्छब्दस्य श्रुतेः, प्रस्तुतकारिकायां तु पराभिमतसन्तानवचनमृषात्वस्य मुख्यस्य द्रव्यार्थस्य चोद्देश्यत्वाद्विप्रतिपत्तिधर्म्यभिधानेन परमस्याः कारिकाया उत्तरकारिकया सहैकवाक्यत्वादिति द्रष्टव्यम् । सोऽपि कथं मृषा न स्यादिति संवृतिशब्देनैव मृषात्वस्य स्फुटमभिधानादिति भावः । व्यवहारः सन्तानव्यवहारः, सम्बन्धनियमाभावः पूर्वोत्तरक्षणानां नियतकार्यकारणभावसम्बन्धाभावः, स्खलति हि बाधते हि, तत्र पूर्वोत्तरक्षणेषु, अनन्यप्रत्यय एकत्वावसायः, तत एवोक्तासम्भवादेव ॥ ४४ ॥

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः । तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ॥ ४५ ॥

यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटेर्विकल्पस्य वचनायोगः । यथा सत्त्वैकत्वादिधर्मेषु । धर्मश्च संतानतद्वतोस्तत्त्वमन्यत्वं च । इति तत्रावाच्यत्वसिद्धिः । प्रसिद्धं हि सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् संतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम् । सर्वो हि वस्तुधर्मः सन् वा स्यादसन् वा उभयो वानुभयो वा । सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुनरुच्छेदपक्षोपक्षिप्तदोषादुभये चोभयदोषप्रसङ्गादनुभयपक्षेऽपि विकल्पानुपपत्तेरित्यादि योज्यम् । तथा हि । वस्तुनो धर्मस्यानन्यत्वे वस्तुमात्रप्रसक्तेरन्यत्वे व्यपदेशासिद्धेरसंबन्धात, उभये चोभयपक्षभाविदोषोऽनुभयपक्षे निरुपाख्यत्वमिति ॥ ४५ ॥ तथानभिधेयत्वं

प्रसिध्यत सर्वत्र मंत।नसंतानिनोरपि तत्त्वान्यत्वाभ्यामवान्यत्वं प्रमाधयति विशेपाभावान । इति येपामाकूतं तैरपि,—

चतुःकोटेरित्यादिकारिकाप्यग्रिमकारिकया मम्बध्यते माकाङ्क्षत्वात् । मर्वान्तेषु मर्वभेदेषु, तत्त्वान्यत्वमिति ममाहारापेक्षयैकवचनं तत्त्वमन्यत्वं चेत्यर्थः, नयोः प्रकृतयोः, ॥ ४५ ॥ एवमवाच्यत्वं मर्वथा मन्तानमन्तानिनोः प्रमक्तं तत्कथञ्चिद्भावेन नियमयितुमाह

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् । असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥ ४६ ॥

न हि सर्वथानभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं युक्तं. कथंचिदभिलाप्यत्वप्रमङ्गात् । ततो भवद्भिरवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथनीयः । इति न परप्रत्यायनं नाम । अपि चैवं मति सर्वविकल्पातीतमवस्त्वेव स्यादन्यत्र वाचोयुक्तेः । जात्यन्तरमेव ह्यनेकान्तात्मकं सर्वथैकान्तविकल्पातीतत्वात । मर्वविकल्पातीतमिति वाचोयुक्तावेव वस्तूक्तं स्यान्नान्यथा, तस्याविशेपणत्वात खपुष्पवत् । न हि मर्वथाप्यमदनभिलाप्यमर्वास्त्विवति वा विशेपणं स्वीकुरुते यतो विशेष्यं स्यात । न चाविशेष्यमविशेपणं च किंचिदध्यक्षसंविदि प्रतिभासते, स्वसंवेदनस्यापि सत्त्वविशेपणविशिष्टतया विशेष्यस्यैवावभासनात । तदुत्तरविकल्पबुद्धौ स्वस्य संवेदनमिति विशेपणविशेष्यभावोऽवभासते, न तु स्वरूपे तस्येति चेत्तर्हि किमविशेष्यविशेपणं संवेदनमिति स्वतः प्रतिभासते ? तथोपगमे सिद्धो विशेपणविशेष्यभावः संविदि, तत्राविशेपणविशेष्यत्वस्यैव विशेपणत्वात, सर्वथाप्यसतो विशेपणविशेष्यत्वस्य प्रतिषेधायोगात । तथा हि ॥ ४६ ॥

' अवक्तव्येत्यादि ' न कथ्यतामिति कथ्यते चेत्कथञ्चिदवक्तव्यतैव पर्यवसन्ना, एवम्, असर्वान्तं सर्वभेद-

रहितम्, अवस्त्वेव स्यात् यतो न कस्यचिद्विशेष्यं न वा विशेषणं, वाचो युक्तावेव प्रतियोगिविशेषपरतया भङ्ग्यन्तरभाजि वचन एव, अनभिलाप्यमवस्त्विति चेति इतेर्द्विधान्वयादनभिलाप्यमित्यवस्त्विति वा विशेषणं न स्वीकुरुत इत्यर्थः । यतो विशेष्यं स्यादिति एवं च विशेष्यस्य विशेषणसापेक्षत्वाद्विशेषणाभावादविशेष्यं विशेष्याभावाच्चाविशेषणं जातमित्यर्थः । तादृशि च प्रत्यक्षविरोध इत्याह–न चाविशेष्यमित्यादि ॥ ४६ ॥

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः । असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रतिषेधः संज्ञिनः सतः क्रियते स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्न पुनरसतः, तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात् । द्रव्याद्यन्तरभावेनेव स्वद्रव्यादिभावेनाप्यसत्त्वे कुतो विधिर्नाम ? तदभावे न प्रतिषेधस्तस्य कथंचिद्विधिपूर्वकत्वात् । ततः कथंचिदभिलाप्यस्य सतः प्रतिषेधादनभिलाप्यत्वं युक्तम् । कथंचिद्विशेषणविशेष्यात्मनश्च सतोऽविशेष्यविशेषणत्वम् । इति नैकान्ततः किंचिदनभिलाप्यमविशेष्यविशेषणं वाभ्युपगन्तव्यम् । न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । स्वलक्षणं हि स्वरूपेणासाधारणेनानिर्देश्यं नानिर्देश्यमिति शब्देन तथा निर्देश्यत्वादन्यथा वचनविरोधात् । तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि स्वरूपेण कल्पनापोढमेव, न कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया, तस्यान्यथा कल्पनापोढत्वेन कल्पनाविरोधात्, सकलविकल्पवाग्गोचरातीतस्य निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् तद्वत्स्याद्वादिनां न किंचिद्विप्रतिषिद्धम् । अभावोऽनभिलाप्य इत्यपि भावाभिधानादेकान्तवृत्तावेव दोषोद्भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात् । यथैव ह्यभाव इति भावान्तरमभिधीयतेऽनभिलाप्य इति चाभिलाप्यान्तरं तथा भावोऽभिलाप्य इत्यपि भावान्तराभिलाप्यान्तराभावः कथ्यते, तथा प्रतीतेः, अभावशब्दैश्चाभावस्य भावस्य चैकान्ततोऽभिधाने शाब्दव्यवहारविरोधात्, तस्य प्रधानगुणभावेन

विधिनिषेधयोरुपलम्भात् तथैव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरविसंवादात्सिद्धेरन्यथा विसंवादात् । ततः सूक्तमिदम् “ असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥” इति कथंचित्सद्विशेषस्यैव पदार्थस्य विधिनिषेधाधिकरणत्वसमर्थनात् ॥४७॥ तथा च पराभ्युपगतमेव तत्त्वं सर्वथानभिलाप्यमायातमित्यभिधीयते—

न चैतद्विरुद्धमिति एतदभिलाप्यस्यैवानभिलाप्यत्वं विशेषणविशेष्यरूपस्यैव चाविशेष्यविशेषणत्वम् । ननु भावाभावोभयकरम्बितैकवस्त्वभ्युपगमात्कथञ्चिदनभिलाप्यत्वादेरप्युभयाश्रयत्वाद्को द्वावित्ति यदभावोऽनभिलाप्य इत्यादि कथं न विप्रतिषिद्धमिति चेत्, उभयत्वादेः पर्याप्त्यनवच्छेदकत्वात् पर्याप्त्यन्यसम्बन्धस्य विशेषणसंसर्गत्वाद्वेत्याशयवानाह—भाष्यकृत्-अभावोऽनभिलाप्य इत्यादिना, तदेव विवृणोति वृत्तिकृत् स ेव ह्यभाव इतीत्यादिना, असद्भेद इति असदन्तरम् ॥४७॥

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् । वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

सकलधर्मविधुरमधर्मिस्वभावं तावदवस्त्वेव सकलप्रमाणाविषयत्वात् । तदेवानभिलाप्यं युक्तं, न पुनर्वस्तु प्रमाणपरिनिष्ठितम् । तदपि सर्वान्तैः परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते न पुनः प्रमाणसामर्थ्यात्, कस्यचिद्वस्तुन एव स्वद्रव्याद्यपेक्षालक्षणप्रक्रियाया विपर्यासादवस्तुत्वव्यवस्थिते, स्वरूपसिद्धस्य घटस्य घटान्तररूपेणाघटत्ववत् कस्यचिद्वस्तुनो वस्त्वन्तररूपेणावस्तुत्वप्रतीतेः । ननु परस्परविरुद्धमिदमभिहितं वस्तुत्वेतरयोरन्योन्यपरिहारस्थितित्वादिति चेद्भावव्यतिरेकवाचिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावाभिधानान्नात्र किंचिद्विरुद्धम् । न ह्यत्राब्राह्मणमानयेत्यादिशब्दैर्वाक्यत्वमुपगतैर्ब्राह्मणादिपदार्थाभाववाचिभिस्तदन्यक्षत्रियादिभावाभिधानमसिद्धं येनावस्त्वनभिलाप्यं स्यादिति शब्देन वाक्यतामुपगतेन वस्तुशून्यत्ववाचिना वस्त्वन्तराभिधानं विरुध्यते । अतः सूक्तं ‘ यदवस्तु तदनभि-

लाप्यं यथा न किंचित् । यत्पुनरभिलाप्यं तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः ' इति । नात्र साध्यविकलमुदाहरणं खे पुष्पाभावस्य खस्वरूपत्वात् । सुप्रतीतं हि लोके अन्यस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यं, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य । न हि वस्तुनः सर्वथा भाव एव, स्वरूपेणेव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात् । नाप्यभाव एव, पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात् । न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वात्मना भाव इति वक्तुं युक्तं, तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात् । स्वात्मानं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययमुपजनयति सर्वोऽर्थः, परात्मानं त्वपेक्ष्याभावप्रत्ययम । इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावदेकत्र वस्तुनि भावाभावयोर्भेदो व्यवतिष्ठते । न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातोनन्या प्रतीयते । नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव, तस्यासंख्येयत्वप्रसङ्गात्, संख्यासमवायादपि तथात्वासिद्धेः, समवायस्य तत्संबन्धात् तस्य स्वसमवायिसंबन्धकल्पनायामप्यनवस्थानुषङ्गात् कथंचित्तादात्म्यमन्तरेण समवायासंभवाच्च । तद्वन्न भावाभावौ वस्तुनोन्यावेव, निस्स्वभावत्वप्रसक्तेः । अथ सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यस्यापि वस्तुनो द्रव्यत्वादिस्वभावसद्भावान्न निःस्वभावत्वमिति मतं तदप्यसाधीयो, द्रव्यत्वाद्रव्यत्वाभ्यामपि तस्यान्यत्वात् । ताभ्यामनन्यत्वे कथंचिद्भावाभावाभ्यामप्यनन्यत्वसिद्धेः स्वभावपरभावाभ्यां वस्तुनो भावाभावव्यवस्थितिः किं न स्याद्यतः खे पुष्पाभावोभिलाप्यो वस्त्वेव न भवेत् ? इति निरवद्यमुदाहरणम ॥ ४८ ॥ किं च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

अवस्तुत्वप्रतीतेरिति तथा च वैज्ञानिकसम्बन्धेनावस्तुत्ववति तेन सम्बन्धेन सर्वथानभिलाप्यत्वाद्यभिधानमविरुद्धं मिथ्यारजतमरजतमितिवदिति भावः । भावाभिधानादिति, शक्तिलक्षणाभ्यामुभयोपपत्तेरेकपदशक्ययोः परस्परमन्वयो व्युत्पत्तिविशेषादिति नव्यमताश्रयणादिति भावः । तद्वतो भिन्नैवेति, तद्वत एकत्वसंख्यावतः, एकत्वविशिष्टाभेदसिद्धौ

च द्वित्वे संख्यात्वेनैकत्वाभेदः सिद्ध एवेति भावः ॥ ४८ ॥

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः । संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ॥ ४९ ॥

परेषां सर्वे धर्मा यद्यवक्तव्या एव तदा तेषां किं पुनर्वचनं धर्मदेशनारूपं परार्थानुमानलक्षणं साधनदूषणवचनं वा ? न किंचित् स्यादिति मौनमेव शरणम् । यदि पुनः संवृतिरूपं वचनमुपगम्यते तदापि मृषैव संवृतिरेषाभ्युपगन्तव्या परमार्थविपर्ययरूपत्वात्तस्याः । इति तत्त्वतः किं वचनं स्यात् ? पुनरप्यवक्तव्यवादिनं पर्यनुयुञ्ज्महे, सर्वे धर्मा यदि वाग्गोचरतीताः कथमिमेऽभिलप्यन्ते ? इति, स्ववचनविरोधानुषङ्गात् सर्वदा मौनव्रतिकोऽहमिति प्रतिपादयत इव परान् । संवृत्या चेत्सर्वे धर्मा इत्यवक्तव्या इति चाभिलप्यन्ते भवद्भिर्न, विकल्पानुपपत्तेः । संवृत्येति हि स्वरूपेण पररूपेणोभयरूपेण वा तत्त्वेन मृषात्वेनेति वा विकल्पेषु नोपपद्यते । तत्र संवृत्या वक्तव्या इति स्वरूपेण चेत्कथमनभिलाप्याः ? स्वरूपेणाभिलाप्यानामनभिलाप्यत्वविरोधात् । पररूपेण चेत्तत्तेषां स्वरूपं स्याद्येनाभिलाप्याः । केवलं वाचः स्खलनं गम्येत गोत्रस्खलनवत् स्वरूपेणेति वक्तव्ये पररूपेणेति वचनात्, विशेषरूपवत् सामान्यरूपस्यापि वक्तव्यतयाङ्गीक्रियमाणस्य स्वरूपत्वात्, तस्यास्वरूपत्वे विशेषरूपस्याप्यस्वरूपत्वापत्तेः स्वयं निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात् । उभयपक्षेप्युभयदोषानुषङ्गः । तत्त्वेन चेत्कथमवक्तव्याः ? केवलं वचः—स्खलनं गम्येत, तत्त्वेन वक्तव्या इति वचने प्रस्तुते संवृत्या वक्तव्या इति वचनप्रवृत्तेः । मृषात्वेन चेत्कथमुक्ताः ? सर्वथा मृषोक्तानामनुक्तसमत्वात् । तदलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः, सर्वथानभिलाप्यानां सर्वधर्माणामनभिलाप्या इति वचनेनाप्यभिलाप्यत्वासंभवात्तथा परप्रत्यायनायोगात् ॥ ४९ ॥ किंचेदं तत्त्वम्—

सर्वदा मौनव्रतिकोऽहमितीति, इत्येवंप्रकारं, तेन “ यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मत्पिता ॥ मम माता च

वन्ध्या च सराभोऽनुपमो महान् ॥ १ ॥ " इति श्लोकः स्मर्त्तव्यः । ' परानिति ' परान् प्रतीतिप्रतिपादयत इवेति योजना कर्त्तव्या । ननु स्वरूपं विशेषरूपमेव पररूपं तु सामान्यरूपं ततश्च सामान्यरूपेणाभिलाप्यत्वे सत्यपि विशेषरूपेणावक्तव्यत्वसद्भावात् कथं वाचः स्खलनं गम्येतेत्याशङ्कायामाह–विशेषरूपवदिति ॥ ४९ ॥

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः। आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

अर्थस्यानभिलाप्यत्वमभावाद्वक्तुरशक्तेरनवबोधाद्वा ? प्रकारान्तरासंभवात । ननु च मौनव्रतात्प्रयोजनाभावाद्भयाल्लज्जादेर्वाऽनभिलाप्यत्वसिद्धेः कथं प्रकारान्तरासंभव इति चेत, न, मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावात तेषां करणव्यापारशक्तिनिमित्तत्वाच्च । न चैवमनवबोधस्ततः प्रकारान्तरं न स्यात, तत्त्वावबोधे सति करणव्यापाराशक्तावप्यन्तर्जल्पसंभवात । तत्त्वावबोधाभावेपि च करणव्यापारशक्तिसद्भावात । अनवबोधाशक्यत्वयोरिह बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात प्रकारान्तरत्वमेव । न च सर्वत्र तदभावो युक्तः, कस्यचित्कचिदवबोधसद्भावात सुगतस्य प्रज्ञापारमितत्वात क्षमामैत्रीध्यानदानवीर्यशीलप्रज्ञाकरुणोपायप्रमोदलक्षणदशबलत्वोपगमाच्च कस्यचिदेव करणापाटवात । तदनेनाशक्यत्वानवबोधवचनलक्षणस्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासंभवो व्याख्यातः । सामर्थ्यादर्थस्याभावादेवावाच्यत्वमिति किं व्याजेनावक्तव्यं तत्त्वमिति वचनरूपेण ? स्फुटमभिधीयतां सर्वथार्थाभाव इति, तथा वचने वञ्चकत्वायोगादन्यथानाप्तत्वप्रसक्तेः । ततो नैरात्म्यान्न विशेष्येत, मध्यमपक्षावलम्बनात । को ह्यत्र विशेषोऽर्थस्याभावादवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति च ? अशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपमिति चेत, न, कथंचिच्छक्यसंकेतत्वात् । द्रव्यविकल्प्यस्वभावत्वात्परमार्थस्य प्रतिभासभेदेऽपीत्युक्तम । न हि द्रव्यस्वभाव एव परमार्थो न पुनर्विकल्प्यस्वभावः सामान्यं, विशेषवत्सामान्यस्यापि वस्तुरूपत्वसाधनादन्यथा

प्रतीत्यभावात् सामान्यविशेषात्मनो जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादौ प्रतिभासनाच्च । न चैवं दृश्यलक्षणेषु सङ्केतकरणाशक्तावपि विकल्प्ये सामान्ये क्वचिदशक्यसङ्केतत्वं तेनाशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपं भवेत्, कथंचिच्छक्यसङ्केतत्वसिद्धेः । स्यान्मतं ' सङ्केतितार्थस्य शब्दविषयस्य व्यवहारकालेननुगमनाद्विषयिणः शब्दस्य न तद्वाचकत्वमन्यथातिप्रसङ्गात् ' इति, तदेतद्विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्वं प्रत्यक्षेपि समानं, शब्दविकल्पकालवत् प्रत्यक्षप्रतिभासकालेपि विषयस्यासंभवात्, संभवे वा क्षणिकत्वाविरोधाद्वेद्यवेदकयोः समान-समयत्वप्रसङ्गाच्च । अथ भिन्नकालत्वेऽपि विषयात्प्रत्यक्षस्याविपरीतप्रतिपत्तिः, अन्यत्रापि सास्त्येव । नहि शब्दादर्थं परिच्छेत्तुं प्रवर्त-मानो विपरीतं प्रतिपद्यते प्रत्यक्षादिव प्रतिपत्ता, येन दर्शने एवाविपरीतप्रतिपत्तिर्भवति न पुनः शाब्देपीऽति बुद्ध्यामहे । क्वचिद्विकल्पे विपरीतप्रतिपत्तिमुपलभ्य सर्वत्र विपरीतप्रतिपत्तिकल्पनायां क्वचिद्दर्शनेऽपि विपरीतप्रतिपत्तिं समीक्ष्य सर्वत्र तत्कल्पनास्तु, विशेषा-भावात् । दर्शनविकल्पयोः परमार्थैकतानत्वाभावे न किंचित्सिद्धम् । दृष्टस्यानिर्णयाददृष्टकल्पनाददृष्टनिर्णयस्य प्रधानादिविकल्पावि-शेषात् कुतो दर्शनस्य कल्पनापोढस्यापि परमार्थैकतानत्वम् ? । न हि दृष्टे स्वलक्षणे निर्णयः संभवति, तस्य तदविषयत्वात् । अदृष्टे तु सामान्यलक्षणे निर्णयः प्रवर्तमानो न प्रधानादिविकल्पाद्विशिष्यते । इति सकलप्रमाणाभावात्प्रमेयाभावसिद्धेरवक्तव्यतैकान्तवादिनां नैरात्म्यमेवायातं सर्वथाप्यशक्यसमयत्वेनाप्यशक्यत्वपक्षस्यासंभवादनवबोधपक्षवदभावस्यैव निर्व्याजत्वसिद्धेः ततः क्षणक्षयैकान्तपक्षे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः । स चोपहासास्पदमेव स्यात् ॥ ६० ॥ तथा हि ।

मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावादिति वचनजनककरणवीर्याविषयत्वस्यैवाशक्यपदार्थत्वात् सिद्धैर्वक्तुमशक्यत्व-स्येत्थमेवोपपत्तेरिति भावः । उक्तमेव हेतुना विशदीकरोति तेषामिति तथा वचने यथा तात्पर्यं नियामकमनुगतत्वान्नतु

तदुत्थापकानि प्रकरणादीन्यननुगतत्वात्, तथाऽवचनेऽशक्यत्वमेव नियामकमनुगतत्वान्नतु तदुत्थापकानि मौनव्रतादीन्यननुगतत्वादिति भावः। 'न चैवमिति' एवं मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावे, अन्तर्जल्पसम्भवादिति बहिः स्पष्टोच्चाराभावेऽप्यन्तर्वचनजनककरणवीर्यसत्त्वादन्यथाऽन्तर्जल्पाप्रत्यक्षापत्तेर्मध्यमावैखर्योर्भेदानापत्तेश्चेति भावः। तत्त्वावबोधाभावेऽपि चेति तथा च तद्भावाभावयोर्भावादनवबोधव्यभिचारित्वमशक्यत्वस्येति न तत्रानवबोधोऽन्तर्भावयितुं शक्य इत्यर्थः। तदभावोऽवबोधाभावः। आद्यन्तोक्तिद्वयस्येति कारिकाक्रमापेक्षया, को ह्यर्थविशेष इति, अर्यत इत्यर्थः इति व्युत्पत्त्या को हि प्रकारभेद इत्यर्थः। अवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति अवाच्यत्वं नैरात्म्यं चेति पक्षयोरित्यर्थः। 'अर्थरूपमिति' तथा च भावाभावविषयत्वाद्विशेष इत्यर्थः। समानसमयत्वप्रसङ्गादिति क्षणिकत्वविरोधे हेतुत्वेनान्वेति, प्रत्यक्षकालवृत्तेर्विषयस्य तद्धेतुत्वरक्षायै प्राक्कालवृत्तित्वस्याप्यभ्युपगमे क्षणिकत्वविरोधस्य स्पष्टत्वात्। द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्यैव क्षणिकलक्षणत्वादितरस्याविनिगम्यत्वात् ॥ ५० ॥

हिनस्त्यनभिसन्धातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत्। बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥

हिंसाभिसंधिमच्चित्तं न हिनस्त्येव प्राणिनं, तस्य निरन्वयनाशात् संतानस्य वासनायाश्चासंभवात्। अनभिसन्धिमदेवोत्तरं चित्तं हिनस्ति। तत एव हिंसाभिसन्धिहिंसाचित्तद्वयादपेतं चित्तं बध्यते। यच्च बद्धं तन्न मुच्यते, ततोऽन्यस्य मुक्तेः। इति कोन्यः प्रकाशयेन्निरन्वयात् तस्यैवम्? संतानादेरयोगादिति —कर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात् कर्तुरचिकीर्षुत्वात् तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्तदविनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वं कुर्वतो वा यत्किंचनकारित्वं प्रत्येतव्यम्। न चैवमनेकान्तवादिनः, प्रतिक्षणं परिणामान्यत्वेऽपि जीवद्रव्यस्यान्व-

यात् चिकीर्षेरेवेतिकर्तव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरेव च कर्मबन्धाद्बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः सर्वथा विरोधाभावात्। क्षणिकवादिनामपि संतानस्यैकत्वात्पूर्वपूर्ववासनोपहितोत्तरोत्तरचित्तविशेषस्योत्पत्तेरनुपालम्भ इति चेन्, न, संतानस्यावास्तवत्वाद्वास्यवासकभावस्याप्यसंभवादव्यभिचारकार्यकारणभावस्यापि तन्नियमहेतुत्वायोगात् सुगतेतरचित्तसंतानेष्वपि भावादिति निरूपितत्वाच्च क्षणिकैकान्तवादिनाम् ॥ ५१ ॥

'निरन्वयादिति' निरन्वयशब्दो निर्वंशत्वाद्यत्रमायेनान्वयाभाववादिनं सौगतं लक्षयंस्तस्य निन्द्यतामभिव्यनक्ति इतिकर्त्तव्यतासु क्रमनियतासु क्रियासु, अचिकीर्षत्वादिति न विद्यते चिकीर्षा यस्य क्षणस्य तत्त्वादित्यर्थः। 'तदुभयेति' चिकीर्षाकर्तृक्षणविनिर्मुक्तस्य तृतीयस्य बद्धत्वादित्यर्थः। तदविनिर्मुक्तेर्बद्धक्षणस्यामोक्षात्, अभिधेयत्वमभिधामात्रेणात्मन आश्वासः, कुर्वतो वा यत्किञ्चनकारित्वम् अबुद्धिपूर्वकप्रयासमात्रम्, पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरत्रानन्वयेन कार्यकारणसामानाधिकरण्याद्यभावादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः। चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥ ५२ ॥

सर्वथाप्यहेतुं विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद्यदि हिंसकत्वं ब्रूयात् कथमविक्लवः? तथा निर्वाणं संतानसमूलतलप्रहाणलक्षणं सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाऽजीवस्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकं यदि ब्रूयात्तदापि कथं स्वस्थः? तयोरहेतुकविनाशाभ्युपगमहिंसकत्वयोरष्टाङ्गहेतुकत्वनिर्वाणवचनयोश्चान्योन्यं विप्रतिषेधात् सुगतस्य सर्वज्ञत्वेतरवत् ॥ ५२ ॥

'सम्यक्त्वेत्यादि,' सम्यक्त्वं बुद्धधर्मश्रद्धा १, संज्ञा स्त्र्याद्यभिधानं २ संज्ञी स्त्र्यादिरेव ३ वाक्कायव्यापारस्तत्कर्म ४ अन्तर्व्यायामो वायुनिरोधः ५ अजीवो जीवाभावो नैरात्म्यमिति यावत् ६ स्मृतिः पिटकत्रयार्थानुचिन्तनं ७

ध्यानं समाधि ८ रेतान्यौचित्येन प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वाराऽष्टौ निर्वाणाङ्गानि सौगतानाम् ॥ ५२ ॥

विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः । आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥ ५३ ॥

विसदृशरूपं विरूपं कार्यम् । तदारम्भाय हिंसाहेतोर्बन्धकस्य मोक्षहेतोश्चाष्टाङ्गस्य सम्यक्त्वादेः समागमो व्यापारो यदि ताथागतैरिष्यते तदासौ हेतुसमागम एवाश्रयो, नाशोत्पादयोः कारणत्वात् । स चाश्रयिभ्यां कार्यरूपाभ्यां नाशोत्पादाभ्यामनन्य एव, न पुनर्भिन्नः, तयोरविशेषादयुक्तवत् । यथैव हि शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासयोर्वा तादात्म्यमापन्नयोरयुक्तयोः कारणसन्निपातो न भिन्नः संभवत्येककारणकलापादेवात्मलाभादन्यथा तादात्म्यविरोधात् । तथैव पूर्वाकारविनाशोत्तराकारोत्पादयोरपि, नीरूपस्य विनाशस्यानिष्टेरुत्तरोत्पादरूपत्वाभ्युपगमात् तयोर्भिन्नकारणत्वे तद्विरोधान्तनान्तरप्रवेशानुषङ्गाच्च । सोयं विसदृशकार्योत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावात् पूर्वाकारविनाशस्याहेतुकत्वमुपयन्नाशहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावादुत्तरोत्पादस्याहेतुकत्वं नानुमन्यते इति कथमनाकुलः ? । विसभागसंतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्न प्रध्वंसाय, पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेरिति चेत्, स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किन्न स्यात् ? तद्धेतोरप्यकिंचित्करत्वमसमर्थनाद्विनाशहेतुवत् । स्वरसोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तेन व्यपदिश्यते इति चेदितरत्र समानम् । कार्यक्षणवत्पूर्वक्षणप्रध्वंसस्यापि हेत्वनन्तरभावित्वाविशेषात्तेन व्यपदेशोस्तु, न वा कार्यस्यापीत्यविशेषः । परमार्थतस्तदहेतुकत्वे प्रतिपत्त्रभिप्रायाविशेषेपि स्वतःप्रहाणवादी न शक्नोत्यात्मानं न्यायमार्गमनुकारयितुं, तथा वदतस्तस्य न्यायातिक्रमात् । न च निरन्वयविनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः श्रेयान्, सर्वदा विरूपकार्यत्वात्, कारणस्य कथंचिदन्वयापाये सभागप्रत्ययायोगात् । सभागविसभागावक्लृप्तिं प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं ततः किं नानुजानीयात् ? न च समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ

पृथग्भूतौ मिथः स्वाश्रयतो वा यौ समं सहेतुकेतरौ स्तां, प्रतिपत्त्यभिधानभेदेऽपि ग्राह्यग्राहकाकारवत्, स्वभावप्रतिबन्धात्। न हि तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः, समसमयत्वात् "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" इति वचनात्। नापि स्वाश्रयेण सह कार्यकारणभावः, समनन्तरस्वलक्षणक्षणाभ्यां नाशोत्पादयोरर्थान्तरत्वप्रसङ्गात्। तयोस्तद्धर्मत्वाद्विशेषणविशेष्यभावः संबन्ध इति चेन्न, वैशेषिकमतसिद्धेः। कल्पनारोपितत्वात्तयोर्न तत्सिद्धिरिति चेत्तर्हि पूर्वक्षणविनाशोनन्तरक्षणस्वभावस्तदुत्पादश्चेति सिद्धः स्वभावप्रतिबन्धः। न चैवं प्रतिपत्त्यभिधानभेदो विरुध्यते, सर्वविदि ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तद्विरोधप्रसङ्गात्। ततस्तद्वत्तयोरभेद एव। संज्ञाच्छन्दमतिस्मृत्यादिवत्सत्यपि भेदे समकालभाविनोः कथं सहकारी पुनरन्यतरस्यैव हेतुरहेतुर्वा स्यात्, कार्यरूपादेरिव कारणम्। संज्ञा हि प्रत्यभिज्ञा, छन्द इच्छा। तेनादिशब्दस्योभयत्र संबन्धान्निदर्शनद्वयं वादिद्वयापेक्षयोच्यते। संज्ञाछन्दादिवन्मतिस्मृत्यादिवच्च क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे समकालभाविनोस्तयोर्घटकपालाश्रययोरिव सहकारी मुद्गरादिः कथं कपालोत्पादस्यैव हेतुर्न पुनर्घटविनाशस्य, तस्यैव वाऽसौ हेतुर्न तु कपालोत्पादस्य स्यात्, कार्यरूपादिस्तवकस्यैकसामग्र्यधीनस्य कारणरूपादिस्तवकवत्। यतश्चैवं तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत्। न हि कारणरसादिकलापः कार्यस्य रसस्यैव हेतुर्न पुना रूपादेरिति प्रतीतिरस्ति, यतः साध्यशून्यो दृष्टान्तः स्यात्, नाप्यसहभावो रसादीनां, येन साधनविकलः। पुरुषधिषणाभ्यामनेकान्त इति चेन्न, सौगतानां पुरुषासिद्धेः। स्याद्वादिनां तु तस्यापि सहेतुकत्वात् पर्यायार्थतो धिषणावत्, द्रव्यार्थतोऽहेतुकत्वाच्च धिषणायाः पुरुषवन्न ताभ्यां हेतोर्व्यभिचारिता, कारणानन्तरं सहभावात्। इति प्रकरणसामर्थ्यात्सविशेषणस्य सहभावस्य हेतुत्वाद्वा न व्यभिचारः स्यात्। न चैवमसिद्धं साधनम्, मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि

कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात। ततः कार्योत्पादवत्कारणविनाशः सहेतुक एवाभ्युपेयः। ननु हेतोर्न तस्य किंचिद्भवति, न भवत्येव केवलमिति चेन, तर्हि कारणात्कार्यस्य न किंचिद्भवति, भवत्येव केवलमिति समानं विनाशवदुत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वापत्तेः। तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः। कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्यभावं न भावीकुर्याद् भावं करोतीति कृतस्य करणायोगादकिंचित्करः स्यात, सर्वथा भावं भावीकुर्वतो व्यापारवैफल्यात। तदतत्करणादिविकल्पसंहतिरुभयत्र सदृशी। यथैव हि विनाशहेतोः कूटस्थ तदभिन्नविनाशकरणे तत्करणादकिंचित्करत्वं, तद्भिन्नविनाशकरणे च तदुपलम्भप्रसक्तिः। तथोत्पादहेतोर्भावादभिन्नोत्पादकरणेप्यकिंचित्करता, सतः करणायोगात। सर्वथाप्यसतो भावादभिन्नस्योत्पादस्य करणेपि न किंचित् कृतं स्यात् खपुष्पसौरभवत। सतोऽसतो वार्थान्तरस्य जन्मनः करणे तु न सदसद्वा कृतं स्यात। एतेन प्रागसतोनर्थान्तरस्यार्थान्तरस्य चोत्पादस्य हेतुना करणे तस्याकिंचित्करत्वमुपदर्शितं प्रतिपत्तव्यम, प्रागसतोनन्यस्य सत्त्वायोगात, ततोन्यस्य सत एव करणे वैफल्यात। ततो यदि न विनाशार्थो हेतुसमागमस्तदोत्पादार्थोपि मा भूत, सर्वथा विशेषाभावात॥ ५३॥

हेतुसमागमः समागतो हेतुः स्वेतरसकलकारणसंभृतमुपादानकारणमिति यावत्॥ आश्रयिभ्यामुपादेयत्वेनाधेयाभ्याम्, अनन्यः प्राप्नोतीति शेषः, अयुक्तवदपृथक्सिद्धयोर्द्वयोरिव, ततः किं नानुजानीयादिति, ततः प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्, समनन्तरक्षणयोरव्यवहितपूर्वोत्तरक्षणयोः, प्रतिपत्त्रभिधानभेदेऽपीति अयमुत्पादोऽयं च विनाश इति प्रतिपत्तिभेदः, एतदाकार एव चाभिधानभेदः, "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति वचनादिति सत्त्वव्यम्। संज्ञेत्यादिभाष्ये वतिरिवार्थः, तेनायमर्थः संज्ञाछन्दाद्योर्मतिस्मृत्याद्योरिव क्रमभाविनोरुदासीननाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे प्रकृतयोः

समकालभाविनोर्घटकपालनाशोत्पादयोः रूपरसादिवत्कथञ्चिदभेदात्कथमुपादानसहकारी मुद्गरादिरन्यतरस्य कपालजातस्य हेतुरेवान्यतरस्य घटनाशस्याहेतुरेव च स्यात्, कारणरूपादिस्तोमाधीनकार्यरूपादिस्तोमवदेकसामग्र्यधीनत्वात्तयोः, नच रूपादौ रूपादेरेव हेतुत्वं रसादेस्तु सहभाविनोऽप्यन्यथासिद्धत्वादेवाहेतुत्वं तद्वदत्रापि कपालोत्पाद एव मुद्गरादेर्हेतुत्वं नतु घटनाशेऽन्यथा सिद्धत्वादित्यपि वक्तुं शक्यम्, रसादौ नियतोपस्थितिकरूपादिनाऽन्यथा सिद्धिसम्भवेऽप्यत्राविनिगमेन तदसम्भवात् ॥ कारणानन्तरं सहभावादिनीति इतिः प्रयोगाकारोपदर्शनार्थः । अनेन प्रयोगेणेत्यर्थः, सविशेषणस्य कारणानन्तर्यविशेषणविशिष्टस्य, हेतुत्वाद्धेतुत्वेनोपन्यासात्, कार्योत्पत्तिहेतुर्येति यथा कार्योत्पत्तिहेतुरभावं भावीकरोति न पुनरकिञ्चित्करस्तथा विनाशहेतुर्भावमभावीकरोति न पुनरकिञ्चित्कर इत्यर्थः । इदं तु ध्येयम् । भेदाभेदनियतश्चिवप्रत्ययार्थः स्याद्वाद एव युज्यते नान्यथेति ॥ ५३ ॥

किं च क्षणिकैकान्तवादिनां परमाणवः क्षणा उत्पद्यन्ते स्कन्धसन्ततयो वा ? प्रथमपक्षे स्थाप्यस्थापकविनाश्यविनाशकभाववद्धेतुफलभावविरोधात्कुतः सहेतुकोत्पत्तिरहेतुका वा ? स्थितिविनाशवत् । द्वितीयपक्षे तु ।

स्कन्धसन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः । स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥ ५४ ॥

साध्याभावसंभूष्णुताविरहाद्धेतोरन्यथानुपपत्तिरनिश्चितेति न मन्तव्यं, साध्याभावे तदभावप्रसिद्धेः सौगतस्य । तथा हि । रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्कन्धसंततयोऽसंस्कृताः संवृतित्वात्, यत्पुनः संस्कृतं तत् परमार्थसत्, यथा स्वलक्षणं, न तथा स्कन्धसंततयः, इति साध्यव्यावृत्तौ हेतोर्व्यावृत्तिनिश्चयात् । खरविषाणादौ सांवृतत्वस्यासंस्कृतत्वेन व्याप्तस्य प्रतिपत्तेः सिद्धान्यथानुपपत्तिः ।

ततः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिताः प्रतिपाद्यन्ते । तथा हि । स्कन्धसन्ततयः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिता एवासंस्कृतत्वात् खरविषाणवत् । क्षणं स्थित्युत्पत्तिविपत्तिसहितस्य स्वलक्षणस्य संस्कृतत्वोपगमादन्यथानुपपत्तिसिद्धिः साधनस्य प्रत्येया । स्याद्वादिनामपि स्थित्युत्पत्ति-विपत्तिमतः कथंचित् संस्कृतत्वसिद्धेर्न व्यभिचारः । सर्वथा स्थितिमतोऽसंस्कृतस्य च कस्यचिद्वस्तुनोऽनुपपत्तेश्च निरवद्योयं हेतुः । ततो विसभागसंतानोत्पत्तये विनाशहेतुरिति नोपपद्यते, रूपादिस्कन्धसंततेरुत्पत्तिनिषेधात् तद्विनाशस्यापि खरविषाणवदसंभवात् । तथा हि । स्कन्धसंततयो विनाशरहिताः स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् । यत् पुनर्विनाशसहितं तत्र स्थित्युत्पत्तिरहितं, यथा स्वलक्षणम् । न तथा स्कन्ध-संततयः । इति स्थित्युत्पत्तिव्ययाः न सन्त्येषां स्कन्धानां खरविषाणवत् । तदभावे विरूपकार्यारम्भाय हेतुसमागम इति कथन्न सुतरां प्लवते ? ततो न क्षणिकैकान्तः श्रेयान्नित्यैकान्तवत्सर्वथा विचारासहत्वात् ॥ ५४ ॥

स्थाप्यस्थापकेत्यादि यथा परमाणूनां स्थाप्यस्थापकभावादिर्विरुध्यते तथा हेतुफलभावोऽप्यनन्वयेन कल्पनामात्रे विश्रामात्, तच्चेदं पूर्वक्षणः स्थापकः उत्तरक्षणः स्थाप्यः उत्तरक्षणो विनाशकः पूर्वक्षणो विनाश्य इति, असंस्कृता उत्पत्तिरहिताः, 'रूपेत्यादि' रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीय(विजातीय)व्यावृत्ताः परस्परासम्बद्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदना-स्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानादयो विज्ञानस्कन्धाः, वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः, ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कार-स्कन्धाः । स्कन्धसन्ततय इत्यादि, न चेदमनुमानं कारिकाऽसूचितत्वेनाधिकम्, परार्द्धेनास्य प्रसङ्गानुमानतया व्यक्त-मुक्तत्वादित्यवधेयम् ॥ ५४ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥

नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुं, विरोधाद्युगपज्जीवितमरणवत् । तादात्म्ये हि नित्यत्वानित्यत्वयोर्नित्यत्वमेव स्यादनित्यत्वमेव वा । तथा च नोभयैकात्म्यं, विप्रतिषेधात् । नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामत एवानभिलाप्यमित्ययुक्तं, तदेकान्तेऽनभिलाप्योक्तेरनुपपत्तेः, सर्वथानभिलाप्यं तत्त्वमित्यभिलपत एव वचनविरोधात् सदा मौनव्रतिकोऽहमित्यादिवत् ॥ ५५ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यमित्यादि प्रागुक्तदिशा व्यक्तार्थम् ॥ ५५ ॥

तदेवं नित्यत्वाद्येकान्तानुपपत्तौ सामर्थ्यात्तदनेकान्तसिद्धिप्रतिपादनेऽपि तत्त्वोपप्लववादिदुराशयविनाशनाय तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्याय च स्याद्वादिवादन्यायानुसरणेन नित्यत्वाद्यनेकान्तमुपदर्शयन्ति सूरयः—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा । क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥ ५६ ॥

ते भगवतोऽर्हतः स्याद्वादन्यायनायकस्य सर्वं जीवादितत्त्वं स्यान्नित्यमेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । नाकस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानं तस्याविच्छेदेनानुभवात् । निर्विषयं हि प्रत्यभिज्ञानमकस्मादिति प्रसिद्धम् । यथा तादृशे तदेवेदमिति, तत्रैव वा तादृशमिदमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानम् । न चैवं जीवादितत्त्वे प्रत्यभिज्ञानं, बाधकाभावात्तदविच्छेदात् । प्रत्यक्षं बाधकमिति चेत्, न, तस्य वर्तमानपर्यायात्मकवस्तुविषयत्वात्, पूर्वापरपर्यायव्याप्यैकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्यभावात् । न च स्वस्याविषये किंचिद्बाधकं साधकं वा, श्रोत्रज्ञानविषये चक्षुर्ज्ञानवत् । तत एव नानुमानं, तस्यान्यापोहमात्रगोचरत्वात्तत्र साधकबाधकत्वोपपत्तेः । प्रमाणान्तरं तु नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिर्यत्प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं स्यात् । इति सत्यप्रत्यभिज्ञानमेव वितथप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकम् । सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं सम्यगेवास्य जीवादावेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यानाद्यविद्योदयापादितस्य भ्रान्तस्य बाधकमिति चेत्, न, अस्य भ्रान्तत्वासिद्धेः, सदृशापरापरोत्प-

स्त्यनिश्चयात् । ननु च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानान्निरन्वयविनाशित्वसिद्धे-र्जीवादिक्षणानामेकत्वासंभवात् सादृश्यप्रत्यभिज्ञानविषयत्वोपपत्तेर्भ्रान्तमेव तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सिद्धमविसंवादाभावादिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य विरुद्धत्वात् । तथा हि । यत्सत् तत्सर्वं कथंचिन्नित्यं, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरिति । अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वं, सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्याभावात् सर्वथा क्षणिकत्ववत् । तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात् सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न हि कूटस्थेर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः, क्षणिके वान्वितं रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा स्यात् । नापि युगपदनेकस्वभावत्वं, यतो यौगपद्यं, कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वय-क्षणिकत्वव्याघाताच्च । सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि न साधीयसी स्वयं तदपेक्षा, क्रमेतरस्वभावत्वाभावे तद-नुपपत्तेः । तत्कार्याणां तदपेक्षा, न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य वेत्यपि न श्रेयान्, तेषां तदकारित्वप्रसङ्गात् । तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्तेरन्यथानुत्पत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णय इति चेत्, तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावस्तेनैव सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात्तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात्क्रमकार्यानुपपत्तिः, सहकार्यन्तराभावेपि च तत्सहभावात्सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत । स्वभावान्तरैः सह कार्यान्तरसहभावे तस्य क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकं स्यात् ? कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः । एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्येयः । ततः सत्त्वं कथंचिन्नित्यमेव साधयतीति विरुद्धत्वान्न प्रत्यभिज्ञानविषयस्यैकत्वस्याप-हारकं, येन सादृश्यविषयत्वात्तस्य बाधकं सिद्ध्यद्भ्रान्ततां साधयेत् । ननु चेदं प्रत्यभिज्ञानं नैकं प्रमाणं, तदित्युल्लेखस्य प्रत्ययस्य स्मर-

णत्वादिदमित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात् । न चैताभ्यां प्रत्ययविशेषाभ्यामतीतवर्तमानविशेषमात्रगोचराभ्यामन्यत् संवेदनमेकत्वपरामर्शि समनुभूयते, यत्प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं स्यान्नित्यत्वस्य साधकम् । अतः स्वरूपासिद्धो हेतुरिति कश्चित्, सोपि प्रतीत्यपलापी, पूर्वोत्तरविवर्तस्मरणदर्शनाभ्यामुपजनितस्य तदेकत्वसंकलनज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन संवेद्यमानस्य सुप्रतीतत्वात् । न हि स्मरणमेव पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वं संकलयितुमलम् । नापि दर्शनमेव । तदुभयसंस्कारजनितं विकल्पज्ञानं तत् संकलयतीति चेत्, तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम् । न च तदकस्मादेव भवतीति निर्विषयं, बुद्ध्यसंचरदोषात् । न हि प्रत्यभिज्ञानविषयस्याविच्छिन्नस्य नित्यत्वस्याभावे बुद्धेः संचरणं नाम, निरन्वयविनाशाद्बुद्ध्यन्तरजननानुपपत्तेः, यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामीति पूर्वोत्तरपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेन गमनासंभवात्, ततोन्यस्य बुद्धिसंचरणस्येहाप्रस्तुतत्वात् । तथाविधैकत्ववासनावशाद्बुद्धिसंचरणं न पुनः कथंचिन्नित्यत्वादिति चेत्, न, कथंचिन्नित्यत्वाभावे संवेदनयोर्वास्यवासकभावायोगात्कार्यकारणभावविरोधात् । ततो बुद्धिसंचरणान्यथानुपपत्तेर्नाकस्मिकं प्रत्यभिज्ञानं विच्छेदाभावाच्च । इति कथंचिन्नित्यं वस्तु प्रसाधयति । तथा सर्वं जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिकं, प्रत्यभिज्ञानात् । न चैतत् क्षणिकत्वमन्तरेण भवतीत्यकस्मादुपजायते, तद्विषयस्य कथंचित्क्षणिकस्य विच्छिदऽभावात् । न च तद्विच्छिदसिद्धा, कालभेदात्, कालभेदस्य च पूर्वोत्तरपर्यायप्रवृत्तिहेतोरसिद्धौ बुद्ध्यसंचरणदोषात् । न च तदिदमिति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः संचरणापाये प्रत्यभिज्ञानमुदियात्, तस्य पूर्वापरपर्यायबुद्धिसंचरणनिबन्धनत्वात् । ननु च सर्वं नित्यं सत्त्वात् क्षणिके स्वसदसत्समयेर्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वविरोधात्, इत्यनुमानात् क्षणिकत्वस्य निराकृतेर्न प्रत्यभिज्ञानं तत्साधकं, प्रधानलक्षणविषयाविच्छेदसद्भावात् कालभेदासिद्धेर्बुद्ध्यसंचरणदोषानवकाशाद्बुद्धेरेकत्वगमनस्य संचरणस्य सिद्धेरिति चेत्, न, सर्वथा क्षणिकत्वस्यैव बाधनात्, कथंचित्क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये चार्थक्रियोपलब्धेः ।

सुवर्णस्य हि प्रतिविशिष्टस्य सुवर्णद्रव्यतया सत एव, कार्याकारतया चासत एव पूर्वपर्यायाविशिष्टस्योत्तरपरिणामविशेषात्मनोत्पद्यमानस्य प्रतीतिः परीक्षकेतरजनसाक्षिका, स्वसत्समये कार्यकरणं सव्यगोविषाणस्येतरविषाणकरणवन्निरस्यमानं, स्वासत्समये च मृतस्य शिखिनः केकायितकरणवदपाक्रियमाणं स्वयमेव व्यवस्थापयति। इति किं नश्चिन्तया, विरोधादिदूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात्। सोयमात्मादीनां स्वसत्समये एव कर्मादीनां च स्वसत्समये एव ज्ञानसंयोगादिकारणत्वमनुमन्यमानस्तथा संप्रत्ययादेकस्य स्वसदसत्समये एवैककार्यकरणं विरोधादिभिरभिद्रवतीति कथं संप्रत्ययोपाध्यायः? सम्यक्प्रतीयमानेपि विरोधमनुरुध्यमानः क पुनरविरोधं बुध्येत? द्रव्यपर्याययोरभेदैकान्तप्रतीतिं स्वसमयानुरागमात्रेणाननुभूयमानामप्यविरुद्धविषयां परिभाषते इति किमन्यत्कारणं महतोभिनिवेशात्? तदेवं कथंचित् क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं नानुमानविरुद्धम्। नापि प्रत्यक्षविरुद्धं, सर्वस्येदानीन्तनतया प्रत्यक्षेणानुभवात्, तेन तस्यातीतानागततयानुभवनेऽनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्यानुभवप्रसङ्गाद्योगित्वापत्तेः, साम्प्रतिकतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वानुभवरूपत्वात्, क्षणमात्रस्यैव साम्प्रतिकत्वोपपत्तेः, पूर्वोत्तरक्षणयोः साम्प्रतिकत्वेऽनाद्यनन्तक्षणसंततेरपि साम्प्रतिकत्वानुषङ्गादतीतानागतव्यवहारविलोपात्। न चैवं क्षणिकैकान्तस्य प्रत्यक्षतः प्रसिद्धिः कथंचिदक्षणिकत्वविरोधः, पर्यायाकारतयार्थस्येदानीन्तनतयानुभवविच्छेदेपि द्रव्यतया तदविच्छेदात्, तद्विच्छेदे द्रव्यत्वविरोधात्। शश्वदविच्छिन्नेदानीन्तनत्वस्य द्रव्यत्वादनित्यत्वैकान्तस्याव्यवस्थितेर्नित्यत्वैकान्तवत् तदेकान्तद्वयेपि परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः स्यान्नित्यमेव सर्वं स्यादनित्यमेवेति सिद्धः। स्थित्यभावे हि प्रमातुरन्येन दृष्टं नापरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति। पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः कार्यकारणभावलक्षणे संबन्धविशेषेपि पित्रेव दृष्टं पुत्रो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति। तयोरुपादानोपादेयलक्षणः सन्नप्यतिशयः पृथक्त्वं न निराकरोति। पृथक्त्वे च पूर्वापरक्षणयोः प्रत्यवमर्शो न स्यात्।

यदेव हि पृथक्त्वं तदेवान्यत्रापि प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनं, सर्वत्र तदविशेषात् । यदि पुनरेकसंततिपतितेषु प्रत्यवमर्शो न पुनर्नानासंततिपतितेषु पृथक्त्वाविशेषेपि वासनाविशेषसद्भावादिति मतं, तदा सैवैकसंततिः क्वचिदेव कुतः सिद्धा ? प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, तर्हि एकसंतत्या प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसंततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत् । न च पक्षान्तरे समानं, स्थितेरनुभवनात् । न ह्येकद्रव्यसिद्धेः प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाच्चैकद्रव्यसिद्धिः स्याद्वादिभिरिष्यते, येन तत्पक्षेपि परस्पराश्रयणं, भेदज्ञानाद् भेदसिद्धिवदभेदज्ञानात् स्थितेरनुभवाभ्युपगमात् । तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाश्वासः, तथानुभवनिर्णयानुपलब्धेर्यथा स्वलक्षणं परिगीयते । सोयं प्रतिक्षणमुत्पादविनाशौ सर्वथा स्थितिरहितौ सकृदप्यनिश्चिन्वन्नेव स्थित्यनुभवनिर्णयं विभ्रान्तं कल्पयतीति कथं न निरात्मक एव ? तत्रैतत्स्यात् स्वभावाविनिर्भागेपि न संकलनं दर्शनक्षणान्तरवत् । न ह्येकस्मिन्दर्शनविषये क्षणेऽविनिर्भागेपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति । सत्यमेकान्ते एवायं दोषः, सर्वथा नित्ये पौर्वापर्यायोगात् प्रत्यभिज्ञानासंभवात् । ततः क्षणिके कालभेदात् । न चायमसिद्धः, दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदे तदुभयाभावप्रसङ्गात्, दर्शनसमयस्याभेदे तन्निर्णयानुपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानसमयस्याभेदे पूर्वापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यप्रत्यवमर्शासंभवात् । ततो दर्शनकालोऽवग्रहेहावायधारणात्मकनिर्णयहेतुर्भिन्न एव, प्रत्यभिज्ञानकालश्च पुनस्तद्दर्शनस्मरणसंकलनहेतुरिति प्रतिपत्तव्यम् । किं च पक्षद्वयेपि ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धिः । न हि नित्यत्वैकान्तपक्षवत्क्षणिकैकान्तपक्षेपि ज्ञानसंचारोस्ति, तस्यानेकान्ते एव प्रतीतेः । केवलमपोद्धारकल्पनया कथंचिज्जात्यन्तरेपि वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो व्यवस्थाप्येरन्, सर्वथा जात्यन्तरे तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तेः स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनात्, सर्वथा तदजात्यन्तरवत् । न च स्वभावभेदोपलम्भेपि नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि ग्राहकाकारवत् । न ह्येकस्य वस्तुनः सकृदनेकस्वभावोपलम्भे नानात्वप्रसङ्गः,

संविद्वेद्यवेदकाकाराणां नानाज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तेषामशक्यविवेचनत्वादेकज्ञानत्वे स्थितिजन्मविनाशानामपि क्वचिदेकवस्तुत्वमस्तु, तदविशेषात् । क्वचिदेकत्र रूपरसादीनामप्यशक्यविवेचनानामेकवस्तुत्वापत्तिर्नोनिष्टकारिणी, तेषां नानावस्तुत्वानिष्टेः । न चात्माकाशादीनां देशाभेदेऽप्यशक्यविवेचनत्वं, तेषां परैकद्रव्यतादात्म्याभावात् । सत्त्वैकद्रव्यतादात्म्ये पुनरेकवस्तुत्वमिष्टमेव स्याद्वादिनाम् "एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्" इति वचनात् । ततो न वैयधिकरण्यम् । एतेनोभयदोषप्रसङ्गोपास्तो, वेद्याद्याकारात्मबोधवदुत्पादाद्यात्मवस्तुनो जात्यन्तरत्वात्, अचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम् । न चैवं विरोधप्रसङ्गः, तस्यानुपलम्भसाधनादेकत्रैकदा शीतोष्णस्पर्शवत्, स्थित्यादिषु चोपलम्भसद्भावादेकवस्तुन्येकदानुपलम्भासिद्धेः संविदि वेद्याद्याकारवत् । एतेन संशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, स्थित्याद्युपलम्भस्य चलनाभावात् । तत एव न संकरप्रसङ्गः, स्थित्यात्मन्युत्पादविनाशानुपलम्भादुत्पादविनाशयोश्च स्थित्यनुपलब्धेः । एकवस्तुनि युगपत्स्थित्याद्युपलम्भात्सङ्कर इति चेत्, न, परस्परमसङ्करादुत्पादादीनाम् । तद्वति तु सङ्करो वस्तुलक्षणमेव । एतेन व्यतिकरप्रसङ्गो व्युदस्तः, स्थित्यादीनां परस्परगमनाभावात् संविदि वेद्याद्याकारवत् । तत एव नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषां त्रयात्मकत्वानुपगमात् । न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ॥ ५६ ॥

नित्यमित्यादि, ते तव मते, तज्जीवाजीवाद्यधिकृतं वस्तु, नित्यं स्यान्नित्यमेव, कस्मात् प्रत्यभिज्ञानात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न च ध्वंसाप्रतियोगित्वे साध्ये घटादौ व्यभिचारोऽक्षणिकत्वे साध्ये चोद्देश्यासिद्धिरिति वाच्यम् । तदेतत्कालवृत्तिध्वंसाप्रतियोगित्वस्य साध्यत्वे दोषाभावात्, स्यान्नित्यत्वस्य तद्धर्मावच्छिन्नस्यात्रैव पर्यवसानादिति बोध्यम्

नत्प्रत्यभिज्ञानम्, अकस्मान्निर्विषयं, न। कुतः नदविच्छिदा विच्छेदनं विच्छित्, न विच्छिदविच्छित् तया, अभेदरूपाविच्छेदानुभवादित्यर्थः । विपर्यये इन्याध्याहार्यम्। विपर्यये स्यान्नित्यत्वाऽभावे, बुद्ध्यसञ्चरदोषनोऽनुभवपरिणतस्यात्मनः स्मृतिपरिणामरूपैकत्वगमनानापत्तेः, क्षणिकस्य क्रमिकोभयपरिणामानाधारत्वादिति भावः। एवं तत्तेदंतापरिणतबुद्धिविषयैक्यानुपपत्तेर्विपर्यये विषयतोऽपि बुद्ध्यसञ्चरदोषापत्तिर्व्याख्येया। तथा न तव मते, जीवाजीवादिवस्तु कथञ्चित् क्षणिकं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न च प्रत्यभिज्ञानमाकस्मिकं, तत्तेदंतापरिणामद्वयोपरागेणाविच्छेदानुभवात्. सर्वथैक्यस्य विषयत्वे स स इत्यापत्तेः, स्थूलकालभिन्नाभेदभाने च क्षणभिन्नधर्माभेदभानस्याप्यर्थतः सिद्धत्वात्, भिन्नकालयोर्द्धर्मयोरेकत्र धर्मिणि तादात्म्येन भाने तयोर्मिथोऽपि स्वावच्छेदककालान्यकालवृत्तित्वसम्बन्धेनान्वयादिति भावः। न चात्राप्रयोजकत्वं, कथञ्चित्क्षणिकत्वाभावे दर्शनस्मरणबुद्ध्योः पूर्वोत्तरपर्यायाप्रवृत्त्याऽसञ्चरणदोषापत्तेः। क्षणिकधर्माभिन्नत्वाच्च धर्मिणोऽपि क्षणिकत्वं कथञ्चिदविरुद्धमेव। वस्तुतः क्षणसम्बन्धस्य क्षणे वस्तुनि च लाघवादेकस्यैव कल्पनात् सिद्धमनायासेन सर्वत्र क्षणिकत्वमिति पत्रावलम्बने प्रदर्शयिष्यामः। 'प्रमाणान्तरं नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिरिति' अनुमानभिन्नं प्रमाणन्त्वप्रत्यक्षं क्षणिकवादिभिर्नेष्यते इत्यर्थः, यद्यपि प्रमाणान्तरमित्यत एव प्रकृतबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन प्रमाणप्रतियोगिकभेदवत्प्रमाणमित्युक्तार्थो लभ्यत एव न तदर्थं विशिष्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नवाचकपदमपेक्ष्यते, नीलो घटोऽस्ति न घटान्तरमित्यादौ तथा दर्शनात्, तथाऽप्यनुमानादिति स्पष्टार्थमिति मन्तव्यम्। नापि युगपदनेकस्वभावत्वमिति नित्ये क्षणिके चेति गम्यम्। यतो

यौगपद्यमित्यनन्तरं स्यादिति शेषः । 'कौटस्थ्यविरोधादिति,' यद्यपि क्रमभाविपूर्वापरस्वभावत्यागोपादाननियतः कौटस्थ्यविरोधो न युगपदनेकस्वभावत्वे, तथापि युगपदेकस्यानेकस्वभावव्यापित्वाविरोधवत् क्रमेणापि तस्य तत्प्राप्तौ कौटस्थ्यं विरुध्यत एवेति द्रष्टव्यम् । इयमेव दिग् निरन्वयक्षणिकत्वव्याघातेऽपि । तदुभयसंस्कारजनितमिति । न च संस्कारजन्यत्वे प्रत्यभिज्ञानस्य ततस्तत्तोल्लेख एव स्यान्नेदंतोल्लेख इति शङ्कनीयम् । उल्लेखविशेषे विषयताविशेषस्यैव प्रयोजकत्वाद्वह्निपर्वतयोरनुमिनोमि नानुमिनोमीतिवदिति द्रष्टव्यम् । कथं सम्प्रत्ययोपाध्यायः कथं विश्वासगुरुर्न कथञ्चित्, प्रत्येकाविरोधवत् समुदायाविरोधस्यानुभवसाक्षित्वादिति भावः । इदानींतननयेति, न च क्षणस्यायोग्यतया प्रत्यक्षे भानायोगः, "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति" वचनादिति वाच्यम् । योग्योपसर्जनतयाऽयोग्यस्यापि वर्त्तमानक्षणस्य क्षयोपशमोपनीतस्य प्रत्यक्षे भानाविरोधात्, संसर्गतया वास्तु म(न)द्भानाविरोध इति दिग् । योगित्वापत्तिः तत्प्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षत्वाप(त्तेः)त्तिः, ततः क्षणिकं कालभेदादिति नानाक्षणसम्बन्धभेदादित्यर्थः । अपोद्धारकल्पनयेति अपोद्धारकल्पना तन्निमित्तभेदविवेचनं, कथञ्चिज्जात्यन्तरे सखण्डधर्मतादात्म्यसहिष्णावखण्डपदार्थे, सर्वथा जात्यन्तरे सर्वथा नित्ये सर्वथाऽनित्ये च परस्परनिरपेक्षे । अशक्यविवेचनत्वस्यैकत्वनिबन्धनत्वेऽतिप्रसङ्गमाशङ्कते—न चेत्यादिना, अशक्यविवेचनत्वं तत्रासिद्धम्, आश्रयभेदेन विवेचनशक्तेरित्युत्तरयति—तेषामित्यादिना तत्रैकद्रव्यमित्यन्तेन, सदाद्यात्मनाऽऽकाशादीनां तादात्म्याश्रयणे तु सङ्ग्रहनयार्पणया देशाभेदेनैकद्रव्यत्वमिष्टमेवेत्याह—तादात्म्ये पुनरित्यादिना, इदं तु ध्येयम्, सत्त्वादिनात्माकाशादीनामेकत्वं यद्यप्येकजातीयत्वव्यवहारनिबन्धनं, न त्वेकद्रव्यत्वव्यवहारनिबन्धनं, घटादिपर्याये मृदादौ

सत्त्वादिनैकद्रव्यत्वानिष्टेः, तथाऽपि सत्त्वादिपर्याये द्रव्यत्वेनैवोर्ध्वतासामान्यत्वात्सदात्मनैकद्रव्यत्वं सर्वत्राविरुद्धं, तथा व्यवहारश्च सत्त्वादिपर्यायस्याश्रयतावच्छेदकावच्छेदेनैव, तेन सर्वमेकं द्रव्यं सदविशेषादितिवत् घट एकद्रव्यमित्यादिर्न प्रयोग इति सूक्ष्ममीक्षितव्यम् । उभयदोषप्रसङ्ग एकत्वानेकत्वपक्षयोः सौगताद्वैतवाद्यापादितदोषापत्तिः । ' अचौरेति ' चौरात्पारदारिकाच्च यथाऽचौरापारदारिको जात्यन्तरं, तथा केवलादुत्पादादेस्त्रयात्मकं वस्त्विति भावः। अनुपलम्भसाधन(ना)त्वादिति, एकग्रहप्रतिबन्धकग्रहविषयत्वस्यैवान्यत्र विरोधपदार्थत्वोक्तेरिति भावः । चलनाभावादिति चलितप्रतिपत्तेरेव संशयलक्षणत्वात्, चलितत्वं चैकधर्मिकविरुद्धनानाकोटिकज्ञानत्वमिति विरोधाभावे ज्ञाने तदसिद्धेरिति भावः ॥ ५६ ॥

केन पुनरात्मनाऽनुत्पादविनाशात्मकत्वात्स्थितिमात्रं ? केन चात्मना विनाशोत्पादावेव ? कथं च तत् त्रयात्मकमेव वस्तु सिद्धम् ? इति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः.—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

पूर्वोत्तरपरिणामयोः साधारणः स्वभावसामान्यात्मा द्रव्यात्मा । तेन सर्वं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति च व्यक्तमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति चेत्, न, व्यक्तमिति विशेषणात्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यैकत्वान्वयस्याव्यक्तत्वात्। न चात्रान्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्। ततोऽन्वियात्मना स्थितिरेव । तथा विनश्यत्युत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात् । भ्रान्तविशेषदर्शनेन शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारज्ञानलक्षणेन व्यभिचार इति चेत् , न, व्यक्तमिति विशेषणस्यानुवृत्तेः। न हि भ्रान्तं विशेषदर्शनं व्यक्तं, येन तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात् । न च प्रकृते विशेषदर्शनमव्यक्तं, बाधकाभावात् । नित्यै-

कान्तग्राहि प्रमाणं बाधकमिति चेत्, न, तस्य निरस्तत्वात् । न चैवं भिन्नप्रत्ययविषयत्वादुत्पादविनाशमात्रं स्थितिमात्रं च पदार्थान्तरतयावतिष्ठते, तस्य वस्त्वेकदेशत्वान्नयप्रत्ययविषयत्वात्, स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य वस्तुत्वव्यवस्थितेः, तस्य प्रमाणप्रत्ययगोचरत्वात्, सहैकत्रोदयादि सदिति प्रतिपादनात्, तथैव " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " इति सूत्रकारवचनात् । न चेदं युक्तिरहितं, तथा युक्तिसद्भावात्, चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वादिति । न चात्र हेतुरसिद्धः, पूर्वरूपत्यागाविनाभाविपररूपोत्पादस्यापेक्षितपरव्यापारत्वेन कृतकत्वसिद्धेः, सदा स्थास्नुस्वभावस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वेनाकृतकत्वनिश्चयात् । न हि चेतनस्यान्यस्य वा सर्वथोत्पत्तिः, सदादिसामान्यस्वभावेन सत एवातिशयान्तरोपलम्भाद् घटवत् कथंचिदुत्पादविगमात्मकत्वादित्यादि योज्यम् । नापि विनाश एव, तत एव तद्वत् । न च स्थितिरेव, विशेषाकारेणोत्पादविनाशवत एव सदादिसामान्येन स्थित्युपलम्भाद् द्रव्यघटवत् । इति हि पृथगुपपत्तिर्योज्यते । सदादिसामान्येन सतस्तन्त्वादेर्घटाकारातिशयान्तरोपलम्भप्रसङ्ग इति चेत्, न, स्वभावग्रहणात् । सदादिसामान्यं हि यत्स्वभावभूतं घटस्योपादानद्रव्यमसाधारणं तद्भावेन परिणमदुपलभ्यते । तेनैव सतोतिशयान्तराधानं घटो यथा प्रतिविशिष्टघटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेण, न पुनः साधारणेन तन्त्वादिगतसामान्येन, नापि साधारणासाधारणेन पार्थिवत्वादिसामान्येनाविशिष्टघटोपादानमृदादिसामान्येन वा प्राक्सतोतिशयान्तरोपलब्धिर्येन तन्त्वादेरपि घटपरिणतिप्रसङ्गः । नापि घटविनाशोत्तरकालमप्यसाधारणमृदादिसामान्यस्वभावेन सत्त्वाविशेषाद्घटोत्पत्तिः प्रसज्यते, तत्प्रागभावात्मकस्य सतस्तद्भावेनोत्पत्तिदर्शनात्, पश्चादभावात्मकस्य सतोपि तददर्शनात् । न चैवं प्रागसत एवोत्पत्तिनियमाद् घटस्य कथंचित्प्रागसत्त्वमयुक्तं, प्रागभावस्य भावस्वभावस्य पूर्वं व्यवस्थापनात् । तस्याभावस्वभावत्वे सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्रसङ्गः, प्रागभावाविशेषात् । ततो यथा स्वोपादानात्सव्यविषाण-

स्योत्पत्तिस्तथा दक्षिणविषाणोपादानादपि तत्र तस्योत्पत्तेः प्रागभावसिद्धेः, यत्र यदा यस्य प्रागभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरिति नियमकल्पनाया अपि तत्र भावात् । स्वोपादानेतरनियमश्च कुतः स्यात ? प्रागभावनियमादिति चेत् , समानसमयजन्मनां स एव कुतः ? तदुत्पत्तिनियमादिति चेत , सोपि कुतः ? स्वोपादाननियमादिति चेत , स्वोपादानेतरनियमः कुतः स्यात ? इत्यादि पुनरावर्तते इति चक्रकम । सव्यविषाणस्योत्पत्तिरिति प्रत्ययविशेषादुत्पत्तिनियमोपि न श्रेयान , कारकपक्षस्य विचारयितुमारब्धत्वात । ज्ञापकपक्षे तु प्रागभावनियमोपि तत्प्रत्ययविशेषादेवेति नोत्पत्त्या प्रागभावावगतिः, प्रागभावादप्युत्पत्तिनियमनिश्चयप्रसक्तेरितरेतराश्रयस्य दुर्निवारत्वात । ततो नोत्पत्तेः प्रागभावः कार्यस्याभावात्मकः, तस्य भावस्वभावस्यैवाबाधितप्रतीतिविषयत्वात प्रागभावाभावस्य कार्योत्पादरूपत्वात ॥ ५७ ॥ तथा हि ।

भाष्ये चलाचलात्मकमिति उत्पादव्ययात्मना चलात्मकं ध्रौव्यात्मना चाचलात्मकमित्यर्थः । घटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेणेति, तच्च स्वरूपं घटोपादानकारणतावच्छेदकां घटसामग्रीनाश्यतावच्छेदकश्च धर्मविशेषः, तदुभयैक्यकल्पनायां लाघवात् , एतेन कपालत्वादिना घटाद्युपादानकारणत्वं नैयायिकाद्यभिमतमपास्तम् । कपालादिनाशे घटादिसामग्र्या अहेतुत्वात् , एकस्मादेव मृत्पिण्डाच्चक्रादिव्यापारेण घटोत्पत्तिदर्शनात् , संघातभेदाभ्यां घटादेव घटान्तरोत्पत्तेश्च, कपालत्वघटत्वादिना हेतुत्वे मानाभावाच्च । न पुनः 'साधारणेनेति' व्याप्यधर्मावच्छिन्नेन व्यापकधर्मावच्छिन्नस्यान्यथासिद्धिनिरूपणादित्यर्थः । प्रागभावसिद्धेरिति तत्तद्व्यक्त्युपादानरूपप्रागभावसिद्धेरित्यर्थः । तत्र भावादिति कार्यभेदप्रयोजकभेदप्रतियोग्युपादानात्मकप्रागभावविश्रान्तत्वादिति भावः । प्रतियोगिभेदेनाभावभेदे त्वङ्गीक्रियमाणे एकप्रतियोगिकाभावचतुष्टयस्यैक्यापत्तिस्तत्तत्कालसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगित्वादिनाऽभावाभ्युपगमे तु तत्तदाधेयत्वादिना घटसत्त्वादेरपि भेदापत्तिरित्याद्युक्तं कार्यद्रव्य-

मनादि स्यादित्यादिकारिकाव्याख्याने प्रथमपरिच्छेद एव ॥ ५७ ॥

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् । न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात् । यस्तु ततोऽन्यस्तस्य न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च । नियमश्च हेतोरुपादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च । तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः । न तावदत्रासिद्धो हेतुः, कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्यतरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात्। ननूपादानघटविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्संयोगविनाशादेव प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषादेरेव संप्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोर्नियमासंभवादसिद्धमेव साधनमिति चेत्, न, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात् । ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पद्यते इति चेत्सैवैको हेतुस्तयोरस्तु। क्रियातोऽवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्स एवैकं कारणमनयोरस्तु । विभागात्तदवयवसंयोगविनाश एव दृश्यते इति चेत् स एव तयोरेकं निमित्तमस्तु । तदवयवसंयोगविनाशादवयविनो घटस्य विनाश इति चेत्स एव कपालानां तदवयवानां प्रादुर्भावः । इति कथं नैकहेतुनियमः सिध्येत् ? महास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि लघुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनात् "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इति वचनात्। मिथ्यैवेदं दर्शनं सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्बाधकम् ? स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं बाधकमिति चेत्, न, एतदुदाहरणस्य साध्यविकलत्वात् । तन्तवो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य समवायिनः पटाकारपरिणता वा ? न तावदाद्यः पक्षः, पटाकारापरिणतेषु तन्तुष्विह पट इति प्रत्ययासंभवात् ।

द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणादणुपरिमाणास्तन्तवः पटस्य कारणं, तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः, समुदितानामेवातानवितानाकाराणां पटपरिणामाश्रयत्वादन्यथातिप्रसङ्गात् । न हि तथाऽपरिणतं तद्भवति " तद्भावः परिणामः " इति वचनात् । न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्ययभेदात्कथंचिद्भेदसिद्धेः, परस्यापि तद्भेदे विवादाभावात्, तन्तुद्रव्यपटपर्याययोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वाच्च । तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकाराद्व्यतिरिक्त इति सिद्धं, सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथाऽप्रतीतेर्द्रव्यभावप्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य । भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे समानाकाराणामखिलार्थानां तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात् । असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते । तदुक्तं " त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते । कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् । १ । यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा । तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा । २ । इति । ततो न तन्तुविशेषाकारः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमाणादेव कारणान्महापरिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदाहरणं साध्यशून्यं न भवेत् । हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिबिडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात् । विरुद्धश्चायं हेतुः, पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण वर्तमानस्य स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात् । कार्यत्वस्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसाधनात् । ततो नेदमनुमानं बाधकं, कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्यु-

पादानात्तद्भावस्य सिद्धेरेकस्माच्च मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्संप्रत्ययात् । इति सिध्यत्येव हेतोर्नियमात्कार्योत्पाद एव पूर्वाकारविनाशः । न चैवं सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणात्पृथक्त्वसिद्धेः । तथा हि कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ कथंचिद्भिन्नौ भिन्नलक्षणसंबन्धित्वात्सुखदुःखवत् । नात्रासिद्धं साधनं, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात्कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसंबन्धित्वसिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, क्वचिदेकद्रव्येपि परिमाणयोः कथंचिद्भेदमन्तरेण भिन्नलक्षणसंबन्धित्वस्यासंभवात् । न च तयोर्भेद एव, कथंचिदभेदग्राहकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि । उत्पादविनाशौ प्रकृतौ स्यादभिन्नौ, तदभेदस्थितजातिसंख्याद्यात्मकत्वात्पुरुषवत् । नात्रासिद्धो हेतुः, मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण नाशोत्पादयोरभावात् । पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ न तौ, जात्याद्यवस्थानात्, सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिजात्यात्मनैकत्वसंख्यात्मना शक्तिविशेषान्वयात्मना च तदभेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृद्द्रव्यमसाधारणं घटाकारतया नष्टं कपालाकारतयोत्पन्नमिति प्रतीतेः सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यासं स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुषप्रतीतिवत् । नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात् कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ? तत्सिद्धौ वा कथं तत्तादात्म्यम् ? विरोधादिति चेत्, न, सर्वथा तत्तादात्म्यासिद्धेः कथंचिल्लक्षणभेदात् । तथा हि । उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्नमस्खलन्नानाप्रतीतेः रूपादिवत् । सर्वस्य वस्तुनो नित्यत्वसिद्धेरुत्पादविनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेत्, न, कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात् । तत एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वनिराकरणात् । न चोत्पादादीनां कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वं विरुद्धं, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वादन्यथा तदवस्तुत्वप्रसङ्गात् । उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि । उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्वियत्कुसुमवत् । तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ । स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात्

तद्वत् । विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वदेव । इति योजनात् सामर्थ्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये सत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्येकमुत्पादादीनां सत्त्वे त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि दूरीकृतमनेन, तेषां परस्परमनपेक्षाणामेकशः सत्त्वनिराकरणात् ॥ ५८ ॥ किं च,—

यस्तु ततोऽन्य इति यस्तु ततः उपादानक्षयादन्यक्षयस्तस्य नोपादेयोत्पादहेत्वन्वयव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमित्यर्थः । भेदसङ्घातेभ्य इति अत्रास्मदीयाः श्लोकाः "संयोगाच्च विभागाच्च द्रव्यमुत्पद्यते द्वयात् । वैजात्यं वापि वैशिष्ट्यं कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥१॥ अणुद्व्यणुकसंयोगाद्व्यणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ॥ तद्विभागादणूत्पत्तौ प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ॥२॥ केयूरकुण्डलीभावे तत्र स्वर्णवदिष्यताम् । साधारणमुपादानं क्ष्मादि किं चिन्तयाऽत्र नः ॥ ३ ॥ तादात्म्यनियताधाराधेयभावनिबन्धनम् ॥ कारणं प्रत्युपादेयं विभिन्नं परिणामि वा ॥ ४ ॥ तावत् संघातभेदा वा हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ॥ गच्छत्यविनिगम्यत्वमस्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥ जात्यन्तरात्मके वस्तुन्येवं किञ्चिन्न दुष्यति ॥ कार्याकार्यभेदाभेद-व्यवसायव्यवस्थितेः ॥ ६ ॥ संयोगवद्विभागेऽपि वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ॥ एकस्य हेतुताऽन्यस्य नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥ संयोगे समवायश्चेद्धेतुताया नियामकः । मृद्द्रव्ये सविभागे स्यादंशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥ स्वधर्मसत्त्वेन योगेनो-पादानं हेतुरस्तु वा ॥ तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्या-न्नभोव्याप्तिर्वा दीर्घिका ॥ ९ ॥ संयोगजन्यता जन्य-द्रव्ये हि भवतोच्यते ॥ मया तत्र विजातीय इति गौरवभीः कुतः ॥ १० ॥" तथाऽप्रतीतेरिति व्यक्ताव्यक्तात्मरूपतयाऽप्रतीतेरित्यर्थः । असाधारणेत्यादि आतानवितानरूपभावप्रत्यासत्तिमत्तंतुद्रव्यप्रत्यासत्तिः पटोपादानत्वनिबन्धनमित्यर्थः ॥ ५८ ॥

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

प्रतीतिभेदमित्थं समर्थयते सकललौकिकजनस्याचार्यः । स हि घटं भङ्क्त्वा मौलिनिर्वर्तने घटमौलिसुवर्णार्थी तन्नाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षौदासीन्यस्थितिमयं जनः प्रतिपद्यते इति, घटार्थिनः शोकस्य घटनाशनिबन्धनत्वात्, मौल्यर्थिनः प्रमोदस्य मौल्युत्पादनिमित्तत्वात्, सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यस्य सुवर्णस्थितिहेतुकत्वात्, तद्विषादादीनां निर्हेतुकत्वे तदनुपपत्तेः, पूर्वतद्वासनामात्रनिमित्तत्वेपि तन्नियमासंभवात् । तद्वासनायाः प्रबोधकप्रत्ययनियमान्नियतत्वाद्विषादादिनियम इति चेत्, तर्हि नाशोत्पादान्वया एव वासनाप्रबोधकप्रत्यया इति पारम्पर्यात्त एव शोकादिहेतवो बहिरङ्गाः । अन्तरङ्गास्तु मोहनीयप्रकृतिविशेषोदया इति, तेषां वासनेति नाममात्रं भिद्येत, नार्थः, स्याद्वादिभिर्भावमोहविशेषाणां वासनास्वभावतोपगमात् । ततः सिद्धं लौकिकानामुत्पादादित्रयात्मकं वस्तु, तत्प्रतीतेर्भेदसिद्धेः ॥५९॥ किंच—

लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र प्रतीतिनानात्वं विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति, दधिपयोऽगोरसव्रतानां क्षीरदध्युभयवर्जनात् क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमान गोरसस्वभावेन निष्प्रतीति, पय एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमभ्युपगच्छतो दध्युत्पादेपि पयसः सत्त्वे दधिवर्जनानुपपत्तेः, दध्येव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतं स्वीकुर्वतः पयस्यपि दध्नः सत्त्वे पयोवर्जनायोगात्, अगोरसं मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमङ्गीकुर्वतोनुस्यूतप्रत्ययविषयगोरसे दधिपयसोरभावे तदुभयवर्जनाघटनात् । प्रतीयते च तत्तद्व्रतस्य तत्तद्वर्जनम् । ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम् । न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविनश्यत्तिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोनन्तभेदोपपत्तेः, पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावत्वसाधनात्, तदवस्तुस्व-

भावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात् । तथा तत्त्वस्य त्रयात्मकत्वसाधनेनन्तात्मकत्वसाधने च नित्यानित्योभयात्मकत्वसाधनमपि प्रकृतं न विरुध्यते, स्थित्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन कथंचिन्नित्यत्वस्य विनाशोत्पादात्मकत्वप्रतिष्ठापनेन चानित्यत्वस्य साधनात् । ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्यमेवेति । एवं स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् । यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रियामपि योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया सदाद्येकान्तवादिसप्तभङ्गीप्रक्रियावत् ॥६०॥

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्थाद्-उद्धर्तुं नेतुमुच्चैःपदममलमलं मङ्गलानामलङ्घ्यम् ॥
स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः, प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादम् ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ तृतीयः परिच्छेदः । ३ ।



उत्पादादीनां त्रयाणामेकधर्मिण्येककालवृत्तित्वं व्यवस्थापयितुं युक्तिमाह—'घटमौलीत्यादि' 'पयोव्रत' इत्यादिकारिकाद्वयेन, एकस्यैककालीनकार्यत्रयजनकत्वाद्व्रतत्रयव्यवस्थापकत्वाच्च त्रयात्मकत्वमित्येतदुभयमङ्क्षेपार्थः ॥ अत्रास्माभिः स्तम्भतीर्थनगरे गोपालसरस्वत्याद्येकान्तवादिपण्डितचक्रवालं प्रत्यवलम्बितं पत्रं यथा॥ "ऐन्द्री श्रीर्यत्पदाम्भोज–सेवाहेवाकिताफलम् ॥ महतां महनीयं तं, महावीरमुपास्महे ॥ १ ॥ इह हि बहवः प्राणिनः साहजिकाभिसंस्कारिकानेकसङ्कल्पविकल्पकल्लोलाकुलितचेतस उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सर्वं वस्त्वनुभवन्तोऽपि सम्यग्दर्शनजीवातुतथा-

विपक्षक्षयोपशमाभावात्तथात्वेन न प्रतिपद्यन्ते, प्रत्युत परिज्ञातप्रवचनोपनिषदस्तथात्वेन प्रतिपद्यमानान् प्रति प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रतीदमाचक्ष्महे । सर्वं खल्वादीपमाव्योमपदार्थजातं न सर्वथाऽनित्यं, नापि सर्वथा नित्यं, प्रदीपादेरपि सर्वथाऽनित्यत्वे पुद्गलपरमाणुत्वादिनाऽपि ध्वंसप्रसङ्गात् । अवयवावयविभावस्य समवायादिसम्बन्धनिबन्धनत्वे तत्रापि सम्बन्धान्तरान्वेषणेऽनवस्थानात्तादात्म्येनैव तत्त्वव्यवस्थितौ परमाणुपर्यन्तमपि कथञ्चिदवयव्यभेदसिद्धेः, आकाशादेरपि सर्वथा नित्यत्वे संयोगादिस्वभावपरित्यागेन विभागादिस्वभावोपादानानुपपत्तेः, पूर्वरूपपरित्यागस्यैवानित्यत्वलक्षणत्वात्, संयोगविभागादिक्रमिकनानाकार्यजननैकस्वभावमेवाकाशादिकमिति न स्वभावभेद इति चेत्, अयमेवैकानेकस्वभावसंवलनवादः, अन्यथा येन स्वभावेन संयोगजनकमाकाशं तेनैव विभागजनकमित्यभ्युपगमे संयोगविभागयोरेकत्वप्रसङ्गः, किं च जनकत्वं शक्तिरेवेति कार्यभेदेन तद्भेदावश्यकत्वे स्वभावभेदो दुष्परिहरः, शक्तिशक्तिमतोरपि तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धाभावात्, तथा च वस्तुनः कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वसिद्धौ येन रूपेण नित्यत्वं तेन रूपेण ध्रौव्यं, येन चानित्यत्वं तेनोत्पादव्ययावित्येवं त्रिलक्षणं जगदिति प्राचीनः परिष्कृतः पन्थाः । वस्तुतः क्षणसम्बन्धः क्षणे तादात्म्यरूपः क्षणविशिष्टपदार्थे च परविशेषणताविशेषरूपः कल्पनीय इति गौरवं, मया च सर्वत्र तादात्म्यरूप एव कल्पनीय इति लाघवाच्छुद्धर्जुसूत्रनयादेशेन सर्वस्य क्षणपर्यायात्मकत्वसिद्धिः, अशुद्धर्जुसूत्रनयादेशेऽपि प्रतीतिव्यवहाराद्यनुरोधेन विशिष्टाविशिष्टयोर्भेदध्रौव्ये क्षणविशिष्टपदार्थरूपपर्यायभेदस्तावदावश्यकः, न च विशिष्टभेदेऽनन्तपदार्थकल्पनापत्तिगौरवं, परस्यापि विशिष्टनिरूपिताधिकरणतानन्त्यकल्पनेन तौल्यात्, न च द्रव्यत्वादेरेव गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताधारतात्वकल्पनात्परस्य नाधिककल्पनमिति वाच्यम् । तथापि पटत्वाभावविशिष्टसत्ताधार-

तात्वस्य घटत्वादिनानास्वरूपत्वकल्पने गौरवस्य पटत्वाभावस्वरूपत्वकल्पने चातिप्रसङ्गस्य दुरुद्धरत्वात्, न च विशिष्टाविशिष्टभेदे विशिष्टसत्तानिश्चयेऽपि सत्तासंशयः स्यादिति वाच्यम्, तत्रापि विशिष्टाभावस्यातिरिक्ततया सत्तानिश्चयत्वस्य विशिष्टसत्तासंशयव्यावृत्तत्वाभावात् विशिष्टसत्तानिश्चयत्वेन पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पनध्रौव्ये मयाऽपि तथात्वस्य व्यावर्त्तकतयैव वा प्रतिबन्धकत्वस्य वाच्यत्वादिति दिग्। एवं शुद्धपर्यायात्मना प्रतिक्षणमुत्पादव्ययौ प्रत्यभिज्ञाद्यनुरोधेन च द्रव्यात्मना ध्रौव्यं ध्रुवमिति सिद्ध्यति सर्वत्र त्रैलक्षण्यम्, एतेन यदुच्यते परैर्विशिष्टभेदाभ्युपगमे तत्तेदन्ताविशिष्टयोरपि भेदे प्रत्यभिज्ञामात्राप्रामाण्ये स्थैर्योच्छेद इति, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, प्रत्यभिज्ञाया भेदाभेदसंसर्गकत्वस्य स्थैर्यस्य चोत्पादव्ययसंवलितस्यैव प्रामाणिकत्वात्, एतेनैव च सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये तत्कालविशिष्टैतत्कालविशिष्टयोरभेदस्य विरोधाद्विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः शुद्धदेवदत्तव्यक्तौ लक्षणा स्वीकर्त्तव्येत्येतद्दृष्टान्तबलेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि परोक्षत्वविशिष्टचैतन्यस्य तत्पदार्थस्य प्रत्यक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपत्वंपदार्थेन सहाभेदविरोधादखण्डब्रह्मणि जहदजहल्लक्षणा स्वीकर्त्तव्येति तत्त्वंपदार्थशोधनं कुर्वद्भिर्वेदान्तिभिर्यदुच्यते, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये लक्षणाभ्युपगमे बीजाभावात्तत्तेदंताविशिष्टयोर्भेदाभेदस्य सार्वजनीनत्वेन विरोधाभावात्, नहि प्रत्यक्षसिद्धेऽर्थे विरोधो नाम, न चापरार्थप्रत्यक्षात्मकं वाक्यं न प्रत्यक्षाभं, न च शुद्धब्रह्मणि शक्यसम्बन्धरूपा बोध्यसम्बन्धरूपा वा लक्षणाऽपि सङ्गच्छते, नात्त्विकेऽर्थेऽनिर्वचनीयसंसर्गस्य युक्त्यसहत्वात्, मायिकसंसर्गस्यापि मायिकत्वात्, तत्र युक्त्यसहत्वं भूषणं नतु दूषणमिति चेत्, तर्ह्यधिष्ठानपर्यन्तमपि मायिकत्वमेव युक्तं, "मायोपमं वै सकलं जगत्" इति श्रुत्यवलम्बनस्य सत्त्वादिति माध्यमिकमतमेव स्वीक्रियतां, मुच्यतां वेदान्ताश्रयेणार्द्धज-

रतीयन्याय इति किमतिविस्तरेण, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थस्तु केवलज्ञानादिपरिणतिविशिष्टपरमात्मरूपतत्पदार्थेन सह सम्यग्दर्शनादिपरिणतिविशिष्टान्तरात्मत्वंपदार्थस्य भेदाभेदतात्पर्येण समाधेयः स्वसमयाविरोधिभिः सम्यग्दृष्टिभिरिति किमप्रकृतेन। किञ्च भावाभावयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य विशेषणविशेष्यभावस्य च स्वरूपसम्बन्धतयैव विश्राम इति "सर्वं सर्वात्मकं जगत्" आसत्तिपाटवाभ्यामप्रयोजनादिना च प्रतिनियतपर्यायग्रह इति नातिप्रसङ्गः, अत एवैकज्ञत्वसर्वज्ञत्वयोर्नान्तरीयकत्वं सिद्धान्तसिद्धम्, तथा चानुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारा स्वपरपर्यायोत्पादव्ययावच्छिन्नं ध्रौव्यं सर्वत्रानायाससिद्धमिति द्रष्टव्यम्। न च विरोधः, पर्यायत्वावच्छेदेनोत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्रौव्यस्य चाविरोधात, अन्यथा गोत्वावच्छेदेन गव्यश्वभेदस्य ब्रह्मत्वावच्छेदेन तदभेदस्य चाविरोध औपनिषदाभिमतोऽपि कथं स्यादित्युपरम्यते।"

स्यान्नित्यमेवेत्यादि, अत्र च नित्यत्वानित्यत्वादिव्यवहारे आकाशघटादौ द्रव्यार्थत्वपर्यायार्थत्वयोस्तुल्यवदाकाशत्वघटत्वादीनां च स्यात्पदद्योतनमर्यादया प्रतिस्वं ग्रहान्नातिप्रसङ्गः, नयवाक्येऽपि यद्धर्मविशिष्टविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारेण नित्यत्वादिविशिष्टवाचकं पदं प्रयुज्यते तद्धर्मावच्छेदेन तत्र नित्यत्वादिबोधन एव तत्साकांक्षमित्याकाशमनित्यं घटो नित्य इत्यादेर्नयवाक्यस्य न प्रयोगः, व्यापकसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिपक्षे धूमो वह्निव्याप्यो न रासभस्तथेत्यादेरित्थमेव न्यायाभियुक्तैरुपपादितत्वादिति शिवम्॥ ६०॥

"जगज्जैत्रं पत्रं शुचिनयपवित्रं किल मया। यमालम्ब्य न्यस्तं कुमतगनमस्तं गमयति॥
असौ नित्यानित्याद्यखिलगमभङ्गप्रणयने। पटिष्ठः स्याद्वादो दिशतु मुदमुज्जागरधियाम्॥ १॥

पवित्रं पत्रं मे विशदशतपत्रं श्रुतमुरी–करक्रीडापात्रं प्रमदमनिमात्रं जनयतु ॥
सुवाल्लभ्याः सभ्या इदमगुरुमाज्ञामिषुग्तिः प्रकृष्टं कल्पद्रोरपि फलमलभ्यं कृतधियाम् ॥ २ ॥
कृत्वा यत्नमनेकपण्डितवतीमध्यास्य काशीमभूद्–भट्टाचार्यपुरन्दरेभ्य इह यस्तर्केष्वधीती भृशम् ।
तत्स्पर्द्धां वितनोति कोऽपि जटिलो यश्चाल्पपाठस्मयी । तत्किं कुम्भकृता भविष्यति कलिः सार्द्धं त्रिलोकीकृतः ॥ ३ ॥
अधीतास्तर्काः श्रीनयविजयविज्ञांह्रिभजन–प्रसादाद् ये तेषां परिणतिफलं शामनरुचिः ।
इहांशेनाप्युच्चैरवगमफला या स्फुरति मे । तया धन्यं मन्ये जनुरखिलमन्यत् किमधिकम् ॥ ४ ॥ ”

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यालङ्कारपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे तृतीयः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

॥ ॐ 卐 ॐ ॥ अथ चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐 ॐ ॥

जीयादष्टसहस्री, देवागमसंगतार्थमकलङ्कम्। गमयन्ती मन्नयतः, प्रसन्नगम्भीरपदपदवी ॥ १ ॥

कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च। सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥ ६१ ॥

कार्यग्रहणात्कर्मणोऽवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य च ग्रहणं, कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वंसनिमित्तस्य च। गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः, गुणिवचनात्तदाश्रयस्य। मामान्याभिधानात्परापरजातिप्रत्ययः। तद्वद्वचनादर्थप्रत्यय इति। क्रियातद्वतो-रवयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः मामान्यतद्वतोरभावतद्विशेष्ययोश्चान्यतैव, भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविन्ध्यवदित्युक्तं भवति। न चात्रामिद्धो हेतुः, माध्यधर्मिणि भिन्नप्रतिभामत्वस्य मद्भावनिश्चयात। नत एव न सन्दिग्धासिद्धोऽज्ञातासिद्धो वा। नाप्यन्यतरा-सिद्धो, वादिप्रतिवादिनोरविवादात्। भिन्नपुरुषप्रतिभामविषयेणाभिन्नेनार्थेन व्यभिचार इति चेत, न, एकपुरुषापेक्षया भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात्। नथापि क्रमेणैकप्रतिपत्तृभिन्नप्रतिभामविषयेणैकेन वस्तुनानेकान्त इति चेत, न, भिन्नलक्षणत्वस्य भिन्नप्रतिभामत्वस्य हेतु-त्वात्। भिन्नं हि लक्षणं कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः मामान्यतद्वतोश्च प्रतिभामते। न चैकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासोस्ति, येन व्यभिचारः। तत एव न विरुद्धो हेतुः, माकल्येनैकदेशेन वा विपक्षे वृत्यभावात्। नापि कालात्ययापदिष्टः, पक्षस्य प्रत्यक्षा-गमबाधाऽभावात्। कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात। ययोरतादात्म्यं न तयोरभिन्नदेशत्वम्। यथा

सह्यविन्ध्ययोः। अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः। तस्मात्तादात्म्यम्। इत्यनुमानेन पक्षस्य बाधेति चेत्, न, शास्त्रीयदेशाभेदस्यासिद्धत्वात्, कार्यस्य स्वकारणदेशत्वात्। कारणस्यापि स्वान्यकारणदेशत्वात्। एतेन गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च देशभेदस्य प्रतिपादनात्, लौकिकदेशाभेदस्य तु व्योमात्मादिभिर्व्यभिचारादस्यानुमानस्यासमीचीनत्वात् प्रकृतपक्षबाधकत्वासंभवात्। कथंचित्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः सर्वथा भेदपक्षस्य बाधेति चेत्, न, तद्विरोधात्। तत एव भेदो मा भूदिति चेत्, न, भेदस्य पूर्वसिद्धत्वात् तादात्म्यस्य पूर्वसिद्धेरसिद्धेः। सिद्धौ वा कार्यकारणादिविरोधात् धर्मधर्मित्वाधिकरणाधेयतादिविरोधात् क्रियाव्यपदेशादिभेदविरोधाच्च तयोर्न तादात्म्यं, भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्याच्च परस्परविरोधाच्छीतोष्णस्पर्शवत्। तयोरेकाधिकरण्ये संकरव्यतिकरापत्तिः। तदनापत्तौ पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गः। प्रत्येकं तद्द्विरूपत्वोपगमे वाऽनवस्थानादप्रतिपत्तिरभावश्च॥ ६१॥ इति वैशेषिकस्य अवयवगुणसामान्यतद्वतां व्यतिरेकैकान्त(त्व)माशङ्क्य प्रतिविधत्ते—

यदीयं नामापि स्मृतिमुपगतं विघ्नपटलीं। महामन्त्रप्रायं प्रशमयति दोषामिव रविः॥
मुदोऽसंख्याः शङ्खेश्वरविभुरसौ यच्छतु पराः। जरासन्धक्षिप्ताच्युतबलजरातङ्कहरणः॥ १॥

चतुर्थे कार्यकारणादिभेदाभेदस्याद्वादसाधनार्थमुपक्रमः "कार्यकारणेत्यादिकारिकया"॥ तद्भेदैकान्ताभ्युपगमप्रदर्शनं तद्दूषणमग्रिमकारिकायाम्॥ गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिरिति, अनित्यगुणस्य कार्यपदेन पूर्वमेव ग्रहणादत्र गुणपदस्य विशेषपरत्वादिति भावः। अर्थप्रत्यय इति, अर्थपदस्य वैशेषिकपरिभाषया द्रव्यादित्रयार्थत्वात्तत्त्रयप्रतीतिरित्यर्थः। 'क्रमेणेति' एकत्रैव वस्तुनि देशसन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यामेकस्यापि प्रतिपत्तुः कालभेदेन भिन्नप्रतिभाससम्भवादित्यर्थः। भिन्न-

लक्षणत्वस्येति भिन्नलक्षणत्वप्रयुक्तभिन्नप्रतिभासविषयत्वादित्यर्थः । न च भिन्नलक्षणत्वस्यैव गमकत्वे इतरभागवैयर्थ्यं, धूमप्रागभावादिहेताविव यन्निष्ठेत्यादिन्यायेन तद्वैयर्थ्याभावादिति द्रष्टव्यम् । पूर्वसिद्धत्वादिति कार्यकारणादिभेदस्य सर्वैः स्वीकृतत्वेन पूर्वप्रसिद्धत्वादित्यर्थः । 'अग्निद्वयमिति' तत्प्रत्यक्षस्य विवादापन्नत्वेन तादात्म्ये साध्ये हेतौ सन्दिग्धासिद्धेरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा । भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥ ६२ ॥

कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्चान्यत्वमेकान्तेन यदीष्यते तदैकस्य कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ वृत्तिरेषितव्या, तदनिष्टौ कार्यकारणभावादिविरोधादकार्यकारणादिवत् । तद्वृत्तिश्चाभ्युपगम्यमाना प्रत्याश्रयमेकदेशेन सर्वात्मना वा स्यात् ? तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात् । यावन्तो ह्यवयवास्तावन्तोवयविनः स्युस्तस्य प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात् । यावन्तश्च संयोग्यादयो गुणिनस्तावन्तः संयोगादयोनेकस्था गुणाः प्रसज्यन्ते । यावन्तः सामान्यवन्तोर्थास्तावन्ति सामान्यानि भवेयुस्तत एव । अथापि कथंचित्प्रदेशवत्त्वं मन्येतावयव्यादीनां तत्रापि वृत्तिविकल्पोनवस्था च । तथात्रावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति वृत्तेर्दोषोऽनार्हते मते दुर्निवारः । नैकदेशेन वर्तते, नापि सर्वात्मना । किं तर्हि ? वर्तते एवेति चायुक्तं, प्रकारान्तराभावात् । ननु च समवाय एव प्रकारान्तरं वर्तते, समवैतीति संप्रत्ययात्, तद्व्यतिरेकेण वृत्त्यर्थासंभवादिति चेत्, न, तत्रैव विवादात् । एतदेव हि विचार्यते, किमेकदेशेन समवैति प्रत्याश्रयं सर्वात्मना वाऽवयवादिष्ववयव्यादिः ? गत्यन्तराभावादिति । तत्र च निगदितो दोषः । तदेवं कार्यगुणसामान्यानां स्वाश्रयेभ्यो

विवादापन्नेभ्यो नैकान्तेनान्यत्वं, तत्र वृत्त्युपलब्धेः । यस्य तु यतोन्यत्वैकान्तस्तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः । यथा हिमवति विन्ध्यस्य । वृत्त्युपलब्धिश्चावयव्यादेः स्वाश्रयेषु । तस्मान्नैकान्तेनान्यत्वम् । इत्यनुमानेन तन्नानात्वपक्षस्य बाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः। नन्विदमनुमानमसम्यक्, स्थाल्यां दध्नाऽनैकान्तिकत्वात् ततोन्यस्यापि दध्नस्तत्र वृत्त्युपलब्धेः । संयोगो हि वृत्तिरर्थान्तरभूतयोरेव प्रतीयते नान्यथेति न मन्तव्यं, संयोगिनोः संयोगपरिणामात्मनोः सर्वथान्यत्वासिद्धेरन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । ताभ्यां भिन्नस्य संयोगस्योत्पत्तौ हि कथमेकस्यान्यत्र संयोग इति व्यपदेशो यतः स एव वृत्तिः स्यात् ? ताभ्यां तस्य जननात्तथा व्यपदेश इति चेत्, न, कर्मणा कालादिना च तज्जननात्तथा व्यपदेशप्रसङ्गात् । तयोः समवायिकारणत्वात्तस्य तथा व्यपदेश इति चेत्, कुतः समवायिकारणत्वं तयोरेव न पुनः कर्मादेरिति नियमः ? इह संयोगिनोः संयोग इति प्रत्ययात्तत्र तस्य समवायसिद्धेरिति चेत्, स तर्हि समवायः पदार्थान्तरं कथमत्रैवेहेदमिति प्रत्ययं कुर्यान्न पुनः कर्मादिषु भेदाविशेषेपीति न बुद्ध्यामहे । तैरेव समवायिभिर्विशेषणविशेष्यभावसिद्धेः समवायस्य तत्रैवेहेदमिति प्रत्ययोत्पत्तिर्न तु कर्मादिषु, तदसिद्धेरिति चेत्, स एव कुतः सर्वत्र न स्यात् ? तादृगदृष्टविशेषनियमादिति चेत्, किं विशेषणविशेष्यभावेन समवायेन संयोगेन वा ? तादृगदृष्टविशेषादेव समवायविशिष्टाः समवायिन इति प्रत्ययस्येहेदमिति विज्ञानस्यात्रेदं संयुक्तमिति बुद्धेश्च जननप्रसङ्गात् । सर्वस्य वा प्रत्ययविशेषस्यादृष्टविशेषवशवर्तित्वसिद्धेः किं पदार्थभेदप्रभेदपरिकल्पनया ? इति विज्ञानवादप्रवेशः स्यात्, तस्यैवादृष्टविशेषत्वसिद्धेः, चेतना कर्मेति विज्ञानवादिभिरपि प्रतिपादनात् । तेषां वासनाविशेष एव ह्यदृष्टम् । स च पूर्वविज्ञानविशेषः । इति न विज्ञानमात्राददृष्टमन्यत् स्यात् । ननु च नाप्रबुद्धा वासना प्रत्ययविशेषं प्रसूते सकृत्सर्वप्रत्ययविशेषप्रसङ्गात्, प्रबुद्धा तु तमुपजनयन्ती

प्रबोधकहेतूनपेक्षते । ते च बहिर्भूता एवार्थाः । इति न विज्ञानमात्रं तत्त्वमनुषज्यते इति चेत्, न, विज्ञानविशेषादेव वासनाप्रबोधस्य सिद्धेः, तदभावे बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण तद्धेतुत्वादन्यथातिप्रसङ्गात् । न च नीलादिविज्ञानादेव तद्वासनाप्रबोधस्तत्प्रबोधादेव नीलादिज्ञानमिष्यते, यतः परस्पराश्रयः स्यात्, तदधिपतिसमनन्तरादिविज्ञानानामेव नीलादिज्ञानजनकानां तद्वासनाप्रबोधकत्वात् तद्वासनानामपि तत्कारणविज्ञानेभ्यः प्रबोधोपगमात् । इत्यनादिरयं वासनासन्ततिपरिपतितस्तत्प्रबोधप्रत्ययसार्थस्तद्विज्ञानप्रवाहश्च । इति किं बहिरर्थैः ? कल्पयित्वाप्येतान्विज्ञानानि प्रतिपत्तव्यानि, तैर्विना तद्व्यवहारप्रसिद्धेः । सत्सु च तेषु बहिरर्थाभावेपि स्वप्नादिषु तद्व्यवहारप्रतीतेरलं बाह्यार्थाभिनिवेशेन । ततो बहिरर्थं व्यवस्थापयितुमनसा नादृष्टमात्रनिमित्तो विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययोनुमन्तव्यः, तस्य द्रव्यादिप्रत्ययवद्बहिरर्थविशेषविषयत्वस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात् । तथा चानवस्थानात् कुतः संयोगिभ्यां संयोगोर्थान्तरभूतः समवायवृत्त्या तयोरिति व्यपदिश्येत ? स एव च स्थाल्यां दध्नो वृत्तिरिति न तेनानैकान्तिको हेतुः स्यात् । तत एव न विरुद्धः, सर्वथार्थान्तरभूतस्य क्वचिद्वृत्त्युपलब्धेरभावात् । ततो निरवद्यमिदमनुमानं भेदपक्षस्य बाधकम् । इति तत्र प्रवर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्ट एव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्च पक्षस्य, अवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यस्यैव साक्षात्करणात् । नन्वेवमपि वृत्तेर्दोषो यथोपवर्णितः स्याद्वादिनां प्रसज्यते इति चेत्, नायं प्रसङ्गोऽनेकान्ते, कथंचित्तादात्म्याद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् । यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्यां तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वात् किमेकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्यतेनवस्था वा, तथाऽवयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येकं सर्वात्मना वा, यतस्ताथागतः सर्वथा भेदे इवावयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्येपि वृत्तिं दूषयेत् । एतेन वैशेषिकोपि न कथंचित्तादात्म्ये वृत्तिविविकल्पादिदूषणमापादयितुमीशः, सामान्यविशेषवत्तत्र

तदनवकाशात् । न ह्यपरसामान्यं व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषाख्यामपि लभमानमपह्नोतुं शक्यं, तस्य सामान्यैकरूपत्वेऽपरविशेषाभाव-प्रसङ्गात, तदपरविशेषरूपत्वेऽपरसामान्याभावापत्तेः, तदुभयरूपत्वे सामान्यविशेषरूपयोः कथंचित्तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वात, तदेकार्थसमवायस्य कथंचिदेकद्रव्यतादात्म्यादपरस्यासंभवात, सामान्यस्यैवानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वेन सामान्यविशेषोभयाकारस्ये-ष्टत्वाच्च । न तयोराकारयोरन्यत्रैकार्थे समवायः परस्परं वा शक्यो वक्तुं, यतस्तद्वदवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यं वृत्तिः प्रकृत-दूषणोपद्रुता स्यात । किं चावयवादिभ्योवयव्यादीनामत्यन्तभेदे देशकालाभ्यामपि भेदः स्यात ॥ ६२ ॥

'एकस्येति' एकस्यावयव्यादेर्भागाभावाद्देशाभावादनेकत्रावयवादौ वृत्तिर्न भवति । भवति चेत्तदा प्रत्येकमने-कावयवादिपर्याप्तवृत्तित्वाद्बह्वन्यवयव्यादीनि स्युः, देशतो वृत्तिश्च तत्र नावयव्यादीनां, तद्देशानभ्युपगमात्, अभ्युपग-मेऽनवस्थाद्यापत्तेः, भागित्वात् कथञ्चिद्देशित्वाद्वाऽस्यावयव्यादेर्नैकत्वं स्यादित्ययं वृत्तेर्दोषो नार्हते मते भवतीति कारिकासङ्क्षेपार्थः । प्रकारान्तराभावादिति संयोगवृत्तौ देशकात्स्न्यान्यतरप्रकारस्यैव दर्शनात् प्रकारद्वयविशेषनिषेधे वृत्तिसामान्यनिषेधपर्यवसानादित्यर्थः । 'प्रकारान्तरमिति' देशकात्स्न्यविनिर्मुक्तः सम्बन्धप्रकार इत्यर्थः । एतदेव हि विचार्यत इति समवायोऽपि हि घटे घटत्वस्य कात्स्न्येन तन्तुषु च पटस्य दशाद्यवच्छेदेनाभावाद्देशेनाभ्युपगम्यत इति तत्रापि प्रकारद्वयावकाशेन विचारस्य बद्धास्पदत्वादिति भावः । वस्तुत एकत्र तन्तौ न पटः किन्तु यावत्स्विति प्रतीतेः प्रत्येकावृत्तेरित्यादिन्यायाच्च प्रकारद्वयं समवायवृत्तौ प्रसिद्धस्थल एवोपढौकत इति तदविरोधो भेदाभेदाभ्युपगमं विना दुरुपपाद इत्याद्युक्तं वादमालायामस्माभिः । सर्वथाऽन्यत्वासिद्धेरिति, तत्काले तत्परिणामेन तदात्मकत्वेन विरोधादतिप्रसङ्गस्य

च कालघटितसम्बन्धेन निरासादित्यर्थः। तथा चानवस्थानादिति संयोगतत्सम्बन्धतत्सम्बन्धादिचिन्तयाऽनिष्टापत्तेरित्यर्थः। 'कुत इति' निरन्तरोभयद्रव्यनिमित्तादेव संयोगव्यवहारोपपत्तेरनन्तरपरम्परसंयोगभेदस्य चान्यथानुपपत्तेरिति भावः। ननु वृत्तिविकल्पदोषः स्याद्वादेऽपि किं न स्यादित्याशंक्य भेदाभेदशबलैकवस्तुस्वरूपत्वे देशकात्स्न्र्यवृत्तिव्यवहारस्य चित्रज्ञानसामान्यविशेषदृष्टान्तेन यथावित्रक्षं सम्मिलितस्यैवोपपत्तेर्न तद्दोषावकाश इति समाधित्सुराह–नन्वेवमपीत्यादिना, तदुभयरूपत्व इति, न च पारिभाषिकमुभयरूपत्वमुभयपदार्थतादात्म्यमापादयितुमनीश्वरमिति शङ्कनीयम्। अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिहेतुतया सिद्धस्य पदार्थद्वयस्यार्थतस्तादात्म्यापादनाविरोधात्, अन्त्यविशेषस्य तु "विशेषोऽपि न पदार्थान्तरं मानाभावाद्विनापि व्यावर्त्तकधर्मं विशेषाणामिव नित्यानामपि द्रव्याणां स्वत एव व्यावृत्तत्वात्, योगिनो विशेषमीक्षन्ते प्रत्यक्ष(त) एवेति चेत्, त एव तर्हि संशयपथं पृच्छयन्तां किमु तेऽतिरिक्तं विशेषमीक्षन्ते नवेति" ग्रन्थेन पदार्थतत्त्वविवेके शिरोमणिभट्टाचार्यैरेव निराकरणात्। अथ समवायित्वे सति समवायियद्व्यक्तेर्यद्व्यावृत्तं यन्नित्यं तत्परस्परासमवेतसमवेतशून्यधर्मसमवायीति व्याप्तिरात्मत्वमादाय घटपटादिव्यावृत्तात्मादावव्यभिचारिता, अत्र सत्तादिकमादाय सिद्धसाधनवारणाय परस्परासमवेतेति, एकत्वादिकमादाय तद्वारणाय समवेतशून्येति, प्रमेयत्वादिकमादाय तद्वारणाय समवायीति, अभावे व्यभिचारवारणाय हेतौ समवायित्वे सतीति, घटादावभावव्यावृत्तिमत्त्वेनाभावसमवेतत्वाप्रसिद्ध्या तदभावाप्रसिद्धेर्व्याप्यत्वासिद्धिः स्यादिति तद्वारणाय हेतौ समवायित्वं यद्व्यक्तेर्विशेषणम्, अनुपादेयमेव वा तत्, साध्ये परस्परासमवेतत्वं परित्यज्य तत्स्थाने स्वासमवायितत्त्वेत्यस्य वक्तव्यत्वात्। साध्ये समवायित्वं स्वाश्रयसमवेतत्वादिपरंपरासाधारणं, नातः सजातीयघटद्वये

व्यभिचारः, विशेषमादाय तत्रापि साध्यसत्त्वात् समवायित्वे सतीत्यपहाय नित्यद्रव्यत्वे सतीति वा वक्तव्यं, तथा च तादृशव्याप्तिबलात् सजातीयनित्यद्रव्ययोः परस्परासमवेतसमवेतशून्यधर्मसिद्धावर्थादतिरिक्तविशेषसिद्धिरिति चेत्, न, अप्रयोजकत्वेनैतद्व्याप्त्यसिद्धेः, अन्यथा विशेषान्यत्वमपि साध्ये निवेश्य पदार्थान्तरमपि साधयतो मुखमुद्रणस्याशक्यत्वापत्तेः। कथं चैवं नित्यगुणव्यक्तीनां परस्परव्यावृत्तत्वं, तासु विशेषानभ्युपगमात्, आश्रयविशेषात्तद्विशेषाभ्युपगमे तु नित्यगुणाश्रित एव विशेषपदार्थोऽस्तु आश्रितविशेषाच्चाश्रयविशेष इत्येव किं न स्यात्, स्वाश्रयसमवेतत्वेन विशेषस्य व्यावर्त्तकत्वे च परमाण्वादिगतसत्तासामान्यस्यापि स स्वभावं त्याजयेत्। अपि चैवं चित्रज्ञानादावांशिकभेदनिर्वाहार्थमेकव्यक्तावपि विशेषः सिद्ध्येत्, स च सिद्ध्यन् विशेषपदोक्तां पर्यायमर्यादां नातिक्रामतीति द्रव्यपर्यायतया स्वतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावं वस्त्वकामेनापि प्रतिपत्तव्यं, नित्यद्रव्यदृष्टान्तेन सर्वत्र स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वीकुर्वन् शिरोमणिः पुनरेकदेशेव, अन्यथा विशेषमिव सामान्यमतिरिक्तमपश्यन् स्वतोऽनुवृत्तत्वमपि कथं न स्वीकुर्यादिति सुस्वीकारितमाचार्येण सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्तादात्म्यमिति भावनीयम्। भेदः स्यादिति, अवयव्यादयोऽवयवादिभ्यो भिन्नाः स्युर्देशकालाभ्यामत्यन्तभिन्नत्वात्, घटपटवदित्यत्रापादनं बोध्यम् ॥ ६२ ॥

देशकालविशेषेपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् । समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ॥ ६३ ॥

नन्वात्माकाशयोरत्यन्तभेदेपि देशकालाभ्यां भेदाभावान्न ततः कार्यकारणादीनां तद्भेदः सिध्यति, यतो युतसिद्धवद्वृत्तिः स्यादिति चेत्, न, तयोरपि सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावादत्यन्तभेदासिद्धेरभिन्नदेशकालत्वाविरोधात्। परस्यापि सर्वमूर्तिमद्द्रव्येषु युगपत्संयोग-

वृत्तेरभ्युपगमात् तयोरत्यन्तभेदानिष्टेर्देशकालाभ्यामभेदाविरोधे तथैवावयवावयव्यादेस्ताभ्यामभेदोस्त्वविरुद्धः। स च कथंचिदभेदसाधनः स्यात्। न चासाविष्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तस्माद्गुणगुण्यादेरत्यन्तभेदात् तद्देशकालविशेषेणापि वृत्तिः प्रसज्येत घटवृक्षवत्। वर्णादिभिरनैकान्तिकत्वमित्ययुक्तं, तद्व्यतिरेकैकान्तानभ्युपगमात्। यथैव हि वर्णरसगन्धस्पर्शानां स्वाश्रयादत्यन्तभेदो नेष्टो दृष्टो वा तथा परस्परतोपीति। नाप्येतैः पक्षैकदेशात्मभिर्व्यभिचारो नामातिप्रसङ्गात्। यदि पुनः कार्यकारणादीनां समानदेशकालत्वमुररीक्रियते तथैव सिद्धान्तावधारणादिति मतं, तदाप्यवयवावयविनोः समानदेशे वृत्तिर्न भवेत्, मूर्तिमत्त्वात्खरकरभवत्, मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधात्। वातातपयोः समानदेशत्वदर्शनादविरोध इति चेत्, न, तयोः स्वावयवदेशयोरवयविनोरभ्युपगमात्। तन्तुपटयोरपि स्वावयवदेशत्वात्समानदेशत्वाभावो न दोष इति चेत्, न, परमाणुद्व्यणुकयोर्भिन्नदेशत्वाभावात्समानदेशत्वमपि न भवेदिति दोषोद्भावनात्। द्व्यणुकस्य परमाणुदेशत्वात्परमाणोरनंशस्याप्याश्रयान्तरस्थत्वात्तयोरसमानदेशतैवेति चेत्, न, तथा लौकिकदेशापेक्षया समानदेशत्वोपगमस्य प्रसङ्गात्। स च मूर्तयोर्न भवेदिति सूक्तमेव दूषणम्। कथमेवमनेकान्तवादिनामेकाकाशप्रदेशेऽसंख्येयादिपरमाणूनामवस्थानं न विरुध्यते इति चेत्, तथावगाहनविशेषादेकत्वपरिणामादिति ब्रूमहे। नह्येकं मूर्तिमद्द्रव्यमेकत्र देशेऽवतिष्ठमानं विरुद्धं नाम, अतिप्रसङ्गात्। संयोगमात्रेण तु स्थितानामेकत्वपरिणामनिरुत्सुकानां नैकाकाशप्रदेशेवस्थानमवगाहनविशेषाभावादनेकाकाशप्रदेशवृत्तित्वसिद्धेः इति स्याद्वादिनां न किंचिद्विरुद्धम् ॥ ६३ ॥ स्यान्मतम्,

तथैव युगपत्संयोगवृत्त्यादिनैव, अभेदसाधनोऽभेदव्यवहारसाधनः, तथोक्तवदभ्युपगमे, एकत्वपरिणामनिरुत्सुकानामिति, यद्यपि द्रव्यत एकत्वपरिणामनिरुत्सुकानामप्यानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यद्रव्याणामनन्तानामेकाकाशप्रदेशा-

वस्थितिरिष्यते, तथाप्येकप्रदेशावगाढानां तावतां तेषां क्षेत्रकृतमेकत्वमादायोक्ताविरोधो भावनीयः। युक्तं चैतत् एकप्रदेशावगाढानामेव क्षेत्रतोऽनानुपूर्वीद्रव्यत्वात् तेषां चासङ्ख्येयानामेव सिद्धान्तप्रतिपादनात् सर्वपुद्गलद्रव्याणां चानन्तत्वादित्यालोचनीयं स्वसमयरहस्यविद्भिः ॥ ६३ ॥

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम्। इत्ययुक्तः स संबन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥ ६४ ॥

समवायेन कार्यकारणादीनां परस्परं प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं यतो देशकालादिभेदेन वृत्तिरिति चेत्, स तर्हि समवायिषु समवायान्तरेण वर्तते स्वतो वा ? समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, स्वतो वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेः समवायवैयर्थ्यात् कार्यकारणादीनां कुतः प्रतिबन्धः ? यदि पुनरनाश्रितत्वात् प्रतिबन्धान्तरानपेक्ष इष्यते, तदाप्यसंबद्धः समवायः कथं द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यतः पृथक्सिद्धिर्न स्यात् ? तस्मादयुक्तः संबन्धो न युक्तः समवायिभिः। न ह्यप्रतिबद्ध एव समवायिभिः समवायः संबन्धो युक्तिमान्, कालादेरपि संबन्धत्वप्रसङ्गात्। संबद्ध एव हि स्वसंबन्धिभिः संयोगः संबन्धो दृष्टस्तस्य तैः कथंचित्तादात्म्यसंबन्धात्। समवायोपि विशेषणविशेष्यभावसंबन्धात्समवायिभिः संबद्ध इति चेत्, न, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावान्तरेण स्वसंबन्धिभिः संबन्धेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, अन्यथा संबन्धत्वविरोधात्। तस्य संबन्धिभिः कथंचित्तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु किं समवायेन पदार्थान्तरभूतेन सत्तासामान्येनेव कल्पितेन ? फलाभावात्। प्रागसतः सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः सफलमेव तत्परिकल्पनमिति चेत्, न, अनुत्पन्नस्य सत्तासमवायासंभवात्, उत्पन्नस्यापि तद्वैयर्थ्यात्, स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वात्, स्वरूपेणासतः सत्तासंबन्धेतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरुत्पद्यमानमेव कार्यं सत्तासमवायीष्यते, प्रागसतः सत्तासमवाय उत्पाद इति वचनात् ॥ ६४ ॥

'आश्रयेत्यादि' उत्तरार्द्धं इतिस्तथापीत्यर्थे, तथा च तथापि स सम्बन्धः समवायाख्यः समवायिभिरयुक्तोऽसम्बद्ध इति न युक्तो न घटमानक इति, समवायस्यैवाभावाद्दूरे समवायिनां स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यचर्चेति भावः। एवं च स्यान्मतमिति शङ्काया अनुपमर्दोन्नासंलग्नकत्वमिति द्रष्टव्यम्। स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वादिति, तदिदमाहुः, न हि देशकालयोः सत्त्वं विहायान्यत् सत्त्वम्, अभावेऽपि स्वकालदेशकृतं सत्त्वमभ्युपगम्यत एव, इदानीं भूतले घटाभावोऽस्तीति प्रतीतेः, अभावव्यावृत्तसद्व्यवहारस्तु भावत्वनिबन्धन एवेति, अतिप्रसङ्गादिति परम्परासम्बन्धेन सामान्यादाविवाभावेऽपि सद्व्यवहारप्रसङ्गादित्यर्थः। स्वरूपसत्तयैव सद्व्यवहारोपपत्तौ चालं पदार्थान्तरपरिकल्पनयेति रहस्यम् ॥ ६४ ॥

केवलस्य समवायस्य सत्तासामान्यवन्नित्यत्वादुत्पाद इति ज्ञानाभिधानाहेतुत्वादिति मतं तदा—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः। अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

येषां परमार्थतः सामान्यस्याश्रितत्वमुपचारात्समवायस्य समवायिषु तत्राप्रतिबद्धत्वादसंबद्धत्वं, तदुपचारनिमित्तं तु समवायिषु सत्सु तस्येहेदमिति प्रत्ययकारित्वमिति मतं तेषां प्रत्येकं परिसमाप्तेराश्रयाभावे सामान्यसमवाययोरसंभवादुत्पत्तिविपत्तिमत्सु कथं वृत्तिः ? क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तं सामान्यं समवायश्च तावत्। 'उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदनाश्रितत्वप्रसंगात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं च' इति व्याहतमेतत्। स्यान्मतं 'सत्तासामान्यं तावद्द्रव्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तं, सत्प्रत्ययाविशेषात्। सर्वत्रास्ति च, सत्प्रत्ययाविच्छेदात्। समवायोऽपि सर्वत्र विद्यते, समवायिनां शश्वदविच्छे-

दान्नित्यानां, जन्मविनाशवतां तु केपांचिदुत्पित्सुदेशेपूत्पद्यमानानामेव सत्तासमवायित्वसिद्धेः 'निष्ठासंबन्धयोरेककालत्वात्' इति वचनात्। प्रकृतदूषणानवकाशः, सत्तासमवाययोः प्रागसत्त्वाभावात् तत्रान्यतश्चागमनस्य सर्वात्मनैकदेशेन वानभ्युपगमात् पश्चाद्भवनानिष्टेः शाश्वतिकत्वाच्च' इति तदेतदपि व्याहततरं, सर्वगतस्य सामान्यस्य समवायस्य चैकस्य स्वाश्रयेषु प्रत्येकं परिसमाप्तेरसंभवात् तद्बहुत्वापत्तेराश्रयस्वरूपवत्। न च सर्वत्राविच्छेदात्तदेकत्वं, तदसिद्धेः प्रागभावादिषु सत्तासमवायासंभवाद्विच्छेदोपलम्भात्। प्रागभावादीनां सर्वदा भावविशेषणत्वान्न तत्र तद्विच्छेद इति चेन्नैवमभावस्यापि सर्वगतत्वैकत्वप्रसङ्गात्, सर्वत्रासत्प्रत्ययाविशेषादविच्छेदाविशेषाच्च। यथैव हि द्रव्यादिषु सत्प्रत्ययोऽविशिष्टस्तथा पररूपतोऽसत्प्रत्ययश्च। यथा चाभावस्य शश्वद्भावपरतन्त्रत्वं तथा भावस्याभावपरतन्त्रत्वमपि तदविच्छेदसाधनं, पररूपेणासत एव भावस्य प्रतीतेरन्यथा सर्वसाङ्कर्यप्रसङ्गाद्भावविशेषव्यवस्थितिविरोधात्। नन्वभावस्यैकत्वे कार्यस्य जन्मनि प्रागभावाभावे प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गादनन्तत्वसर्वात्मकत्वात्यन्ताभावापत्तिः। प्रध्वंसस्य चाभावेऽनुत्पन्नस्य कार्यस्य प्रागभावस्याप्यभावादनादित्वप्रसङ्गः प्राक् पश्चादितरेतरात्यन्तविशेषणानुपपत्तिश्च तदभेदात्। इति कश्चित्, तस्यापि कथं सत्त्वैकत्वे समवायैकत्वे च कस्यचित्सत्तासमवाये सर्वस्य स न भवेत्? तथा सति भावस्योत्पत्तेः प्रागपि प्रध्वंससमयेप्यभावान्तरेपि चात्यन्तसत्त्वसिद्धेः कुतः प्रागभावादिभेदस्य व्यवस्था स्यात्? प्रत्ययविशेषात्तद्व्यवस्थायां सत्तासमवायस्य भेदव्यवस्थाऽस्तु तत एव। न हि प्रध्वंसात्प्राक्कार्यस्य सत्तासमवायः प्रागभावात् पश्चादितरस्मादितरत्रेत्यादिप्रत्ययविशेषोऽसिद्धः परीक्षकाणां, यतः सत्तासमवाययोरनेकत्वं न स्यात्। यदि पुनः प्राक्कालादिविशेषणान्येव भिद्यन्ते समवायिनश्च, न पुनः सत्ता समवायश्चेति मतं, तदा कथमभावोपि भिद्येत? तद्विशेषणानामेव भेदात्। विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदे सत्तासमवायभेदोपि तत एव। ततो विश्व-

रूपा सत्ताऽस्तु असत्तावत्। तथा समवायोपि। न चैवमेकत्वविरोधः सत्तायाः संभावनीयो, विशेषतोनेकत्वेपि सामान्यार्पणादेकत्वाविरोधात्, सद्विशेषेष्वेव सत्सामान्यप्रतीतेरसद्विशेषेष्वसत्सामान्यप्रतीतिवत्। समवायविशेषेषु समवायसामान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धा, संयोगविशेषेषु तत्सामान्यप्रतीतिवत्। इति सर्वं सामान्यविशेषात्मकं सिद्धम। न च सामान्यस्य विशेषस्य चैकशः सामान्यविशेषात्मकत्वेऽनवस्थानमन्यथा सर्वं सामान्यविशेषात्मकमिति प्रतिज्ञा हीयते, तयोरन्योन्यात्मकत्वसिद्धेर्द्रव्यार्थार्पणया परस्परतो भेदाच्च पर्यायार्थार्पणया सापेक्षत्वमात्रस्य तयोरिष्टेः। सामान्यस्य हि स्वविशेषादपोद्धृतस्य विशेषान्तरात्मकत्वे विशेषस्य च स्वसामान्यान्निर्धारितस्य सामान्यान्तरात्मकत्वेऽनवस्था स्यान्नान्यथा। भिन्नस्य च सामान्यस्य विशेषाद्विशेषस्य च सामान्यादितरनिरपेक्षत्वे प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते, न पुनरितरथा। इति स्याद्वादिनां सर्वं सुस्थम। वैशेषिकाणां तु तदुभयप्रकारानभ्युपगमादुक्तदोषानुषङ्ग एव। ॥ ६६ ॥ तेषां हि—

येषामिति येषां वैशेषिकाणां सामान्यस्य समवायसम्बन्धेन सम्बद्धत्वात्परमार्थतोऽनुपचारादन्वितत्वं समवायस्य तु समवायान्तराभावादुपचारात्, तथा च समवायिषु तथा सामान्यवदप्रतिबद्धत्वादसम्बद्धत्वमिति योजना, नान्वितो यातीति, अनु पश्चात्, इतः सकाशान्न यातीत्यर्थः। भावविशेषणत्वाद्भावविनिर्मुक्तबुद्ध्यविषयत्वात्, भावपरतन्त्रत्वमुक्तभावविशेषणत्वमेव, एवमग्रेऽभावपरतंत्रत्वमपि व्याख्येयम्। सत्त्वैकत्वेऽसत्त्वैकत्वमपि स्यादित्युक्तं तत्रासत्त्वैकत्वे बाधकमाशङ्कते—नन्वभावस्यैकत्व इत्यादिना, एवं वादिनः सत्त्वैकत्वेऽपि बाधकं तुल्यमित्याह—तस्यापीत्यादिना, प्रत्ययविशेषात् प्रागनासीदित्यादिप्रतीतिभेदात्, तद्व्यवस्थायां प्रागभावादिभेदव्यवस्थायां, तत एव प्रत्ययविशेषादेव,

नहीत्यादिना प्रागासीत् पश्चाद्भविष्यतीत्येवं कालभेदात्, इतरस्माद्देशादितरत्रास्तीत्यनेन च देशभेदात् प्रतीतिसाक्षिकः सत्तासमवायभेद उपदर्शितः। यदि च तत्तत्कालदेशरूपविशेषणभेदेऽपि सत्ताया न भेदः, तर्हि तद्वदेवाभावस्यापि स माभूत, विरुद्धधर्माध्यासेनासत्ताभेदे च सत्ताभेदोऽपि तद्वदेवास्त्विति सिद्धं द्वयोस्तुल्यकक्षतया विश्वरूपत्वं, भावत्वाभावत्वयोरेवैक्यं नतु भावाभावयोरिति तु मन्दं, विशेषणांश इव विशेष्यांशेऽप्यनुगतप्रतीतेस्तौल्याद्विशेषणभेदेन भेदस्य चोभयत्राविशेषात् सामान्यविशेषोपयोगाभ्यां वैश्वरूप्यस्यैव सिद्धेरित्यभिप्रायवानाह–यदि पुनरित्यादिना ॥ ६५ ॥

सर्वथानभिसंबन्धः सामान्यसमवाययोः। ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥ ६६ ॥

समनुषज्यन्ते इति शेषः। तथा हि। सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासंभवात् ताभ्यामर्थोपि न संबद्धः। कुतस्तयोरनभिसंबन्ध इति चेत्, संयोगस्य समवायस्य चानभ्युपगमात्, सामान्यं समवायीति विशेषणविशेष्यभावस्य चासंभवादनवस्थाप्रसङ्गाच्च। तथैकार्थसमवायस्य चानवकाशात समवायस्य क्वचिदसमवायात् संबन्धान्तरानिष्टेः सर्वथानभिसंबन्धस्तावत्सिद्ध एव। ततः परस्परतोऽनसंभिबद्धाभ्यां सामान्यसमवायाभ्यामर्थोपि द्रव्यगुणकर्मलक्षणो न संबद्धः शक्यते वक्तुं, यतस्तत्र सत्तासमवायः स्यात। ततस्त्रीण्यपि नात्मानं बिभृयुः कूर्मरोमादिवत्। परस्परमसंबद्धानि ह्यर्थसमवायसामान्यानि न सन्त्येव। न चासतां कर्तृत्वम्। नापि कश्चिदात्मा संभवति यस्य कर्मत्वम्। न च कर्तृकर्मत्वाभावे तान्यात्मानं बिभृयुरिति शक्यं वक्तुं, कर्तरि लिङो विधानात्कर्मणि विभक्तिनिर्देशाच्च। स्यान्मतं 'परस्परमसंबद्धानामपि स्वरूपसत्त्वप्रसिद्धेर्नार्थसमवायसामान्यानामसत्त्वम्। कूर्मरोमादीनां स्वरूपसत्त्वाभावाच्च विषमोयमुपन्यासः' इति तदयुक्तं, द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात्सामान्यादिवत्, सामान्यादीनां

वा सत्तासंबन्धप्रसङ्गाद्द्रव्यादिवत्, तेषां स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाभावात् सम एवोपन्यास इति निरूपणात्। कथं चार्थान्तरभूतायां सत्तायां समवायवत्सर्वथानभिसंबद्धायां द्रव्यगुणकर्मणां सत्त्वं न पुनः कूर्मरोमादीनाम् ? इति चिन्त्यम्। कथं च सत्तासामान्यं सर्वथा समवायासंबद्धं द्रव्यादिषु समवायि न पुनः समवायस्तत्र समवायी समवायान्तरेणासंबद्ध इति बुद्ध्यामहे ? समवायसंबद्धत्वाभावाविशेषात्, सतापि हि समवायेन सामान्यस्यासंबद्धत्वं समवायान्तरेण पुनरसता समवायस्येति तत्सदसत्त्वाभ्यामसंबद्धत्वस्य विशेषयितुमशक्तेः। न च कश्चित्संबन्धः स्वसंबन्धिभ्याममंबद्ध एव तौ घटयितुमलं, संयोगस्यापि स्वसंयोगिभ्यामसंबद्धस्यैव तयोर्घटकत्वप्रसङ्गात्। न चैवमिष्यते, सिद्धान्तविरोधात्। ततो न कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोर्वान्यतैकान्ते तद्भावो युक्तोऽकार्यकारणादिवत्, समवायादर्थान्तरभावनियमाच्च। तद्वत्समवायोपि न तेषां परस्परं घटनकारी सर्वथानभिसंबद्धत्वात् तादृगर्थान्तरवत्। ततश्चासन् समवायोनर्थक्रियाकारित्वात् कूर्मरोमादिवत्। सामान्यं चासत् तत एव तद्वत्। न हि तदर्थैरसंबद्धं स्वविषयज्ञानोत्पादनलक्षणामप्यर्थक्रियां कर्तुं प्रभवति यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्। तथा न सन्ति द्रव्यादीनि सत्तासमवायरहितत्वात्तद्वत्। सामान्यादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषामपि परमार्थतः सत्त्वानभ्युपगमात्। न चोपचरितसद्भिर्व्यभिचारचोदनोपपत्तिमती, परमार्थसत्त्वाभावसाधनस्यातिप्रसङ्गात्। इति न कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः श्रेयान्, प्रमाणाभावादनन्यतैकान्तवत् ॥६६॥

ततः परस्परत इत्यादि, युक्तं चैतत्तद्यसम्बद्धाभ्यां घटसंयोगाभ्यां कृत्वा भूतलं घटसम्बद्धं भवति, पटसंयोगेन घटवद्भूतलमित्यस्याप्यापत्तेः, न च सामान्यनिरूपितत्वं समवायैक्ये किञ्चिदतिप्रसङ्गवारकं नाम, तन्नानात्वे स्वरूपतः सामान्यनिरूपितत्वं व्यवहारे स्वीक्रियतां, किमन्तर्गडुना समवायेन, तत्र सत्तानिरूपितत्वस्य खपुष्प इवासम्भवादिति। कथं

चेत्यादि अनभिसम्बद्धायामित्यनन्तरमङ्गीक्रियमाणायामिति शेषः । अत्र यत् यत्सम्बन्धाभाववत् तत्तेन सम्बन्धेन तदभाववदिति व्याप्तेरर्थसमवायाभाववत्याः सत्ताया अर्थेऽभावान् कूर्मरोमतुल्यत्वमर्थानां पराभिमतानामिति बोध्यम् । उक्तयुक्तिमेवोत्तेजयति कथं च सत्तासामान्यमित्यादिना, ननश्चास्त्समवाय इति, ननु समवायो यदि सत्तया सर्वथानभिसम्बद्धः स्यात्तदाऽर्थे सत्तां न संघटयेदिति तर्कः समवायासिद्धावाश्रयासिद्धत्वेन प्रशिथिलमूलस्तत्सिद्धौ च किं तेन उदिते सूर्ये चौरादिशापवत्तस्य व्यर्थत्वात् केवलं ततः समवायस्य स्वभावविशेषं कल्पयेत् प्राज्ञो येन सत्तायामसत्यप्यसौ तामर्थेन संघटयेदित्ययुतसिद्धानामिहेति प्रत्ययहेतुरनुगतः समवायो दुरपह्नव इति चेद्, दुरन्तेयं नैयायिकसमयवासनानुबद्धा लाघवधीर्देवानांप्रियस्य, हन्तैवं जलादौ वह्न्याद्यभावप्रमायाः सम्बन्धनियतत्वात्तत्राप्यनुगतं वैशिष्ट्यसम्बन्धं लाघवप्रियः किं नाभ्युपैषि, स्वरूपसम्बन्धेनैव तत्प्रमोपपत्तेरतिरिक्तवैशिष्ट्येऽपि वैशिष्ट्यान्तरस्वीकारेऽनवस्थापत्तेरिति चेत्, समवायेऽपीदृशी दीयतां दृष्टिः । गुणगुण्यादिस्वरूपद्वये सम्बन्धत्वमतिरिक्तसमवाये वेति विनिगमकाभावादपि समवायसिद्धिः, प्रकृते तु नैवम्, अभावस्यानुगतत्वेन स्वरूपसम्बद्धत्वौचित्यादित्यपि रिक्तं वचः, जातिव्यक्तिस्थले जातेरेवानुगतत्वेन सम्बन्धत्वौचित्यात् समवायोच्छेदापत्तेः, अस्मदृष्ट्या सर्वस्यैव कथञ्चिदनुगतत्वाच्च । न च समवायेन संयोगत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वादिना हेतुत्वात् समवायसिद्धिः, स्वरूपाणामानन्त्येन गौरवात्, कालिकादिस्वरूपेण स्पन्दादेरपि जन्यभाववत्त्वाच्चेत्यपि वाच्यम् । तथापि कालिकविशेषणतादिभिन्नस्य पदार्थमात्राधारतानियामकस्य कस्यचिद्वैशिष्ट्यस्य संयोगादिनिष्ठकार्यतावच्छेदकसम्बद्धत्वेनाविरोधात् । अथ प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशे कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशस्य हेतु-

त्वात्समवायसिद्धिः, जात्यादौ नाशापत्तिवारणाय कालावच्छिन्नेति, स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन हेतुत्वे तु घटादिवृत्तिध्वंसध्वंसापत्तिः, न च घटादिकालीनतद्वृत्तिक्रियासंयोगविभागद्वित्वादिनाशे व्यभिचारात् घटादिनाशक्षणवृत्तितत्समवेतनाशे हेतुत्वोक्तौ क्षणानामानन्त्येन विशिष्य नाश्यनाशकभावविश्रान्तौ गौरवात् कालिकेन घटादिनाशवृत्तिघटादिवृत्तिनाशे तेन घटादिनाशस्य हेतुत्वकल्पनात् प्रतिक्षणं तादृशस्य कस्यचिन्नाशेनानुपपत्त्यभावान्न समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि लाघवात्प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्ने स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन नाशत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वेन समवायसिद्धेरप्रतिरोधादिति चेत्, न। परमाणुरूपशब्दकर्मवेगद्वित्त्वादिनाशधागवारणाय प्रतियोगिनो विशिष्यहेतुत्वाद्ध्वंसे ध्वंसापत्त्यभावात् कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वमपहाय तत्स्थाने सन्निष्ठस्वप्रतियोगिवृत्तित्वस्य स्वप्रतियोगिवृत्तिसत्त्वस्यैव वा सम्बन्धस्याभिषेके लाघवादनतिप्रसङ्गाच्च। एतेनाश्रयनाशजन्ये नाशे प्रतियोगिनो विशिष्याहेतुत्वाद् ध्वंसे तदापत्तिर्दुर्वारेत्याद्यपास्तम्। अपि च रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्य हेतुत्वाद्वैशिष्ट्यसिद्धिर्जायमाना समवायमपाकुरुते, न चैवमपि महत्त्वाभावरूपाभावयोश्चाक्षुषे कार्यकारणभावद्वयान्तरावश्यकत्वे रूपाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता महत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता द्रव्यसमवेतचाक्षुषे च चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायो हेतुरित्येव कल्पयितुं युक्तम्, अत एव जातिसाधारणसमवायसिद्धिरिति भट्टाचार्योक्तमपि श्रद्धेयं, द्रव्यसमवेतत्रुटिचाक्षुषे व्यभिचारवारणाय द्रव्यान्यत्वविशेषणदाने रूपाभावमहत्त्वाभावचाक्षुषनिष्ठकार्यतावच्छेदकपर्यालोचने च गौरवात्, वैशिष्ट्यवादिनो रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषत्वं महत्त्वाभावान्यरूपवद्वृत्तिचाक्षुषत्वं वा कार्य-

तावच्छेदकमिति विनिगमनाविरहस्फूर्त्तौ तु तेन वस्तुतो रूपाभावान्यमहद्वृत्तिनिष्ठा या विषयता तया चाक्षुषत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम्, अपि च समवायवादिनः कार्यकारणभावत्रये प्रथमद्वितीयाभ्यामेव कार्यतावच्छेदके चरमाभावत्वाप्रवेशे द्वितीये द्रव्यभेदप्रवेशे च वैशिष्ट्यवादिनो निर्वाहान्नान्त्यस्य हेतुतेतिलाघवं, न चैवं पार्थिवाणुघ्राणमात्रेन्द्रियसन्निकर्षे पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिः, परस्यापि तन्मात्रसन्निकर्षाज्जलत्वाभावादिप्रत्यक्षतापत्तेस्तद्वारणाय रूपाभावप्रत्यक्षे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता महत्त्वाभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता रूपमहत्त्ववद्वृत्ते रूपाभावमहत्त्वाभावभिन्नस्य चाभावस्य चाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्विशेषणता हेतुरित्यभावप्रत्यक्ष एव परेण कार्यकारणभावत्रयं वाच्यम्, भावप्रत्यक्षे चान्यत्, तथा च तृतीये कार्यतावच्छेदकेऽभावत्वाप्रवेशाद्भावप्रत्यक्षेऽपि वैशिष्ट्यवादिनस्तत एव निर्वाहः, एवं च चक्षुःसंयुक्तसमवायादेरप्यस्वीकाराल्लाघवम्। न च परेणापि व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरोधेन तत्तद्द्रव्यचाक्षुषादौ चक्षुःसंयोगादिहेतुत्वेनैव तत्तद्वृत्तिगुणकर्माभावादिप्रत्यक्षनिर्वाहे चक्षुःसंयुक्तसमवायादिप्रत्यासत्तेरेवास्वीकारान्नोक्तलाघवावतार इति वाच्यम्, यदवच्छेदेन घटपटयोः संयोगस्तद्भिन्नावच्छेदेन चक्षुःसंयोगवशात्तदुभयप्रत्यक्षेऽपि तदुभयसंयोगाप्रत्यक्षात्तत्प्रत्यक्षस्य तदुभयविषयकत्वनियमाभावाद् व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षे पृथक्सामग्र्या आवश्यकत्वादुक्तहेतुत्वेन न निर्वाह इत्यादेः प्रथमपरिच्छेद एव विवेचितत्वात्। यत्र च न व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरुद्धा हेतुता तत्र घ्राणादिप्रत्यासत्तौ लाघवाद्वैशिष्ट्यसिद्धेर्ब्रह्मणाऽपि दुर्वारत्वाच्च। न च गन्धग्राहकं घ्राणसंयुक्तमहत्त्वोद्भूतगन्धवद्वैशिष्ट्यं गन्धाभावग्राहकं तूद्भूतगन्धाघटितमिति न तयोरैक्यसम्भव इति शङ्कनीयम्, अनुद्भूतगन्धभेदस्य गन्धसाक्षात्कारहेतुतयोद्भूतगन्धस्य सन्निकर्षाघटकत्वादिति परेषामेव नव्यनयप्रासादमारोहतां विचार-

निश्रेणी। अपि च जातिसाधारणसमवायसिद्धौ जातेरर्थवत्त्वापत्तिः, यत्र यत्सम्बन्धवत्त्वं तत्र तद्वत्त्वमिति नियमस्य ग्रन्थकृतैव पूर्वं सूचितत्वात्, तत्र तस्य तद्वृत्तित्वानियामकत्वान्नेयमिति चेत्, तदपि कुतः, तथा विशिष्टबुद्ध्यभावादिति चेद्, व्यक्त इतरेतराश्रयः, तत्र तद्वृत्तितानियामकसम्बन्धाभावे तथा विशिष्टबुद्ध्यभावस्तदभावाच्च स इति, तस्माद् व्यक्तिस्वरूपस्य जातौ वृत्त्यनियामकत्वमित्यस्मन्मतमेव श्रेय इति। यदपि द्रव्यजात्यन्यचाक्षुषे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात् समवायसिद्धिरिति केश्चिदुच्यते, तदपि तुच्छं, द्रव्यान्यसचाक्षुषत्वावच्छिन्ने महदुद्भूतरूपवद्भिन्नवृत्तित्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया एवौचित्यात्, तदेवं लाघवादेकः समवायो यैः साध्यते तेषामितोऽपि लाघवाद्वैशिष्ट्यमेकं बलादापतेदिति निर्व्यूढम्। यः पुनराह–नेत्याकारकाभावप्रत्यक्षापत्तेरयोग्याभावप्रत्यक्षापत्त्या च प्रतियोगिविशिष्टतत्तदभावप्रत्यक्षे तत्तदभावविशेषणता हेतुरतो नाभावमात्रस्य वैशिष्ट्यसिद्धिरिति, सोऽपि न प्रेक्षापूर्वकारी, भावाभावसाधारण्येन लाघवादेकवैशिष्ट्यसिद्धौ विशिष्यप्रत्यासत्तौ तन्निवेशस्याबाधकत्वात्, अन्यथा समवायैक्येऽप्यगतेः, तस्यापि व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्त्यादिगुणप्रत्यक्षानुरोधेन विशिष्यापि प्रत्यासत्तिघटकत्वात्, प्रतियोगिज्ञानादिकारणतयोक्तापत्तिनिरासेनाभावप्रत्यक्षे विशेषणतायाः सामान्यतः प्रत्यासत्तिताया एव युक्तत्वाच्च। वस्तुतः सत्तापि सामान्यत एका विशेषणभेदाच्च भिन्नेत्युक्तं, समवायोऽपि च त्वया लाघवादेको रूपिनीरूपव्यवस्थानुरोधेन च गलेपादिकया नाना स्वीकार्यः, तद्वत् वैशिष्ट्यमप्येकानेकरूपत्वेन वैश्वरूप्यं बिभ्रत् केन प्रत्याख्यातुं शक्यम्। ततश्च–" एकं स्वीकुरु वैशिष्ट्यं, समवायं विमुञ्च वा। क्रीडाकान्दुकतां नेय, इति नैयायिको बुधैः ॥ १ ॥ नाशस्य प्रागभावत्वं, प्रागभावस्य नाशता। घटादौ तस्य सम्बन्धं, वैशिष्ट्याख्यं विना कथम्॥२॥

अभावाभावरूपत्वात्, सर्वस्य प्रतियोगिनः। तत्सम्बन्धेषु वैशिष्ट्य-रूपत्वं चेत् न मन्यते ॥ ३ ॥ नेति धीस्तत्र तन्न स्यान्नहि सा कालिकादिना। वैशिष्ट्यत्वे तु तेष्विष्टे संसर्गाकारगौरवम् ॥ ४ ॥ धर्मातिरेके तद्धर्मः स्पर्द्धयैवातिरिच्यते। जात्यन्तरात्मके तत्त्वे किमसाध्यं विवक्षया ॥ ५ ॥ विशिष्टे लक्षणाऽन्येषा-मविशिष्टे च कस्यचित्। जात्यन्तरं त्वखण्डं वा, खण्डशो वा प्रतीयताम् ॥ ६ ॥ इतीह वैशिष्ट्यमनेकमेकं, समर्थितं न्यायविशारदेन। स्वरूपविश्रान्तिजुषा च तेन भग्ना परेषां समवायवृत्तिः ॥ ७ ॥" ॥६६॥

अपरः प्राह, मा भूत्कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः परमाणूनां तु नित्यत्वात् सर्वास्ववस्थास्वन्यत्वाभावादनन्यतैकान्त इति तं प्रति संप्रत्यभिधीयते।

अनन्यतैकान्तेणूनां संघातेपि विभागवत्। असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥ ६७ ॥

यथैव हि विभागे सति परमाणवोऽसंहतात्मानस्तथा संघातकालेपि स्युः, सर्वथान्यत्वाभावादन्यत्वे तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात्। संघातकाले कार्यस्योत्पत्तेस्तदसमवायिकारणस्वसंयोगस्वभावं संहतत्वं भवत्येवेति चेन्, न, तेषामतिशयानुत्पत्तौ संयोगस्यैवासंभवात् पृथिव्यादिभूतचतुष्कस्यावयविलक्षणस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। कर्मणोतिशयस्य प्रसूतेः संयोगः परमाणूनामिति चेन्, न, कथंचिदन्यत्वाभावे तदयोगात्। क्षणिकत्वात्परमाणूनामदोष इति चेत्तथापि कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेपि मा भूवन्विभागवत्। विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते एवाधोमुखमोदककमण्डलुवद्वंशरज्वादिवच्चेति चेत्स तर्हि तेषां नाहितोपि विशेषो विभागैकान्तं निराकरोति, तन्निराकरणे परमाणुत्वविरोधादेकत्वपरिणामात्मकस्कन्ध-

स्योत्पत्तेः । प्रविभक्तपरमाणुभ्यः संहतपरमाणूनामविशिष्टत्वलक्षणानन्यत्वासंभवात् संहतानां धारणाकर्षणादिसामर्थ्यं विशेषो न पुनरपरमाणुत्वं, येनाविशेषः कार्यकारणपरमाणूनां न भवेदिति चेन्, न, सर्वथा तदविशेषे तत्सामर्थ्यस्यैवायोगात् प्रविभक्तपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात् । प्रविभक्तत्वादेव न तेषां तत्सामर्थ्यमिति चेन्, तत एवान्यत्रापि तन्नेष्यते, केनचिदपि विशेषान्तरेण तद्विभक्तत्वानिराकरणात् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेवं विभ्रममात्रं प्राप्नोति, सर्वदा परमाणुत्वाविशेषात् । इष्टत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षं हि बहिर्वर्णसंस्थानाद्यात्मकं स्थवीयांसमाकारमन्तश्च हर्षाद्यनेकविवर्तात्मकमात्मानं साक्षात्कुर्वद्भ्रान्तं चेत्किमन्यदभ्रान्तं यत्प्रत्यक्षलक्षणं बिभृयात् ? प्रत्यक्षाभावे च कुतोनुमानं न विरुध्यते ? न च प्रत्यक्षादिविरोधे स्वसंवेदनमात्रमपि सिध्येत्, सर्वदा संवित्परमाणुमात्रस्यासंवेदनात् । न च कार्यस्य भ्रान्तौ परमाणुसिद्धिस्तत्त्वतः स्यादित्युच्यते ॥ ६७ ॥

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् । उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न । ६८ ।

प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रसिद्धेर्नाणुभ्रान्तिरिति चेन्, न, तेषामप्रत्यक्षत्वात् । तथा हि । चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति तद्विपरीतानुपलब्धिर्वा । तत्रैतस्याद्भ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति तन्न, परमाणूनां चक्षुरादिबुद्धौ स्वभावमनर्पयतां कार्यलिङ्गाभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेः, प्रविरलवकुलतिलकादीनां जातुचित्प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तावनेकाकारप्रतिभासस्य च भ्रान्तत्वे तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तिवत् । कार्यलिङ्गं हि कारणं परमाणुरूपम् । तत्कथं कार्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तं न भवेत् ? परमाणूनां कार्यस्य चानभ्युपगमे तद्द्वयाभावात्तद्वृत्तयो जातिगुणक्रियादयो न स्युर्व्योमकुसुमसौरभवत् । तद्धि गुणजातिरूपादिसत्तादिस्वभावमितरच्च क्रियाविशेषसमवायाख्यं परमाणुवृत्ति वा स्यात् कार्यद्रव्यवृत्ति वा, न च तदुभयासंभवेभ्युपगन्तुं युक्तं, गगनकुसुमस्याभा-

वेपि तद्वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततस्तदभ्युपगच्छता कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च परमाणूनां परमाणुरूपतापरित्यागेनावयविरूपतोपादाने सति संभाव्यते नान्यथा । तन्न तेषामनन्यतैकान्तः, कार्योत्पत्तौ कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः । ततः सौगतवन्न वैशेषिकाणां स्वमतसिद्धिः ॥ ६८ ॥ साङ्ख्यानां च कार्यकारणयोः—

'**तच्च परमाणूनामिति**' ननु कथमेतत्, आरब्धकार्याणामपि परमाणूनामवयविसमवायित्वेऽपि तद्रूपस्वीकारस्य परमाणुरूपतापरित्यागस्य चायुक्तत्वादिति चेत्, न, आरब्धकार्याणामणूनां स्कन्धस्थानामपि प्रदेशत्वस्वीकारे परमाणुत्वपरित्यागस्य कथञ्चिदवयवित्वापत्तेश्चावश्यकत्वात्, सर्वथाऽवयवावयविभेदे शतमाषकारब्धेऽवयविनि माषकशताद्गुरुत्वाधिक्यादवनतिविशेषप्रसङ्गात्, न च गुरुतरद्रव्ययोः समयोरुत्तोलने एकत्र संलग्नतृणादिगुरुत्वाधिक्यानवनतिवदुपपत्तिः अवयविन्यत्यन्तापकृष्टगुरुत्वस्वीकारादिति वाच्यम्, एवं सति तत्तदवयवित्वेन तत्तदवयवगुरुत्वात्यन्तापकृष्टगुरुत्वहेतुत्वकल्पने महागौरवात्, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनोत्कृष्टगुरुत्वस्य समवायेनात्यन्तापकृष्टगुरुत्वहेतुत्वस्वीकारे चात्यन्तापकृष्टगुरुत्ववदण्वारब्धस्थले व्यभिचारात्, परमाणावत्यन्तापकृष्टगुरुत्वं पाकजमेवापाकजे च तत्रोक्तहेतुत्वान्न दोष इति चेत्, न, अत्यन्तापकृष्टगुरुत्ववदण्वारब्धेऽपि ततोऽत्यन्तापकृष्टगुरुत्वस्वीकारेऽत्यन्तत्वाविवेचनात् । स्वजन्यावनतिविशेषोत्कृष्टावनतिविशेषप्रयोजकरूपाभाव एवात्यन्तत्वं तादृशात्यन्तापकृष्टगुरुत्वे च गुरुत्वमात्रस्यैवोक्तसम्बन्धेन हेतुत्वान्न दोष इति चेत्, न, तथापि परमाणावेवोत्कृष्टगुरुत्वविश्रामापत्तेः । न च तस्यापि युक्तत्वं, पाषाणारम्भकपरमाण्वारब्धतन्तुसमद्रव्ये पाषाणतुल्यगुरुत्वप्रसङ्गात्, स्वैरं परिभ्रमद्भिस्तत्परमाणुभिर्जगदाक्रमणप्रसङ्गाच्च, तस्मादारब्धकार्यैरणुभिः कथञ्चिदसदेवावयविन्ववद्गुरुत्वं स्वी-

क्रियते ततस्तेषु नानन्यतैकान्त इति युक्तम् । एतेनास्तु वा परमाणावेव गुरुत्वं द्व्यणुकादेरधःसंयोगस्तु गुरुत्वमापेक्षपातजन्यावयववेगजवेगाधीनक्रियया, पातव्यवहारस्तु वर्त्तिस्थदीपपातव्यवहारवद् गौणः, न चैवं महावयविपाते बहुविलम्बप्रसङ्गः, मिथो विष्टब्धावयवानां विष्टम्भाधीनक्रियाजन्यवेगेनान्त्यावयविनि द्रुतवेगसम्भवात् पातव्यवहारवत्परम्परया सम्बन्धविशेषेण वा परमाणुगुरुत्वमेव वा पतननियामकमित्यपास्तम्, अधःसंयोगे गुरुत्वस्य सामानाधिकरण्येनैव हेतुत्वात् परमाणुगतगुरुत्वेन परम्परयाऽवयविनिष्ठकार्योत्पत्तौ तद्गतरूपादिनापि चाक्षुषादिकार्यनिर्वाहेऽवयविरूपादेरप्युच्छेदप्रसङ्गात्, सम्बन्धविशेषस्य च प्रदेशस्कन्धभावाख्यतादात्म्यातिरिक्तस्य दुर्वचत्वात्तत्स्वीकारे चाणूनां कथंचिदवयविरूपतापत्ताव(न)न्यत्वस्यानायाससिद्धत्वात् । यदप्युच्यते भट्टाचार्यैर्गुरुत्व एव वा मानाभावो, वायुतेजसोस्तिर्यगूर्ध्वगमनवत् पाथःपृथिव्योरधोगमनस्यासति प्रतिबन्धकेऽदृष्टवदात्मसंयोगादिनैवोपपत्तेः, पतनप्रकर्षस्त्ववयवाधिक्यात्, अवयविनि गुरुत्वापकर्षवादिनापि तथैव वाच्यत्वादिति, तदपि चिन्त्यम्, अवयवाधिक्येन पतनप्रकर्षे महाधूमस्यापि तत्प्रसङ्गात्, स्पर्शविशेषवदवयवाधिक्यस्य तत्प्रयोजकत्वे च स्पर्शविशेषस्यैव तत्त्वौचित्याद्, गुरुत्वस्य च तद्गतजातिविशेषस्यैव कल्पयितुं युक्तत्वात्, एवं हि पतनहेतुतावच्छेदकं गुरुत्वं स्यादिति लाघवम्, परमते तु गुरुत्वत्वमिति गौरवमित्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः । तदेवं गुरुत्वादिमत्कार्यद्रव्यभेदेन कथञ्चिदन्यत्वमणूनां सिद्धम् । एतेन नित्यत्वात् कार्यद्रव्यानारम्भकत्वाच्चाणूनां नान्यत्वं लौकिकविषयतया द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्ने त्र्यणुकत्वादिघटकसंयोगानां पिशाचत्वादिघटकसंयोगभिन्नानां वैजात्येन कारणत्वान्न केवलाणुद्व्यणुकप्रत्यक्षापत्तिः, तादृशसंयोगविशिष्टवृत्तित्वादिकं च गुणादिप्रत्यक्षे तन्त्रमिति केवलाणुद्व्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वेऽपि न

त्र्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वम्, न चैवं तन्तूनामेव पटत्वे तन्तुषु पट इति धीर्न स्यात्, स्याद्वा तन्तुषु तन्तुरित्यादिकमपीति वाच्यम्, फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वादेरेव विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्वीकारात्, पट उत्पन्नः पटो नष्ट इत्यादिधीस्तु विशेषणोत्पादनाशविषया, एकः पट इति प्रतीतिश्चैकं वनमित्यादिवत् समूहैकत्वविषया, पटो महानिति धीरप्यणूनां महत्त्वासम्भवान्महान् धान्यराशिरितिवत् संयोगविशेषरूपं महत्त्वमत्रगाहत इत्यादि नव्यनास्तिकमतमपास्तम्। विलक्षणसंयोगवत्तावदणुत्वस्य पटत्वरूपत्वे तावत्त्वाप्रत्यये तदप्रत्ययापत्तेः, न च विलक्षणसंयोगत्वादिकमेव पटत्वादिकं तन्तुसंयोगात्पट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारायाथार्थ्यापत्तेः, तन्त्वाद्यग्रहे तन्संयोगाग्रहेऽपि पटत्वादिप्रतीतेश्च । किञ्च विलक्षणसंस्थानावच्छेदेन सन्निकर्षाद् यद्द्रव्यगतघटत्वादिग्रहस्तस्योत्पादविनाशभेदादिप्रत्ययानुपपत्त्या पृथगवयविसिद्धिस्तस्य चैकस्याप्यावृतानावृतत्वरक्तारक्तत्वसकम्पनिष्कम्पत्वादिना भेदाद्देशप्रदेशरूपतासिद्धौ कथं नाणूनामवयविप्रदेशतयाऽन्यत्वं, तेन कथञ्चिन्नित्यत्वस्याव्याहतेः, सर्वथा नित्यत्वस्य च क्वाप्यनभ्युपगमात्। किञ्च विभागजातोत्पत्त्याऽप्यणूनामन्यत्वं साधनीयम्, अन्यथा कपालादीनामपि तदुच्छेदापत्त्या सत्कार्यवादापत्तेरिति दिग् ॥ ६८ ॥

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः । द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥ ६९ ॥

कार्यस्य हि महदादेः कारणस्य च प्रधानस्य परस्परमेकत्वं तादात्म्यम् । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽन्यतरस्याभावः स्यात् । ततः शेषस्याप्यविनाभुवोऽभावः । इति सर्वाभावः प्रसज्यते । यदि पुनः कार्यस्य कारणेऽनुप्रवेशात्पृथगभावेपि कारणमेकमास्ते एव नित्यत्वादिति मतं, तदा द्वित्वसंख्याविरोधोपि, सर्वथैकत्वे तदसंभवात् कार्यकारणभावादिवत् । संवृतिरेव द्वित्वसंख्या तत्रेति चेत्, तर्हि

मृषैव सा तद्वदेव प्रसक्ता । तथा च कुतः प्रधानस्याधिगतिः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात् । नाप्यनुमानात्, अभ्रान्तस्य लिङ्गस्याभावात् । न चागमात्, शब्दस्यापि भ्रान्तत्वोपगमात् । न च भ्रान्ताल्लिङ्गादेरभ्रान्तसाध्यसिद्धिरतिप्रसङ्गात् । एवं पुरुषचैतन्ययोराश्रयाश्रयिणोरेकत्वे तदन्यतराभावः । पुरुषे चैतन्यानुप्रवेशे पुरुषमात्रस्य, तस्य वा चैतन्यानुप्रवेशे चैतन्यमात्रस्य प्रसक्तेः सिद्धस्तावत्तदन्यतरस्याभावः परेषाम् । ततः शेषाभावस्तत्स्वभावाविनाभावित्वाद्वन्ध्यासुतरूपसंस्थानवत् । यथैव हि वन्ध्यासुतरूपस्याभावे न तस्य संस्थानं संस्थानिस्वभावाविनाभावित्वात् । तथा पुरुषस्याश्रयस्याभावे चैतन्यस्याश्रयिणोऽप्यभावस्तदभावे पुरुषस्याप्यभावः, तत्स्वभावाविनाभावात् । तथा सति द्वित्वसंख्यापि न स्यात्, पुरुषचैतन्ययोरेकत्वमिति । तत्र संवृतिकल्पना शून्यत्वं नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययात्व्यलीकवचनार्थवत्, परमार्थतः संख्यापाये संख्येयाव्यवस्थानात् सकलधर्मशून्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवात् । तन्न कार्यकारणादीनामनन्यतैकान्तः संभवत्यन्यतैकान्तवत् ॥ ६९ ॥

एकत्व इति, अस्यां कारिकायामविनाभूपदम् अविनाभाविकार्यकारणद्वयेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं, तच्च षष्ठ्यन्तमेकत्व इत्यनेनान्वेति, ततश्चाविनाभाविकार्यकारणद्वयस्यैकत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽन्यतराभावः स्यात्तस्मिंश्चापन्ने शेषस्याभाव आपद्यत इत्यर्थः, तेन शेषस्याप्यविनाभुवोऽभाव इति व्याख्यास्यमानमार्थेन योगेन, नतु सौत्रेण, अभावान्वितस्य शेषपदार्थस्याविनाभूपदार्थेऽन्वयासम्भवादिति बोध्यम् ॥ ६९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

अवयवेतरादीनां व्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न वै यौगपद्येन संभविनौ विरोधात् । तथाऽनभिलाप्यतैकान्ते स्ववचनविरोधस्तद-

भिलाप्यत्वात् । अनभिलाप्यत्वैकान्तस्याप्यनभिलाप्यत्वे कुतः परप्रतिपादनम् ? तद्वचनाच्चेत्कथमनभिलाप्यत्वैकान्तः ? परमार्थतो न कश्चिद्वचनात्प्रतिपाद्यते इति चेत्, स्वयमवाच्यताप्रतिपत्तिः कथम् ? वस्तुनि वाच्यतानुपलब्धेश्चेत्, सा यदि दृश्यानुपलब्धिस्तदा सिद्धा क्वचिद्वाच्यता । नो चेन्नास्ति तदभावनिश्चयोऽतिप्रसङ्गात् । विकल्पप्रतिभासिन्यन्यापोहे प्रतिपन्नाया एव वाच्यतायाः स्वलक्षणे प्रतिषेधाददोष इति चेत्, न, वस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधायोगात्, तदन्यापोहमात्रवाच्यताया एव प्रतिषेधात् । न चान्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता तत्प्रतिषेधाविरोधात् । निरस्तप्रायश्चायमवाच्यत्वैकान्त इत्यलं प्रसङ्गेन । स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः, कथंचित् तथाभावोपलब्धेः । सर्वं हि वस्तु व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, अन्यथा प्रमाणाभावात् ॥ ७० ॥

व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमिति अभिलाप्यपर्यायात्मना वाच्यमित्यर्थः, अर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति घटादेरपि षड्गुणहानिवृद्धिरूपागुरुलघुपर्यायात्मनाऽवाच्यत्वव्यवस्थितिरित्यर्थः । एवं गौर्गोत्वेन गोपदशक्यो न पशुत्वेनेत्यादिप्रतीत्यापि वाच्यावाच्यत्वानेकान्तो भावनीयः ॥ ७० ॥ कार्यकारणादीनामनन्यत्वैकान्तदूषणेन तदनेकान्तस्य प्रक्रान्तत्वात् द्रव्यपर्याययोस्तदुपसंहारे उपक्रमोपसंहारविरोधः स्यादित्यालोच्य व्याचष्टे—

तदेवमवयवावयव्यादीनामन्यत्वानेकान्तं निराकृत्याधुना तदनेकान्तं सामर्थ्यसिद्धमपि दुराशङ्कापनोदार्थं दृढतरं निश्चिचीषवः सूरयः प्राहुः ।

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः । परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः । प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥

गुणिसामान्योपादानकारणानां द्रव्यशब्दाद्ग्रहणम् । गुणव्यक्तिकार्यद्रव्याणां पर्यायशब्दात् । तदेवं द्रव्यपर्यायावेकं वस्तु, प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वात् । यत्प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तं तदेकं, यथा वेद्यवेदकज्ञानं रूपादिद्रव्यं वा मेचकज्ञानं वा । तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते । तस्मादेकं वस्त्विति मन्तव्यम् । पर्यायादवास्तवाद्व्यतिरिक्तमेव द्रव्यं वास्तवमेकेषाम् । द्रव्यादवास्तवाद्व्यतिरिक्त एव पर्यायो वास्तवः परेषाम् । ततोऽसिद्धो हेतुरिति न मन्तव्यं, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तथा हि न द्रव्यं केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत् । पर्यायो वा न केवलोऽर्थक्रियाहेतुस्तत एव केवलद्रव्यवत् । क्रमयौगपद्यविरोधस्तत्रासिद्ध इति चेत्, न, द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात् । वास्तवत्वेपि द्रव्यपर्याययोरव्यतिरेकोऽसिद्धः, कुटादिद्रव्याद्रूपादिपर्यायाणां ज्ञानप्रतिभासभेदाद् घटपटादिवदिति चेत्, न, तस्यैकत्वाविरोधित्वात् । उपयोगविशेषाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न वै निराकरोति, सामग्रीभेदे युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतरज्ञानवत् । ततो नासिद्धो हेतुः । नापि विशेषणविरुद्धः, प्रतिभासभेदस्य विशेषणस्याव्यतिरिक्तहेतुना विरोधासिद्धेः । स्यान्मतम् अव्यतिरिक्तमैक्यमेवोच्यते । ततोऽयं साध्याविशिष्टो हेतुरनित्यः शब्दो निरोधधर्मकत्वादिति यथा । ततो न गमक इति, तदसत्, कथंचिदप्यशक्यविवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तस्य हेतुत्वेन प्रयोगात् । व्यतिरेचनं व्यतिरिक्तं विवेचनमिति यावत् । न विद्यते व्यतिरिक्तमनयोरित्यव्यतिरिक्तौ । तयोर्भावोऽव्यतिरिक्तत्वमशक्यविवेचनत्वम् । इति व्युत्पादनात्तयोरैक्यमेव वस्तुत्वमिति साध्यस्येष्टत्वान्न साध्यमेव हेतुर्यतो न गमकः स्यात् । न चैतदसिद्धमशक्यविवेचनत्वं, विवक्षितद्रव्यपर्यायाणां द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्य

सुप्रतीतत्वाद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् तदाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यैव तस्याभिमतत्वात् । तयोरयुतसिद्धत्वादेवमिति चेत्, किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम ? न तावद्देशाभेदः, पवनातपयोस्तत्प्रसङ्गात् । नापि कालाभेदस्तत एव । स्वभावाभेद इति चेत्, न सर्वथासौ युक्तो विरोधात् । कथंचिच्चेत्तदेवाशक्यविवेचनत्वम् । स एवाविष्वग्भावः समवाय इति परमतसिद्धिः, अन्यथा तस्याघटनात् । पृथगनाश्रयाश्रयित्वं पृथग्गतिमत्त्वं चायुतसिद्धत्वमित्यपि नाशक्यविवेचनत्वादन्यत्प्रतिभाति । ततो न साध्यसाधनशून्यमुदाहरणमपि । रूपादिद्रव्यं वेत्यप्युदाहरणमुपपन्नं, प्रतीतिसिद्धत्वात्, रूपादिद्रव्ययोः समवायस्याशक्यविवेचनत्वस्यैवाव्यतिरिक्तत्वस्य साधनस्य सद्भावादैक्यस्य चैकवस्तुत्वस्य साध्यस्य निर्णीतेः । धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधनात्कालात्ययापदिष्टो हेतुरित्यपि न सत्यं, तेन धर्मिणोः कथंचिद्भिन्नयोरेव ग्रहणात्, सर्वथा भिन्नयोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवात् सह्यविन्ध्यवत् । ननु द्रव्यपर्याययोर्भिन्नयोः कथमभेदो विरोधादिप्रसङ्गादिति चेत्, न, तथोपलम्भान्मेचकज्ञानवत् सामान्यविशेषवद्वा । न हि तत्र विरोधवैयधिकरण्यसंशयव्यतिकरसंकरानवस्थाऽप्रतिपत्त्यभावाः प्रसज्यन्ते, तेषां तथा प्रतीत्यापसारितत्वात् । न च प्रकृतयोस्तथा प्रतीतिरसत्या, सर्वदाऽन्यथा प्रतीत्यभावात् । तदेवं सति विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्रधियां मनो मनागपि न प्रीणयति, वर्णादेरभावप्रसङ्गात् । द्रव्यमेवैकं, न वर्णादयो, विचारासहत्वाद्वर्णादयो एव वानेकं, न द्रव्यं नाम, तस्य विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तेरित्येकत्वानेकत्वैकान्तौ नान्योन्यं विजयेते, दूषणसमाधानयोः समानत्वात्, द्वयोरपि भावस्वभावप्रतिबन्धात् । द्रव्यैकत्वस्य भावस्वभावस्यैकान्तिकस्य प्रत्यक्षादिविरोधात् वर्णादिपर्यायैकान्तस्वभावस्य चाबाधितप्रत्यभिज्ञाननिराकृतत्वात् सिद्धं द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यम् ॥ भेदः कथं सिद्धः ? इत्युच्यते, यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद्भिन्नलक्षणं, यथा रूपादि, तथा च द्रव्यपर्यायौ तस्माद्भिन्नलक्षणावित्यनुमानात्, परस्परविविक्तस्वभावपरिणामौ

हि द्रव्यपर्यायौ, द्रव्यस्यानाद्यनन्तैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात् । पर्यायस्य च साद्यन्तानेकस्वभावपरिणामत्वात् । ततो नासिद्धः परिणामविशेषादिति हेतुः । एतेन शक्तिमच्छक्तिभावः सिद्धः कथितः । परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्याविशेषौ च द्रव्यपर्यायौ, द्रव्ये द्रव्यमिति, पर्याये पर्याय इत्यन्वर्थसंज्ञायाः प्रसिद्धेः, एकं द्रव्यमित्येकत्वसंख्यायाः, पर्याया बहव इति बहुत्वसंख्यायाश्चानुपचरितायाः प्रसाधनात् । ततः संज्ञासंख्याविशेषाच्चेत्यपि नासिद्धं साधनम् । द्रव्यस्यैकत्वान्वयज्ञानादिकार्यत्वात् पर्यायस्यानेकत्वव्यावृत्तिप्रत्ययादिकार्यत्वान्न तयोः परस्परविविक्तस्वभावप्रयोजनत्वमसिद्धम् । द्रव्यस्य त्रिकालगोचरत्वात् पर्यायस्य वर्तमानकालत्वाद्भिन्नकालत्वमपि न तयोरसिद्धं भिन्नप्रतिभासवत् । ततः प्रसिद्धाद्धेतोर्भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिध्यत्येव । इति स्वलक्षणविशेषतस्तन्नानात्वं सिद्धम् । स्वमसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणम् । तस्य विशेषो लक्ष्याविनाभावित्वं, तत एव तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः ॥ नन्वसाधारणं रूपं वस्तुनो लक्षणमित्युच्यमाने सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, कर्मतया प्रमितिजनकत्वस्य प्रमेयत्वस्यानुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वाविरोधात् सत्त्ववत् । सद्वस्तुलक्षणम्, “ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ” इति वचनात् । ननु च यन्न सन्न तद्वस्तु, यथा शशविषाणमिति विपक्षस्यागतः सिद्धेर्नानुपसंहार्यं सत्त्वं, सपक्षविपक्षरहितस्य पक्षव्यापिनोऽनुपसंहार्यत्वादिति चेत्, तत एव प्रमेयत्वमप्यनुपसंहार्यं मा भूत्, खरविषाणस्यासतो भिन्नत्वानाश्रयस्य कर्मत्वेन प्रमित्यजनकस्याप्रमेयस्य विपक्षस्य भावात् । सर्वशब्देन सतोऽसतश्च ग्रहणान्न तस्य विपक्षत्वमिति चेत्, तर्हि सद्ग्रहणेन भावस्य भावान्तरस्वभावप्रागभावादेश्च स्वीकरणात् कस्यचित् तद्विपक्षत्वं मा भूत् । पराभ्युपगतस्यानुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्य विकल्पबुद्धिप्रतिभासिनो विपक्षत्वे सदसद्वर्गाभावस्य पराभ्युपगतस्याप्रमाणविषयस्य विपक्षत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । इति नानुपसंहार्यस्य संभवो, यतः पक्षव्यापिन एवासाधा-

रणस्य वस्तुलक्षणत्वं न स्यात्, विद्यमानयोरविद्यमानयोर्वा सपक्षविपक्षयोरसतः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्ववचनात्। एतेन पक्षाव्यापकस्यासाधारणत्वं प्रत्युक्तं, तस्यासाधारणैकदेशत्वाल्लक्षणत्वायोगादग्नेरुष्णत्ववत्। न हि तत् सकलाग्निव्यक्तिष्वस्ति, प्रदीपप्रभादिष्वनुद्भूतोष्णस्पर्शेष्वभावात्। न चानुद्भूतमपि लक्षणं युक्तमप्रसिद्धत्वात्। यदि पुनरुष्णस्पर्शयोग्यत्वं पावकस्य लक्षणं स्यान्न कश्चिद्दोषः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वसिद्धेः। एतेनाविद्यमाने विपक्षेऽसतोऽसंभवत्सपक्षस्यासाधारणत्वमुपदर्शितं प्रत्येयम्। विद्यमाने च सपक्षेऽसतोऽसंभवद्विपक्षस्य पक्षव्यापिनोऽसाधारणस्य लक्षणत्वमविरुद्धं शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्ववत्। न हि तद् घटादावनित्ये सपक्षे विद्यमानेऽप्यस्ति। नाप्यस्य विपक्षो नित्यैकान्तः संभवति, शब्दत्वस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य कथंचिदनित्यत्वात्, शब्दाभावस्य च शब्दान्तरस्वभावस्येतरेतराभावप्रध्वंसाभावरूपस्यानित्यत्वात् पक्षादन्यत्वानुपपत्तेः। अशब्दात्मनोऽश्रावणत्वात् साधीय एव श्रावणत्वं शब्दस्य लक्षणं, शब्दात्मकत्वाभावेऽनुपपद्यमानत्वात्। इत्यन्यथानुपपद्यमानरूपं पक्षव्यापि लक्षणमनवद्यत्वात्। तत्र द्रव्यस्य लक्षणं गुणपर्ययवत्त्वं, "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इति वचनात्. क्रमाक्रमभाविविचित्रपरिणामाभावे द्रव्यस्य लक्षयितुमशक्तेः, द्रव्यस्यापाये गुणपर्ययवत्त्वस्यानुपपत्तेः कार्यद्रव्ये घटादिविशेषे गुणवत्त्वस्य भावान्नवपुराणादिपर्याययोगित्वस्य च भावान्नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। नाप्यतिव्याप्तिः, स्पर्शादिविशेषेषु क्रमजन्मसु पर्यायेषु स्पर्शादिसामान्येषु सहभाविषु गुणेषु चाभावात्। तथा पर्यायस्य तद्भावो लक्षणं, "तद्भावः परिणाम" इति वचनात्। तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रमभाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य भावादव्याप्त्यसंभवात्, तदभावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः। इति प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वं साधयति, रूपाद्युदाहरणस्यापि साध्यसाधनवैकल्याभावात्, कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तस्य भिन्नलक्षणत्वस्य परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादित्वेन साधनात्। रूपादेर्हि

लक्षणं रूपादिबुद्धिप्रतिभासयोग्यत्वं भिन्नं प्रसिद्धं कथंचित्तन्नानात्वं चेति निरवद्यमुदाहरणम् । ननु च भिन्नलक्षणत्वं स्यान्नानात्वं च न स्याद्विरोधाभावात् । ततः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति न शङ्कनीयं, विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभ्यां च वस्तुस्वभावभेदसिद्धेः । अन्यथाऽनानैकं जगत्स्यात् , तदभ्युपगमे पक्षान्तरासंभवादिति, विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावान्निश्चितव्यतिरेकत्वात् साधनस्य द्रव्यपर्याययोः सर्वथैकत्वे विरुद्धधर्माध्यासस्यास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदस्य चायोगाद्भिन्नलक्षणत्वस्यानुपपत्तेः, व्यापकस्य ग्राहकस्य चाभावे व्याप्यस्य विषयस्य चाव्यवस्थितेः । व्यवस्थितौ वा भिन्नलक्षणत्वस्य न किंचिदेकं जगति स्यात् । नापि नाना, विरुद्धधर्माध्यासाद्यभावेपि नानात्वस्य सिद्धौ तस्य तत्साधनत्वायोगात् । न चासाधना कस्यचित्सिद्धिरतिप्रसङ्गात् । न च नानात्वैकत्वाभ्युपगमे प्रकारान्तरमस्ति, यतो जगदनानैकं न स्यात् । न हि विरुद्धधर्माध्यासेतराभ्यामन्यन्नानात्वैकत्वस्वरूपम् । नाप्यस्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभेदाभ्यामन्यत्तत्साधनं, यत्प्रकारान्तरं स्यात् । ततः कारिकाद्वयेन सामान्यविशेषात्मानमर्थं संहृत्य तत्रापेक्षानपेक्षैकान्तप्रतिक्षेपायाह भगवान् वास्तवमेव इति, स्यान्नानात्वमेव स्वलक्षणभेदात् । स्यादेकत्वमेवाशक्यविवेचनत्वात् । स्यादुभयमेव क्रमार्पितद्वयात् । स्यादवक्तव्यमेव सहार्पितद्वयाद्वक्तुमशक्यत्वात् । स्यान्नानात्वावक्तव्यमेव विरुद्धधर्माध्याससहार्पितद्वयात् । स्यादेकत्वावक्तव्यमेव, अशक्यविवेचनसहार्पितद्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पितद्वयात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया दृष्टेष्टाविरुद्धाऽत्र बोद्धव्या पूर्ववत् ॥ ७१–७२ ॥

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथा कारणादे–रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शान्ततामाश्रयन्ति ।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलङ्घ्यात्, स्वामी जीयात् स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः ॥१॥

इत्याप्तमीमांमालंकृतौ चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

'गुणीत्यादि' ततो नासिद्धो हेतुरिति, तत उक्तकारणात्, द्रव्यपर्याययोरैक्ये साध्ये प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वादिति मूलोक्तो हेतुर्नासिद्ध इत्यर्थः। नित्यनिरोधधर्मकत्वादिति अनित्यधर्मत्वादित्यर्थः। अत्राह साध्यहेत्वोः शब्दभेद एव नत्वर्थभेदस्तद्वत्प्रकृतानुमानेऽपीति साध्याविशेषदोषप्रसङ्गो युक्त इत्यर्थः। प्रतीतिसिद्धत्वादिति, अस्याव्यतिरिक्तत्वस्येत्यनेनान्वयः। धर्मिग्राहकप्रमाणेनेति धर्मिणोग्राहकप्रमाणेनेत्यर्थः। कथञ्चिद्भिन्नयोरेवेति अभेदसंवलितभेदवतोरित्यर्थः। द्रव्यस्यैकत्वान्वयेत्यादि एकत्वान्वयज्ञानादि कार्यं यस्येति बहुव्रीह्युत्तरस्त्वप्रत्ययो द्रष्टव्यः। एवं पर्यायस्यानेकत्वेत्यादावपि, कर्मतयेति लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्मवचनत्वस्यैव लक्षणत्वादसंकीर्णव्यवहारस्यैव च तत्प्रयोजनत्वादिति भावः। एतेन पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वप्रतिपादनेन, तस्य पक्षैकदेशवर्त्तिनोऽसाधारणस्य, उपदर्शितं प्रत्येयमिति अग्निमात्रस्योष्णस्पर्शयोगित्वलक्षण इति गम्यम्॥ शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्वादिति अत्र हि श्रावणत्वं लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वेन लक्षणं भवदनुगतानतिप्रसक्तव्यवहार इवानित्यत्वसाधनेऽपि प्रत्यलमिति तत्र सपक्षावृत्तित्वमबाधकमिति भावः। पक्षव्यापि लक्षणमिति उक्ततत्त्वमेतत्, न च वह्न्युष्णस्पर्शौ प्रमेयावित्यत्र वह्निलक्षणवाक्यत्वप्रसङ्गः। तत्र लक्ष्ये लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वसंसर्गेण तद्धर्मबोधकवचनत्वं तत्र तल्लक्षणवाक्यत्वमित्युक्तौ दोषाभावादिति दिग्। भाष्ये अनानैकं जगत् स्यादिति नानात्वरहितं जगत् स्यादित्यर्थः। तदभ्युपगमे नानात्वाभ्युपगमे, पक्षान्तरासम्भवाद्विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदातिरिक्तप्रकाराभावादित्यर्थः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७१–७२ ॥

" कार्योपादानयोर्वा ननु गुणगुणिनोर्व्यक्तिजात्योरनन्या—
न्यत्वैकान्तान्धकारैर्जगदिदमखिलं नीतमान्ध्यं समन्तात् ।
व्यक्तस्याद्वादमार्गाः प्रतिहतकुमतोलूकनेत्रप्रचारा—
स्तत्प्रध्वंसाय सज्जा भुवनगुरुगिरः सूर्यभासो जयन्ति ॥ १ ॥

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यालङ्कारपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ॥

ॐ ॥ अथ पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ॐ

स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति परिष्टचेतसाममम्‌ । दर्शितसमन्तभद्रं माष्टसहस्री मदा जयतु ॥ १ ॥

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्या—न्न द्वयं व्यवतिष्ठते । अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥ ७३ ॥

धर्मधर्मिणोरापेक्षिकी सिद्धिः, प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभामनाद्दूरेनरादिवत्‌ । न हि प्रत्यक्षबुद्धौ धर्मो धर्मी वा प्रतिभामते, तत्पृष्टभाविविकल्पोपकल्पितत्वात्‌, तस्य स्वलक्षणस्यैव तत्र प्रतिभामनात्‌, शब्दापेक्षया मत्त्वादेर्धर्मत्वेपि ज्ञेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहरणात, तदपेक्षया ज्ञेयत्वस्य धर्मत्वेप्यभिधेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहारात्‌, तदपेक्षया चाभिधेयत्वस्य धर्मत्वे प्रमेयत्वापेक्षायां धर्मित्वप्रसिद्धेः । इति न क्वचिद्धर्मो धर्मी वा व्यवतिष्ठते । ततो न तात्त्विकोऽसौ । न हि नीलस्वलक्षणं संवित्स्वलक्षणं वा प्रत्यक्षमवभासमानं किंचिदपेक्ष्यान्यथाभावमनुभवदुपलब्धम्‌ । केवलमपेक्षाबुद्धौ विशेषणविशेष्यत्वं सामान्यविशेषत्वं गुणगुणित्वं क्रियाक्रियावत्त्वं कार्यकारणत्वं साध्यसाधनत्वं ग्राह्यग्राहकत्वं वा प्रकल्प्यते, दूरेतरत्वादिवत्‌ । इति यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यात्तदा न द्वयं व्यवतिष्ठते नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरप्यापेक्षिकत्वाद्विशेषणविशेष्यत्वादिवत्‌ । तथा हि । ययोः मर्वथा परम्परापेक्षाकृता सिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था । यथा परस्पराश्रययोः मरिति प्लवमानयोः । तथा च नीलतद्वेदनयोः सर्वथापेक्षाकृता सिद्धिः । इति तद्द्वयमपि न व्यवतिष्ठते । न हि नीलं नीलवेदनानपेक्षं सिध्यति, तस्यावेद्यत्वप्रसङ्गात्‌ संविन्निष्ठत्वाच्च वस्तुव्यवस्थानस्य । नापि नीलानपेक्षं नीलवेदनं, तस्य तस्मादात्मलाभोपगमादन्यथा निर्विषयत्वापत्तेः । इत्यन्यतराभावे शेषस्याप्यभावाद्द्वयस्याव्यवस्थानं स्यात्‌ ।

एतेन नीलवासनातो नीलवेदनमित्यस्मिन्नपि दर्शने द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता, तयोरन्योन्यापेक्षैकान्ते स्वभावतः प्रतिष्ठितस्यैकतरस्याप्यभावेन्यतराभावादुभयं न प्रकल्प्येत, नीलवेदनाभावे तद्वासनाविशेषस्याव्यवस्थितेरन्यथातिप्रसक्तेः, तद्वासनाविशेषमन्तरेण नीलवेदनस्याव्यवस्थितेरन्यथा निर्निमित्तत्वापत्तेः । स्यान्मतं, नीलवेदनस्य स्वतः प्रकाशनान्नायं दोष इति, तद् न, परम्परापेक्षैकान्तविरोधात्, दण्डादेर्विशेषणस्य स्वबुद्धौ स्वतः सिद्धेः सामान्यादेरपि स्वग्राहिणि ज्ञानेऽन्यानपेक्षस्य प्रतिभासनाद्विशेष्यविशेषणादेरपि तथा प्रसिद्धेर्द्वयाभावानवकाशात् । तत एव दूरेतरादिदृष्टान्तोपि साध्यसाधनधर्मविकलः स्यात्, दूरासन्नभावयोरपि स्वभावविवर्तविशेषाभावे समानदेशादेरपि प्रसङ्गात् । न च समानदेशकालस्वभावयोरन्योन्यापेक्षयापि दूरासन्नभावव्यवहारः, खरविषाणयोरिव तत्स्वभावशून्ययोस्तदयोगात् । तदिमौ स्वभावतः स्तामन्यथेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात् । एतेन स्वाश्रयशब्दाद्यपेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेन स्वधर्मापेक्षायां धर्मित्वं नाव्यवस्थाकारित्वेनायुक्तमिति प्रकाशितं, तथाविधस्वभावविशेषाभावे परापेक्षयापि धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः, अनन्तत्वाच्च धर्माणां तदपेक्षिणामप्यपर्यन्तत्वात्, अन्यथाभिप्रेतधर्मधर्मिणोरप्यव्यवस्थापत्तेः । इति नापेक्षैकान्तः श्रेयान् । योप्याह 'धर्मधर्मिणोः सर्वथा नापेक्षिकी सिद्धिः, प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वान्नीलादिस्वरूपवत्, सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्' इति, तस्यानपेक्षापक्षेपि नान्वयव्यतिरेकौ स्यातां, भेदाभेदयोरन्योन्यापेक्षात्मकत्वाद्विशेषेतरभावस्य । अन्वयो हि सामान्यं, व्यतिरेको विशेषः । तौ च परस्परापेक्षौ व्यवतिष्ठते । तयोरनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता । प्रतिनियतबुद्धिविषययोरपि प्रतिनियतपदार्थता स्यान्नीलपीतवत् । न ह्यभेदो भेदनिरपेक्षः प्रतिनियतान्वयबुद्धिविषयोस्ति, नापि भेदो जातुचिदभेदनिरपेक्षः प्रतिनियतव्यतिरेकबुद्धिविषयः संभाव्यते, कस्यचिदेकव्यक्तेरपि प्रथमदर्शनकाले तद्बुद्धिविषयत्वप्रसङ्गात् । तदनेन प्रति-

नियतबुद्धिविषयत्वस्य हेतोर्विरुद्धत्वं प्रतिपादितं, तस्य कथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववत्। ततो नैतावेकान्तौ घटेते, वस्तुव्यवस्थानाभावानुषङ्गात् ॥७३॥

॥ अथेदं पञ्चमपरिच्छेदतात्पर्यविवरणम् ॥

महेलं खेलन्तं शिशुषु बहुवेलं धृतजय-स्पृहेलं वेताले ननु विजितताले प्रददतम् ॥
पविप्रायां मुष्टिं जनितजनतुष्टिं स्वहृदये, महावीरं धीरं गुणगणगभीरं प्रणिदधे ॥ १ ॥

अहीन्द्रः पाताले स्वफणमनुसङ्कोचमकरोद्, ययुर्दिग्नागास्ते क्वचन गिरयः पेतुरभितः ॥
यदंहेः सङ्घट्टाच्चलति सुरशैले परशिला, स्थिता यन्माहात्म्यात्तमिह जिनवीरं प्रणिदधे ॥ २ ॥

पञ्चमे सापेक्षत्वानपेक्षत्वस्याद्वादसिद्ध्यर्थमुपक्रमः। अपेक्षाबुद्धाविति व्यावर्तकव्यावर्त्यत्वाद्यपेक्षाजनितविकल्पबुद्धावित्यर्थः। यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यादिति सर्वत्रेति शेषः। नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरपि सर्वकुक्षिप्रविष्टत्वादिति भावः। तयोरप्यापेक्षिकत्वादिति आपेक्षिकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। नहि नीलमित्यादि, यद्यप्येवमेकस्योत्पत्तावन्यस्य न ज्ञप्तावपेक्षेति नैकरूपेणापेक्षानियतत्वं द्वयोः, तथापि निश्चयापेक्षया तथात्वं भावनीयं, प्रसङ्गस्य वस्तुस्थित्यनपेक्षत्वात्। परस्परापेक्षैकान्तविरोधादिति, यद्यप्येतद्दूषणं न सौगतं प्रति सङ्गच्छते, सर्वत्र तेन परस्परापेक्षैकान्तानभ्युपगमात्, सङ्कलनात्मकविकल्पज्ञान एव तेन तत्स्वीकारात्, तथापि धर्मधर्मिभावादेः स्वरूपद्वयानतिरिक्तत्वात्तदुभयग्राहिदर्शनेऽपि परस्परापेक्षत्वमापाद्य तं प्रत्येवेदमिति बहवः। सविकल्पग्राह्यमेव सर्वमिति शब्दनयवादं प्रतीति तु तन्मतानुसारिणः। भाष्ये तादिमाविति। इमौ दूरासन्नभावौ, इतरेतराश्रयदोषानुषङ्गादिति दूरप्रतिपत्तावासन्नस्य प्रतिपत्तिस्त-

त्प्रतिपत्तौ च तस्येन्येवमित्यर्थः। उत्पत्तिपक्षेऽपि दूरापेक्षाबुद्ध्यामन्नत्वस्यामन्नापेक्षाबुद्ध्या च दूरत्वस्योत्पत्तेरन्योन्याश्रयो भावनीयः। अन्यथा सर्वेषां धर्मधर्मिणां स्वतः सिद्ध्यभावे, अपेक्षैकान्तो धर्मधर्म्यादीनामपेक्षाबुद्धिग्राह्यत्वैकान्तः। तस्य कथञ्चिदिति धर्मधर्मित्वादिना प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वस्यापेक्षिकत्वेन व्याप्यत्वादित्यर्थः। प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववदिति प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभातदूरत्वामन्नत्ववदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

अनन्तरैकान्तयोर्युगपद्विवक्षा मा भूद्विप्रतिपेधात् सदसदेकान्तवत् स्याद्वादानाश्रयणात्। तथानभिधेयत्वैकान्तेपीति कृतं विस्तरेण, सदसत्त्वाभ्यामनभिधेयत्वैकान्तवत्। ७४। इति कथंचिदापेक्षिकत्वेतरानेकान्तं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपसामर्थ्यात्सिद्धमपि दुरारेकापाकरणार्थमाचक्षते,–

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥

धर्मधर्मिणोरविनाभावोन्योन्यापेक्षयैव सिध्यति, न तु स्वरूपं, तस्य पूर्वसिद्धत्वात्। स्वतो ह्येतत्सिद्धं सामान्यविशेषवत्। सामान्यं हि स्वतःसिद्धस्वरूपं भेदापेक्षान्वयप्रत्ययादवगम्यते। विशेषोपि स्वतः सिद्धस्वरूपः सामान्यापेक्षव्यतिरेकप्रत्ययादवसीयते। न केवलं सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणमपेक्षितपरम्पराविनाभावलक्षणं स्वतःसिद्धलक्षणमपि तु धर्मधर्मिणोरपि गुणगुण्यादिरूपयोः, कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत [कारकाङ्गकर्तृकर्मवत् ज्ञापकाङ्गबोध्यबोधकवच्च]। न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसङ्गात्। नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्। एतेन बोध्यबोधकयोः प्रमेयप्रमाणयोः स्वरूपं स्वतःसिद्धं ज्ञाप्यज्ञापकव्यवहारस्तु परस्परापेक्षासिद्ध

इत्यभिहितम् । तद्वत्सकलधर्मधर्मिभूतानामर्थानां ‘ (१) स्यादापेक्षिकी सिद्धिः, तथा व्यवहारात् । (२) स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्वात् । (३) स्यादुभयी क्रमार्पितद्वयात् । (४) स्यादवक्तव्या, सहार्पितद्वयात् । (५) स्यादापेक्षिकी चावक्तव्या च, तथा निश्चयेन सहार्पितद्वयात् । (६) स्यादनापेक्षिकी चावक्तव्या च, पूर्वसिद्धत्वसहार्पितद्वयात् । (७) स्यादुभयी चावक्तव्या च, क्रमाक्रमार्पितोभयात् । ’ इति सप्तभङ्गीप्रक्रियां योजयेत्सर्वविशेषणवशादविरुद्धां पूर्ववत् ॥ ७६ ॥

अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी, प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ॥
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः, समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्याऽमलमतेः ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ पञ्चमः परिच्छेदः ॥

‘ धर्मेत्यादि ’ धर्मधर्मिणोर्न विना भावो यस्येति व्युत्पत्त्याऽविनाभावो व्यवहारोऽन्योन्यवीक्षयाऽन्योन्यापेक्षया, सिद्ध्यति । ननु स्वरूपं, हि यतः, एतत् स्वरूपं, कारकज्ञापकाङ्गवत् कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् स्वत एव सिद्धं, तथा च धर्मधर्म्यादेः स्वरूपतोनपेक्षत्वं व्यवहारतश्च सापेक्षत्वमित्यनैकान्त एव विजयत इति कारिकासङ्क्षेपार्थः । ‘ तद्वत् सकलेत्यादि ’ यद्यपि केचिद्भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः केचिच्च स्वतः सिद्धा इत्येवं विषयविभागेन–सापेक्षानपेक्षभावोऽन्यत्र शरावकर्पूरगन्धन्यायेन पूर्वाचार्यैर्व्यवस्थापितः, तथापि स प्रातिस्विकरूपापेक्षया, धर्मधर्मिभावादिना तु सर्वत्र तद्व्याप्तिरेव सिद्ध्यतीत्येतत्तात्पर्यम् । अथ व्यवहारस्य सापेक्षत्वेऽर्थस्य कुत आपेक्षिकत्वमिति चेत्, व्यवह्रियमाणस्वरूपेण तस्यापि तदविरोधात्, अत एव अभावो न स प्रतियोगिकः, किन्तु तद्व्यवहार एवेति मीमांसकमतमपास्तम् । अभावव्यवहारे प्रतियोगिज्ञानज-

न्यतयेत्राभावे प्रतियोगिज्ञानजन्यज्ञानविषयतया सप्रतियोगिकत्वस्याबाधितत्वात्, स्यादेतत्, पेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्व-(त्वा)दिति, न च पूर्वप्रसिद्धसारूप्येऽपि महत्त्वादाववधिज्ञानसापेक्षसिद्धिकत्वाद् दृष्टान्तानुपपत्तिः, महत्त्वव्यवहार एव हि तथा नतु महत्त्वमिति व्यवहारानुप्रवेशेन तस्यापेक्षिकत्वेऽपि स्वरूपतोऽनपेक्षत्वेन दोषाभावात्। यत्तु महत्त्वं न सापेक्षं, किन्तु तद्गुतजातिविशेष एव, तस्य महत्त्वगतजाति सामान्यग्राहकातिरिक्तापेक्षग्रहविषयत्वेन सापेक्षत्वव्यवस्थितेः, अत एवार्द्धावृतेऽवयविनि महत्त्वग्रहेऽपि तद्गतमहत्त्वावितस्तित्वादिजात्यग्रह आवरणप्रतिबन्धादिति नैयायिकैकदेशिभिरुच्यते, तदसत्, आवरणसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन महत्त्वगतजातिविशेषग्रहप्रतिबन्धकत्वे अनावृतावृततुल्यांशद्वयसन्निकर्षस्थलेऽनावृतांशेऽपि महत्त्वविशेषाग्रहप्रसङ्गात्, जातिविशेषप्रकारकमहत्त्वग्रहे उक्तप्रतिबन्धकत्वे चावरणस्थले महत्त्वनिर्विकल्पकापत्तेर्दुर्वारत्वाच्चेति व्यवहारानुप्रवेशेनैव महत्त्वे आवरणाभावसापेक्षत्वस्य युक्तत्वादित्यधिकं ' नयामृततरङ्गिण्यां ' निरूपितमस्माभिरिति तत एवाधिगन्तव्यम् ॥ ७५ ॥

" इत्यपेक्षानपेक्षाभ्यां भङ्गसप्तकसङ्गतिः। निरूपणीया सर्वत्र स्याद्वादामलबुद्धिभिः ॥१॥ अर्थे नये प्रमाणे च तत्प्रयुक्ते बलाबले। प्रयोजनानुसारेण भावनीयं मनीषिभिः ॥२॥ बाह्ये चाभ्यन्तरे हेतौ निश्चयव्यवहारयोः। प्रत्यक्षे च परोक्षे च विशेषो यत्कृतोऽखिलः ॥३॥ अपेक्षानेकान्तप्रशमजसमत्वामृतरसो–ल्लसच्चेतो वृत्तिर्यदमलगुणं पश्यति यमी। तमीशं स्याद्वादप्रणयनसमुज्जीवितजग–ज्जनं वन्दे मन्देतरभविकसन्देहदलनम् ॥४॥

इति महोपाध्यायश्री यशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे पञ्चमः परिच्छेदः सम्पूर्णः ॥

ॐ ॥ अथ षष्ठः परिच्छेदः ॥ ॐ

पुष्यदकलङ्कवृत्तिं समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थाम् । निर्जितदुर्णयवादामष्टसहस्रीमवैति सद्दृष्टिः ॥ १ ॥

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः । सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

इह हि सकललौकिकपरीक्षकैः उपेयतत्त्वं व्यवस्थाप्योपायतत्त्वं व्यवस्थाप्यते, कृष्यादिषु प्रवर्तमानानां व्यवस्थितसस्याद्युपेयानामेव तदुपायव्यवस्थापनप्रयत्नोपलम्भात्, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति प्रसिद्धेः, मोक्षार्थिनां च प्रेक्षावतां व्यवस्थितोपेयमोक्षस्वरूपाणामेव तदुपायव्यवस्थापनव्यापारदर्शनात्, अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वानां तदुपायव्यवस्थापनपराङ्मुखत्वाच्चार्वाकादिवत् । तत्र हेतुत एव सर्वमुपेयतत्त्वं सिद्धं, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन् सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे इत्यादेरेकान्तस्य बहुलं दर्शनात्, अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात्तद्विप्रतिपत्तेस्तद्व्यवस्थापनाया हेत्वादिवचनात् । प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सकलव्यवहारविप्रतिपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासंभवात् । इति केचित्तेषां प्रत्यक्षाद्गतिरनुमानादादितोपि न स्यात् । न च धर्मिणः साधनस्योदाहरणस्य च प्रत्यक्षादगतौ कस्यचिदनुमानं प्रवर्तते । अनुमानान्तरात्तद्गतौ तस्यापि धर्म्यादिगतिपूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । ततः कथंचित्साक्षात्करणमन्तरेण धर्म्यादीनां न कश्चिदनुमानं प्रवर्तेत । किं पुनः शास्त्रोपदेशात् ? इति प्रत्यक्षादपि सिद्धिरभ्यस्तविषयेभ्युपगन्तव्या, अन्यथा शब्दलिङ्गादिप्रतिपत्तेरयोगात्, परार्थानुमानरूपाणामपि शास्त्रोपदेशानामप्रवृत्तेः । ये त्वाहुः—'आगमादेव सर्वं सिद्धं, तमन्तरेण प्रत्यक्षेपि माणिक्यादौ यथार्थनिर्णयानुपपत्तेः, अनुमानप्रति-

पक्षेपि विचिकित्सितादावागमापेक्षणात्, आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्यागमकत्वाच्च, परब्रह्मणः शास्त्रादेव सिद्धेः, प्रत्यक्षानुमानयोरविद्याविवर्तविषयत्वादागमविषये सन्मात्रात्मनि परमात्मन्येव प्रमाणत्वव्यवहरणात् । अबाधिताश्चैते शास्त्रोपदेशाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः, प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात' इति, तेषां विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिध्यन्तु, विशेषाभावात् । सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिरिति चेत, तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं, तत एव तेषां सम्यक्त्वनिर्णयात, अदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात् । न चैते युक्तिनिरपेक्षाः, परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात, परब्रह्मण एवापौरुषेयादागमात्सिद्धिर्न पुनः कर्मकाण्डस्येश्वरादिप्रवादस्य चेति नियामकाभावात् । कथं च श्रौत्रप्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वे वैदिकशब्दस्य प्रतिपत्तिर्येतस्तदर्थनिश्चयः स्यात ? प्रमाणत्वे कुतोनुमानाभावे संवादविसंवादाभ्यां प्रमाणेतरसामान्याधिगमो यतः किंचिदेव श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं नान्यदिति व्यवतिष्ठेत ? ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरनुमन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धेः । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे, तेपि न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः । न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः । सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिरनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेत, न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगादनुमानाभाववत् । ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा । तथानुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याविनाभाविसाधनधर्मप्रतिपत्तिः संभवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात इति चिन्तितमन्यत्र । ततो नैनावप्येकान्तौ युक्तौ ॥ ७६ ॥ (**अथ षष्ठप० विवरणम्**)

मन्थक्षुब्धार्णवाम्भः सजलजलधरोत्तुङ्गगङ्गाप्रवाहध्वानस्पर्द्धाविधायी प्रसरणरसतो व्याप्नुवन् दिग्विभागान्

बोधाय ब्राह्मणानाममृतमधरयन् वीरवक्त्राद्विनिर्य–न्नुच्चैः निःखेदवेदध्वनिरुपचिनुताच्छर्म तात्पर्यशुद्धः॥१॥
वेदाः खेदाय ते ये शतपथविहितैः कर्मभिः कर्मनाश्यै–र्हिंसोद्बोधे प्रवृत्ताः शमदमरहितैः सङ्गृहीताश्च जाल्मैः।
ये तूद्वृत्त्यादिमांगान्मुनिभिरुपरतश्राद्धपाठाय क्लृप्ता-स्ते मन्त्रब्राह्मणाख्याः प्रभुगुणविषयाः सर्व एव प्रमाणम्॥

षष्ठे हेत्वागमैकान्तनिराकरणाय प्रक्रमः, तत्र हेतुवादैकान्तसिद्धये केषाञ्चिद्युक्तिमुपन्यस्यति इह हीत्यादिना, तन्मतं दूषयति तेषामित्यादिना, अनुमानादितोऽप्यनुमानप्राक्कालेऽपि, प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षप्रमाणाद्, गतिर्ज्ञानं, पक्षादेर्न स्यादिति योजना। न चेति, तथा च प्रामाण्यसंशयमूलार्थसंशयनिराकरणरूपविवेचनेऽनुमानस्येव तन्मूलव्याप्त्यादिपरिच्छेदे प्रत्यक्षस्याप्युपयोगाद् द्वयोस्तुल्यत्वमित्यर्थः। प्रामाण्यग्रहेऽप्यनभ्यस्तविषयेऽनुमानस्येवाभ्यस्तविषये प्रत्यक्षस्यैवोपयोगस्तत्र स्वतः प्रामाण्यग्रहस्यैवोपपादितत्वात् स्वत इत्यस्य च स्वेनैवेत्यर्थात् स्वांशे च सर्वत्र ज्ञाने प्रत्यक्षत्वेष्टेरित्यभिप्रायवानाह भाष्यकृत् कथमित्यादिना, चित साक्षात्करणमन्तरेण कथं क्वचिदनुमानं प्रवर्तते न कथञ्चित् क्वापीत्यर्थः। शास्त्रोपदेशात्प्रवर्त्तते इति पुनः किं वाच्यम्। अनुमानसामान्याप्रवृत्तौ परार्थानुमानरूपविशेषप्रवृत्तेरयोगादित्यर्थः। तदेवाह वृत्तिकृत् प्रत्यक्षादपीत्यादिना, आगमैकान्तवादियुक्तिमुपन्यस्यति ये त्वाहुरित्यादिना, 'तमन्तरेणेति' अत्र पद्मरागत्वमुपदेशसहकृतेन्द्रियवेद्यमिति नैयायिकसम्प्रदायविदः। नव्यास्तु भिन्नप्रमाणयोरेकज्ञानाजनकत्वेन न परस्परसहकारित्वमिति पद्मरागत्वप्रत्यक्षे रूपविशेषग्रहणमेव हेतुः, रूपादिविशेषवान् मणिः पद्मराग इत्युपदेशस्तु गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्यवत् पद्मरागपदवाच्यत्वोपमितावुपयुज्यत इत्याहुः, तदसत्, रूपविशेषपद्मरागत्वयोर्ग्रहस्य तुल्यसामग्रीकत्वाच्छिक्षातः पूर्वं रूपविशेषग्रहेऽपि पद्म-

रागत्वाग्रहात्, स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन तस्य पद्मरागत्वप्रत्यक्षहेतुत्वे सदृशपद्मरागद्वयस्थले तदविशेष्यसन्निकर्षेणापि पद्मरागत्वप्रत्यक्षापत्तेरुक्तोपदेशस्य तत्रानुपयोगे च पद्मरागतदन्यसंशयनिवृत्त्यर्थं तदाश्रयणस्योपदेशात्पद्मरागं साक्षात्करोमि न तूपमिनोमीत्यौत्तरकालिकानुभवाकारस्यानुपपत्तेश्च, तस्मादुक्तोपदेशस्य रूपविशेषे पद्मरागत्वव्याप्तिग्राहकत्वेन रूपविशेषग्रहस्य च समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या पद्मरागत्वप्रकारकप्रत्यक्षे हेतुत्वेनोपयोगाद्रूपविशेषवान् पद्मराग इत्यस्यैकोपयोगत्वे निश्चितापायत्वं, भिन्नोपयोगत्वे च सङ्कलनज्ञानात्मकत्वं कररेखाविशेषवान् शतवर्षजीवीत्यतोऽयं शतवर्षजीवीति ज्ञानस्येत्थमेवोपपत्तेरिति परिचितस्याद्वादरत्नाकरोपनिषदो वयं पश्यामः । रूपविशेषरेखाविशेषादिग्रहाणामननुगतत्वात्पद्मरागत्वप्रकारकप्रत्यक्षे स्वजन्यमण्युद्देश्यकपद्मरागत्वविधेयकग्रहोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकग्रहविषयत्वसम्बन्धेनोपदेशत्वेनैव हेतुत्वं युक्तमित्थयमपि साम्प्रदायिकमतनिष्कर्षस्तार्किकचेतसः प्रीतिकर एवेति ध्येयम् । अपरे इति बौद्धादयः, तेऽपि हेतुवादप्रविष्टा इव मन्तव्याः । प्रमाणस्यापि सतः प्रत्यक्षस्य तैरनुमानैकप्राणत्वाभ्युपगमात्, यत्रैव जनयेदित्यादिन्यायेनानुमाननिश्चित एवार्थे तत्प्रामाण्यव्यवस्थितेरिति मन्तव्यम् ॥ ७६ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमोपि मा भूत्, विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासंभवात्, स्याद्वादन्यायविद्विषां कथंचित्तदनभ्युपगमात् । तदवाच्यत्वेपि पूर्ववत् स्ववचनविरोधप्रसङ्गः ॥७॥ सम्प्रति युक्तीतरानेकान्तमुपदर्शयन्ति ।

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् । आप्ते वक्तरि तद्वाक्या–त्साध्यमागमसाधितम् ॥७८॥

कः पुनराप्तोऽनाप्तश्च ? यस्मिन् सति वाक्यात्साधितं साध्यमर्थतत्त्वमागमात् साधितं स्याद्धेतोस्तु यत्साध्यं तद्धेतुसाधितमिति विभागः सिध्यतीति चेदुच्यते,—यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोऽपरोऽनाप्तः । कः पुनरविसंवादो येनाविसंवादकः स्यात् ? तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् । तदर्थज्ञानं पुनः प्रस्फुटव्यवसायरूपं साक्षादसाक्षाद्वावसीयते, परमार्थतस्तस्य संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदफलत्वात् । तत्राविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यते । अनाप्तस्तु कदाचिदपि विसंवादक उच्यते, यथार्थज्ञानादिगुणस्य विसंवादकत्वायोगात् । तेनातीन्द्रिये जैमिनिरन्यो वा श्रुतिमात्रावलम्बी नैवाप्तस्तदर्थापरिज्ञानात्तथागतवत् । नात्र निदर्शनं साधनधर्मविकलं, तथागतस्य श्रुत्यर्थधर्मापरिज्ञानात् 'बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशो व्यामोहादेव केवलात्' इति स्वयमभिधानात् । न चासिद्धो हेतुर्जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा श्रुत्यर्थपरिज्ञानस्य सर्वथाप्यसंभवात् । तद्धि प्रत्यक्षं वा श्रौतं वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षं, तस्यासर्वज्ञत्वात् श्रुतिमात्रावलम्बितत्वाच्च । न हि तादृशोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति दोषावरणक्षयातिशयाभावात् । न हि प्रतिनियतदोषावरणक्षयमात्रे सत्यपि धर्माधर्मादिसाक्षात्करणं युक्तं, तस्य तत्परिक्षयातिशयहेतुकत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । नापि श्रौतं तदर्थपरिज्ञानं, श्रुत्यविसंवादात्पूर्वमसिद्धेः । श्रुतेः परमार्थवित्त्वं, ततः श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योन्यसंश्रितम् । न ह्यप्रसिद्धसंवादायाः श्रुतेः परमार्थपरिज्ञानं जैमिन्यादेः संभवति, अतिप्रसङ्गात् । नापि परमार्थवित्त्वमन्तरेण तत्त्वप्रतिपादनलक्षणमविसंवादनं, यतोऽन्योन्याश्रयणं न स्यात् । ननु न श्रुतेरविसंवादात्प्रामाण्यम् । किं तर्हि ? स्वत एव । ततो न दोष इति चेत्, स्वतः श्रुतेर्नैव प्रामाण्यमचेतनत्वाद् घटवत् । सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तं, तत्प्रामाण्यानभ्युपगमान्मुख्यरूपतः । अथापि कथंचित् तत्प्रमाणत्वं स्यादविसंवादकत्वात् । सन्निकर्षादेरविसंवादकज्ञानकारणत्वेन तथोपचारसिद्धिरिति मन्येमहि । तथापि श्रुतेरयुक्तमेव, तदभावात् । तेनोपचारमात्रमपि न स्यात्, तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः ।

न हि श्रुतिरविसंवादिज्ञानस्य कारणं येनोपचारतः प्रमाणं स्यादिति निवेदितं प्राग्–भावनादिश्रुतिविषयाविसंवादकत्वनिराकृतिप्रस्तावे । आप्तवचनं तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, तत्कारणकार्यत्वात् । प्रमाणकारणकं हि तत्, तदतीन्द्रियार्थदर्शनोत्पत्तेस्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च प्रमाणकार्यकम । नैतत् श्रुतेः संभवति, सर्वथाप्यनुक्तेः पिटकत्रयवत । वक्तृदोषात्तादृशोऽप्रामाण्यं तदभावाच्छ्रुतेः प्रामाण्यमिति चेत्, कुतोऽयं विभागः सिध्येत ? पिटकत्रयादेः पौरुषेयत्वस्य स्वयं सौगतादिभिरभ्युपगमाद्वेदवादिभिश्च श्रुतेरपौरुषेयत्वोपगमादिति चेत्, सोयमभ्युपगमानभ्युपगमाभ्यां क्वचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम । एतेन कर्तृस्मरणाभावादयः प्रत्युक्ताः । स हि श्रुतौ कर्तृस्मरणादिमत्त्ववदृष्टकर्तृकसमानत्वाद्यभावमभ्युपगममात्राद्व्यवस्थापयति तद्भावं चेतरत्रानभ्युपगमात् । न च तथा तत्त्वं व्यवतिष्ठते, वेदेतरयोरविशेषात । इतरत्र बुद्धो वक्तेति चेत, तत्र कमलोद्भवादिरिति कथं न समानम ? यथैव हि पिटकत्रये बुद्धो वक्तेति सौगताः प्रतिपाद्यन्ते तथा वेदेपि ते अष्टकान काणादाः, पौराणिकाः कमलोद्भवं, जैनाः कालासुरं वक्तारमनुमन्यन्ते । सुदूरमपि गत्त्वा तदङ्गीकरणेतरमात्रे व्यवतिष्ठन श्रुतिवादी, प्रमाणबलात्तदवक्तृकत्वस्य साधयितुमशक्तेः । स्यान्मतं " यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम । वेदाध्ययनवाच्यत्वा–दधुनाध्ययनं यथा ॥१॥ इति प्रमाणाद्वेदे वक्तुरभावो, न पुनरभ्युपगममात्रात् " इति तदयुक्तं, पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्रं वक्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात । वेदविशेषणस्याध्ययनवाच्यत्वस्यान्यत्राभावान्नानैकान्तिकतेति चेत, तर्हि पिटकत्रयादिविशेषणस्य वेदादावसंभवादव्यभिचारिता कथं न भवेत ? तथा च वेदवदवेदस्याप्यपौरुषेयत्वं प्रामाण्यनिबन्धनं याज्ञिकानां प्रवर्तकं स्यान्न वा वेदेपि, विशेषाभावात, दुर्भणनदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्यानां तदतिशयान्तराणां च शक्यक्रियत्वादितरत्रापि, परोक्षाया

मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात्। न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते, न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं, प्रमाणबाधनात्। वैदिका एव मन्त्राः परत्रोपयुक्ताः शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावचनिका एव वेदेपि प्रयुक्ता इत्युपपन्नेस्तत्र भूयसामुपलम्भात् समुद्राद्याकरेषु रत्नवत्। न हि कियन्त्यपि रत्नानि राजकुलादावुपलभ्यमानानि तत्रत्यान्येव, तेषां रत्नाकरादिभ्य एवानयनात् तद्भवत्वसिद्धेर्भूयसां तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। तद्वत्प्रवचनैकदेशविद्यानुवादादेव सकलमन्त्राणां समुद्धृतिविस्तीर्णात्, न पुनर्वेदात्तल्लवमात्रादिति युक्तमुत्पश्यामः। वेदस्यानादित्वादपौरुषेयत्वाच्च तन्मन्त्राणामेवाविसंवादकत्वं संभवतीति चायुक्तं, तदप्रसिद्धेः। सिद्धेपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसंवादकत्वं प्रत्येतव्यम् ? म्लेच्छव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात् तेन तस्य व्यभिचारात्। एतेन वेदैकदेशेन स्वयमप्रमाणतयोपगतेनानादित्वस्यापौरुषेयत्वस्य चानैकान्तिकत्वमुक्तम्। किं च कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य दोषनिवृत्तिः कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात् 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादिना समाधनात्, न पुनरपौरुषेयस्य, तदध्येतृव्याख्यातृश्रोतॄणां रागादिमत्त्वाद्वीतरागस्य कस्यचिदनभ्युपगमात्, सर्वथाप्यपौरुषेयस्य तदुपगमेन विरोधात्। नेतरस्य, कथंचित्पौरुषेयस्य तदविरोधात्। इति निश्शङ्कं नश्चेतः, त्रिविप्रकृष्टस्यापि निर्णयोपायप्रतिपादनादिति। वक्तृगुणापेक्षं वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानवत्, विसंवादस्य तद्दोषानुविधानात्। यथैव हि चक्षुर्ज्ञानस्य ज्ञातृगुणं सम्यग्दर्शनादिकमपेक्ष्याविसंवादकत्वं, तद्दोषं मिथ्यादर्शनादिकमपेक्ष्य विसंवादकत्वं चोपपद्यते, तथा वक्तुर्गुणं यथार्थज्ञानादि दोषं च मिथ्याज्ञानादिकमपेक्ष्य संवादकत्वं विसंवादकत्वं चेति निश्चितं महाशास्त्रे। ततोऽनाप्तवचनान्नार्थज्ञानमन्धरूपदर्शनवत्। न हि जात्यन्धो रूपं दर्शयितुमीशः परस्मै। तथानाप्तोपि नार्थं ज्ञापयितुमतिप्रसङ्गात्। एवमपौरुषेयस्य वचनस्य पौरुषेयस्य च गुणवद्वक्तृकस्य कारणदोषाभावान्निर्दोषत्वं समानमतिशयासंभवात्। तत्र यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रति-

पत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं कथंचित्पौरुषेयत्वं, न तु सर्वथाऽपौरुषेयत्वं, तस्य युक्तियुक्तत्वाभावात् तद्युक्तीनां तदाभासत्वसमर्थनात् । तत्रापौरुषेयत्वेपि वा वेदे यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं वचनमग्निर्हिमस्य भेषजं द्वादश मासाः संवत्सर इत्यादिवत् । नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनं, तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधात् । सिद्धं पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथाज्ञावादोपि प्रमाणं, तदाप्तवचनत्वाविरोधात्। ननु चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थं, तस्यैव ज्ञातुमशक्तेः, सरागस्यापि वीतरागवच्चेष्टोपलम्भादयमाप्त इति प्रतिपत्त्युपायासत्त्वात् । तस्य शासनमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेरित्यपरे । उक्तमत्र सर्वथैकान्तवादानां स्याद्वादप्रतिहतत्वादिति । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्विनिर्दोषोयमिति शक्यं निर्णेतुं, दोषवानयमिति च, दृष्टेष्टविरोधवचनत्वात् । तत्रानिश्चितवचनविशेषस्य कस्यचिद्वीतरागत्वेतराभ्यां संदेहेपि निश्चितवचनविशेषस्य शक्यमाप्तत्वं व्यवस्थापयितुम् । तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुणः ‘ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा ’ इत्यादिना साधितः । संप्रदायाविच्छेदो वा । सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात् सर्वज्ञ इति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धः प्रवचनार्थस्य, अन्यथान्धपरम्परया प्रतिपत्तेः। न ह्यन्धेनाकृष्यमाणोन्धः स्वेष्टं मार्गमास्कन्दति नाम । न चैवं संप्रदायाविच्छेदे परस्पराश्रयणं, कारकपक्षे बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तस्यानवतारात् । ज्ञापकपक्षेपि परस्मात् स्वतःसिद्धात्, पूर्वस्य ज्ञप्तेर्नेतरेतराश्रयणं, प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य साधनात्। तदेवं स्यात्सर्वं हेतुतः सिद्धं करणाप्तवचनानपेक्षणात् , स्यादागमात्सिद्धमक्षलिङ्गानपेक्षणात् । स्यादुभयतः सिद्धं, क्रमार्पितद्वयात् । स्यादवक्तव्यं, सहार्पितद्वयात् । शेषभङ्गत्रयं च पूर्ववत् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजनीया ॥७८॥

नैकान्ताद्धेतुवादः प्रभवति सकलं तत्त्वमुन्नेतुमेक—स्तद्वन्नाहेतुवादः प्रवद(भव)ति विहिताशेषशङ्काकलापः ।
इत्यार्याचार्यवर्या विदधति निपुणं स्वामिनस्तत्त्वसिद्ध्यै स्याद्वादोत्तुङ्गसौधे स्थितिममलधियां प्रस्फुटोपायतत्त्वे ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ षष्ठः परिच्छेदः ।

वक्तर्यनाप्ते इति. वक्तर्यनाप्ते आप्तत्वेनानिश्चिते, साध्यं तदनाप्तत्वग्रहाभावकालीनतद्वाक्यजन्यबोधविषयः, यद्धेतोः प्रामाण्यनिश्चयहेतोः, सिद्ध्यतीति शेषः, निवृत्तप्रामाण्यसंशयाधीनसंशयकं भवतीत्यर्थः, तद्धेतुसाधितमुच्यते. आप्ते आप्तत्वेन निश्चिते वक्तरि, तद्वाक्यात्तद्वाक्यजन्यज्ञानविषयः, साध्यमुद्देश्यसिद्धिकमर्थजातं, स्वत एव निवृत्तसंशयत्वादागमसाधितमुच्यते, आप्तत्वानाप्तत्वग्रहश्च रागद्वेषमोहादिस्वदोषाभावतत्सद्भावाभ्यामन्येन वा सुपरीक्षितेन लिङ्गेनेति ज्ञेयम् । वस्तुतः सर्वत्र यथार्थवक्तृजातीयत्वमेवाप्तत्वग्राहकम्, अत एव " कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठिअस्स संजमतवड्ढगस्स ऊ अविगप्पेणं तहक्कारोत्ति' निर्युक्तिगाथया कल्प्याकल्प्यपरिनिष्ठितत्वादिगुणकस्य वक्तृवचनेऽविकल्पेन तथाकारविधाने तदितरवचने विकल्पप्राप्तावपि संविग्नपाक्षिकवचने एकान्तेन एव तथाकारः प्रामाण्याभ्युपगमरूपो विधेयः, तदितरयथोक्तगुणाभाववद्वक्तृवचने तु यथा हेतुवादं भजनयेति व्यवस्थितविकल्पो व्याख्यातस्तान्त्रिकैः, अभ्यधिष्महि चैतत् संवादिस्सामाचारीप्रकरणे "इयरंमि विगप्पेणं सो य विगप्पो ववत्थिओ एसो। संविग्गे गीयम्मि य तहेव अण्णत्थ जुत्तिपन्ने ॥२॥" त्ति, शक्यक्रियत्वादितरत्रापीति, पिटकत्रयेऽपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः' विश्वानुवादादेव विद्याप्रवादपूर्वोद्धृतशास्त्रादेव, 'एतेनेति' मीमांसकस्य कार्येऽर्थ एव चोदनायाः प्रामाण्यादर्थवादरूपमन्त्रकदेशेऽविसंवादकत्वायोगादनैकान्तिकत्वं स्फुटमेवेति भावः । न पुनरपौरुषेयस्येति, अपौरुषेयस्य पुनः संसाधनाभावादित्यन्वयो व्युत्पत्तिविशेषात्. ईदृशि स्थले प्रकृत्यर्थान्वितनञर्थविभक्त्यर्थयोरन्वयस्वीकारात्, एवमग्रेऽप्युपयुज्य योज्यम् । अत एव न्यायचतुर्थाध्याये "नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" इति सूत्रेऽनुपमृद्य प्रादु-

र्भावाभावादित्यर्थः, " तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः " इति सूत्रे च तेषां रागद्वेषमोहानां रागमोहयोर्द्वेषमोहयोर्वा मध्ये मोहः पापीयान् बलवद्द्वेषविषयोऽमूढस्य रागद्वेषानुत्पत्तेरित्यर्थो व्याख्यात इति बोध्यम् । तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधादिति ' न हिंस्यात् सर्वाभूतानीत्यादिसामान्यश्रुत्युपबृंहकतर्कविरोधादित्यर्थः । स्यात् सर्वं हेतुतः सिद्धमित्यादि, ननु कथमेतत् कात्स्न्र्येन हेतुसिद्धत्वाद्यभिधानं घटते, हेतुसिद्धागमसिद्धानामर्थानामवान्तरविभागेनैव व्यवस्थितत्वात्, तदाह सम्मतिकारः–" दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ अ हेउवाओ अ, तत्थ उ अहेउवाओ भविया भविआदओ भावा ॥ १ ॥ " अस्या अर्थः–धर्माणामस्तित्वादीनामासमन्ताद्वादस्तत्प्रतिपादक आगमोऽहेतुवादो हेतुवादश्चेति द्विधा, तत्र प्रमाणान्तरानवगतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादो, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, तत्र त्वहेतुवादो भव्याभव्यत्वादयो भावाः, विषयाध्यवसानेन विषय्यभिधानमेतत् भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । नह्ययं भव्योऽभव्यो वेत्यत्रास्मदादीनां प्रमाणं प्रवर्त्तते, न च तद्विभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचनत्वादित्यनुमानप्रवृत्तेर्व्याघातः, वचनविभागावच्छेदकत्वेन तत्प्रवृत्तावपि स्वातन्त्र्येण तदप्रवृत्तेः, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, अन्ये च हेतुवादसिद्धा इति, व्याप्त्या प्रकृतसप्तभङ्गी न युक्तेति चेत्, सैवं, स्याच्छब्दमर्यादयैव सर्वानुपपत्तिनिरासात्, अहेतुवादसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्म्मिणि तत्प्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादत्वव्यवस्थितेः, तदुक्तं " सम्मतावेव–भविओ सम्मदंसण नाणचरित्तपडिवत्तिसंपुन्नो । णियमा पुक्खंतकडोत्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥१॥ " प्रयोगश्चायम् भव्योऽयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिसम्पूर्णत्वात् सम्प्रतिपन्नपुरुषवदिति, किं बहुना ? अहेतुवादसिद्धेऽप्यर्थे ततोऽनेकान्तात्मकत्वसाधिका निराकाङ्क्ष-

तात्पर्यार्थप्रतिपत्तिपर्यन्ताश्च या उपपत्तयस्ता हेतुवादसिद्धत्वमुपपादयन्ति, श्रुतमात्रेण ज्ञातस्याज्ञातप्रायत्वात्, ताश्चोपपत्तयः श्रुतोपयोगानन्यत्वान्न श्रुतत्वव्याहन्त्र्य इत्याद्युपपादितं ' ज्ञानबिन्दौ ' वस्माभिः । अत एव पदार्थप्रतिपत्त्यागमान् निश्चितमप्यर्थं सिसाधयिषाधीनपक्षतयाऽनुमिन्वतेऽनुमानरसिकाः, मननसाध्यश्रद्धाविशेषस्येत्थमेवोपपत्तेः, अत एव नियमतः षट्कायश्रद्धानेऽपि जिनवचनरुचिमत्त्वाद्द्रव्यतः सम्यग्दृष्टित्वं, नतु भावतो, भावसम्यग्दर्शनस्य सकलनयविषयविवेचनसाध्यत्वादेकविधद्विविधादिपर्यायापरिच्छेदे तदनुपपत्तेरिति वदन्ति, तदाह सम्मतौ महावादी णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ ण सद्दहइ । हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ १ ॥ " अस्या अर्थः—नियमेन षडेवेत्यवधारणेन षट्कायान् श्रद्दधदपि भावतो न श्रद्धत्ते, प्रकृतधर्मघटितसप्तभङ्गपर्याप्तप्रकारताकबोधादिजनितसमूहालम्बनरुचेरेव प्रकृतधर्मभावश्रद्धापदार्थत्वात्, तदाह अपर्यायेषु भङ्गान्तरसंवलनरहितेषु धर्मेषु, अपेर्भिन्नक्रमत्वात् श्रद्धाऽप्यविभक्ताऽसम्पूर्णा भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति यावत् । अयमस्माकं मनीषोन्मेषः । अन्ये त्वेवमुत्तरार्द्धं व्याचक्षते, हन्दि यतोऽपर्यायेष्वविवक्षितपर्यायेषु पुद्गलेष्वपि श्रद्धाऽविभक्ता एकरूपा भवतीति, तथा च पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यां जीवपुद्गलयोः सामान्यत एकरूपत्वोपदर्शनात्तदुभयघटितनिकायषट्कैकान्तबाधात्तच्छ्रद्धानस्य द्रव्यसम्यक्त्वरूपत्वमेव जिनवचनाभिनिवेशदशायां, स्वाभिनिवेशदशायां तु शुद्धात्मस्वरूपबाधनेन तन्मात्रविश्रान्तान्तरङ्गरत्नत्रयबाधनान्मिथ्यात्वरूपत्वमेवेति तदभिप्रायमप्यविरुद्धमेवाकलयामः । तदेवं विस्ताराज्ञारुचिभेदेन हेतुवादाहेतुवादयोर्व्यापकत्वं व्यवस्थितम्, आहरणतद्देशतद्दोषोपन्यासादिहेतुविस्तरस्तु मत्कृतोपदेशामृततरङ्गिणीतो बोध्यः, यथा तद्व्यापकत्वे निःशङ्कं चेतः स्यादित्युपरम्यते । व्यवहारतस्तु हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद

उच्यते, तदपेक्षयाऽयं प्रज्ञापकविभागः सम्मतिसिद्धः—“जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ । सो ससमयपहावओ सिद्धंतविराहगो अण्णोत्ति ॥१॥” अन्यस्य विराधकत्वं च प्रतिपादकवचस्यनाश्वासादिदोषोत्पादनादिति बोध्यम् ॥७८॥

“ हेत्वागमान्यतरपक्षविपक्षभावाद् यः प्रग्रथ्यते निबिडमाशु कुयुक्तिजालम् ॥
तच्छेदनाय पटिमानसमो बिभर्त्ति स्याद्वादपद्धतिरनेककुयुक्तिजालम् ॥ १ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीविवरणे महातर्के षष्ठःपरिच्छेदः ॥

अथ सप्तमः परिच्छेदः ।

निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन । गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात् ॥ १ ॥

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् । प्रमाणाभासमेवात—स्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥ ७९ ॥

अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता वस्तुता, न बहिरङ्गस्य जडस्य प्रतिभासमानस्येत्येकान्तोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं हेतुवादाहेतुवादनिबन्धनमुपायतत्त्वं मृषैव स्यात् । यतश्च मृषा स्यादत एव प्रमाणाभासमेव, प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्, मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य व्याप्तेः । तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं संभवेत् ? तदसंभवे तद्व्यवहारमवास्तवमेवायं स्वप्नव्यवहारमिव संवृत्यापि कथं प्रतिपद्यते ? तज्जन्मकार्यप्रभवादिवेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्य संवित्तिरेव खण्डशः

प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते इत्यभिनिवेशेऽपि प्रमाणं मृग्यम् । न हि प्रमाणाभावे तज्जन्मतादूप्यतदध्यवसायान् प्रत्येकं वेद्य-वेदकलक्षणं चक्षुषा समानार्थसमनन्तरवेदनेन शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन च व्यभिचारयितुमीशः, सह वा समानार्थसमनन्तर-ज्ञानेन कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन वा सौत्रान्तिकान्प्रति व्यभिचारि प्रतिदर्शयेत् । कथं वा कार्य-निमित्तकारणत्वं तल्लक्षणं यौगान्प्रत्यनैकान्तिकं व्यवस्थापयेत् ? कथं च कार्यकारणभावाख्यं प्रभवं कांश्चन प्रति योग्यतां वा तल्लक्षण-तया व्यभिचारयेत् ? कथं च संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना वेद्यवेदकादिव्यवहाराय प्रकल्पते इत्यभिनिवेशं वा विदधीत ? यतो न प्रमाणं मृगयते । किञ्चास्य विज्ञानवादिनः संविदां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वमिति स्वतस्तावन्न सिध्यति, भ्रान्तेः स्वप्नवत् । स्वसंवेदनात्स्वतः सिध्यतीति चेत् , न, क्षणिकत्वेनानन्यवेद्यत्वेन नानासंतानत्वेन च नित्यत्वेन सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेनेव परब्रह्मणः स्वसंवेदनाभावात् । तथात्मसंवेदनेपि व्यवसायवैकल्ये प्रमाणान्तरापेक्षयानुपलम्भकल्पत्वात् , तस्य प्रमाणान्तरानपेक्षस्यैव व्यवसा-यात्मनः संवेदनस्योपलम्भत्वव्यवस्थितेः, व्यवसायाभावे तु बुद्धीनामभ्यासादपि तथानुपलम्भात् । न हि तथा बुद्धयः सविद्रते यथा व्यावर्ण्यन्ते, क्षणिकत्वाद्यात्मनान्यथैव तासां प्रतिभासनाभ्यासमसिद्धेः । नापि परतः क्षणिकत्वादि सिध्यति, संबन्धप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि सत्त्वादेर्लिङ्गस्य क्षणिकत्वादिना व्याप्त्या संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतो युज्यते, तस्य सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च । नाप्य-नुमानादनवस्थानादिति प्रागेव प्ररूपणात् । स्वांशमात्रावलम्बिना मिथ्याविकल्पेन प्रकृततत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेष्वप्यविरोधात् क्षणि-कत्वादिव्यवस्थापनमस्तु सौत्रान्तिकादीनाम् , अविशेषात् । तथा हि । कथंचिदत्र वेद्यलक्षणं यदि व्यवतिष्ठेत तदा तत्प्रकृतं संविदां क्षणिकत्वादिसाधनं लैङ्गिकज्ञानेन कृतं स्यान्नान्यथा । न चानुक्तदोषं लक्षणमस्ति, वेद्यस्य विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्व-

दोषवचनात् । संवित् क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य तत्संभवे नान्यत्र बहिरर्थे तदसंभवोभिधेयः, सर्वथा विशेषाभावात् । तत्स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेषविभ्रमासिद्धेः । ननु किंचित्संविदद्वैतं कथंचित्संविदात्मना कुतश्चित्स्वतः सत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनादिति चेत्, न, स्वरूपेपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदघटनात् पुरुषाद्वैतवत् । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहितं वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोरभ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ साध्यसाधनविज्ञप्तेरसंभवात्तद्व्याप्तिविज्ञप्तिवत्, संभवे सर्वविभ्रमासिद्धेः ॥ ७९ ॥

सारङ्गारङ्गभाजो हरिषु करियुता भोगिनस्तार्क्ष्यमध्ये नाखुर्मार्जारमुग्रं गणयति न च गौर्व्याघ्रबालं करालम्।
देवा हेवाकभाजोऽसुरनतिमिलने यत्प्रभावात्सभाग्यां स श्रीपार्श्वः प्रसन्नो भवतु मयि कृपाकोमलैर्दृग्विलासैः॥

सप्तमेऽन्तरङ्गबहिरङ्गार्थैकान्तनिरासाय प्रक्रमः । 'तज्जन्मेति' तज्जन्मपक्षेऽर्थो वेद्यः, तज्जन्यं तद्ग्राहकमर्थज्ञानं वेदकं, ताद्रूप्यपक्षे ज्ञानगतो नीलाद्याकारो वेद्यः, नीलाकारं ज्ञानं वेदकं, तदध्यवसायपक्षे दृश्यविकल्प्यैकीकरणादध्यवसेयं वेद्यम्, अध्यवसायो वेदकः, चक्षुषेत्यादिना तज्जन्मादेरेकैकस्य क्रमशो व्यभिचारस्थानत्रयप्रदर्शनम्, प्रमाणाभावाच्च तदनीशत्वापादनं कृतं विज्ञानवादिनः, सह वेत्यनेन च समुदितत्रयस्य व्यभिचारप्रदर्शनपूर्वमुक्तहेतोरेव तदनीशत्वं बोध्यत इति विवेकः । कांश्चन प्रति योग्यतामिति जैनापेक्षया, क्षणिकत्वेनेत्यादि, स्वरूपमात्रसंवेदने स्वसंवेदनसामर्थ्येऽपि क्षणिकत्वादिधर्मप्रकारकप्रतिपत्तावसामर्थ्यादित्यर्थः । नन्वक्षणिकादिव्यावृत्तिरेव क्षणिकत्वादिकं, तच्च धर्मिरूपं स्वत एव

भोत्स्यते बाधकाभावादित्याशङ्कायामाह—तथात्मसंवेदनेपीत्यादिना, प्रमाणान्तरापेक्षयेति, यत्रैव जनयेदेनामित्याद्युक्तेरिति भावः। तस्योपजीव्यस्य, सविकल्पकज्ञानरूपप्रमाणान्तरस्य स्वतोऽव्यवसायस्यापि दर्शनस्याभ्यासादेर्निश्चायकता भविष्यतीत्याशङ्कायामाह 'व्यवसायाभावे त्विति' तथा च सविकल्पकज्ञानरूपाभ्याससहकृतदर्शनस्य निश्चायकत्वं सहकृतेत्यादेर्व्यर्थत्वात्, अन्यथा तादृशाकाशादेरपि तथात्वप्रसङ्गादिति भावः। तर्हि सामिधत् क्षणिकत्वादिसंविदां स्वतः, परत एव सेत्स्यतीत्याशङ्कायामाह- नापि परत इत्यादि, भाष्ये स्वांशेति, स्वांशो दृश्यविकल्प्यैकत्वाभिप्रायेण प्रातीतिकसम्बन्धेन प्रकृततत्त्वघटकः सामान्याकारः, नान्यथेति दृष्टान्ताभावादिति भावः। तत्सम्भव इति वेद्यसम्भव इत्यर्थः। नान्यत्रेति सर्वं भ्रान्तं ग्राह्यग्राहकाकारक्रोडीकृतत्वादित्यस्य संवित्क्षणिकत्वानुमानेनैवानैकान्तिकत्वादित्यर्थः ॥ ७९ ॥

साध्यसाधनविज्ञप्ते—र्यदि विज्ञप्तिमात्रता। न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥

प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य विज्ञप्तिमात्रमभिलपतः प्रसज्यते। तथा हि। सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोर्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपेत्यैकत्वैकान्तं साधयन् कथमवधेयाभिलापः? स्वोक्तधर्मधर्मिभेदवचनस्य हेतुदृष्टान्तभेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन विरोधात्, संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेदवचनेन व्याघातात्, तद्वचनज्ञानयोश्च भेदे तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तदभिलापे वा तद्भेदविरोधात्। इति स्ववचनयोर्विरोधाद्बिभ्यत् स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्शयन्कथं स्वस्थः? सदा मौनव्रतिकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव स्वीकरणात्। तथा विज्ञानवादिनोऽप्रसिद्धविशेष्यत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च प्रतिज्ञादोषः स्यात्, नीलतद्धियोर्विशेष्ययोस्तदभेदस्य च विशेषणस्य स्वयमनिष्टेः। पराभ्युपगमेन प्रसङ्गसाधनस्योपन्यासा-

ददोष इति चेत्, न, तस्य परासिद्धेस्तदभ्युपगमाप्रसिद्धेश्च प्रसङ्गसाधनासंभवात्। साधनसाध्यधर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि सत्यां परस्य व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। न चैतद्विज्ञप्तिमात्रवादिनः संभवति, विरोधात्। ननु 'स्याद्वादिनोपि तद्दोषोद्भावनमयुक्तं विज्ञप्तिमात्रवादिनं प्रति, तस्य तदसिद्धेः, विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण दोषस्याप्यभावाद्गुणवत्। स्वाभ्युपगममात्रादेव तत्संभवः, परस्य विज्ञप्तिमात्रसाधनात्पूर्वं यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादिति समाधाने तत एव सौगतस्यापि तदेव समाधानमस्तु, विचारात्पूर्वं सर्वस्याविचारितरमणीयेन रूपेण यथाप्रतीति साध्यसाधनव्यवहारप्रवृत्तेरन्यथा विचाराप्रवृत्तेः। सिद्धे तु विज्ञप्तिमात्रे न कश्चित्साध्यसाधनव्यवहारं प्रतनोति सौगतो, नापि परेषां तद्दोषोद्भावनेऽवकाशोस्ति' इति केचित्, तेपि न विचारचतुरचेतसः, किंचिन्निर्णीतमाश्रित्यान्यत्रानिर्णीतरूपे तदविनाभाविनि विचारस्य प्रवृत्तेः, सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतरणात्। इति विचारात्पूर्वमपि विचारान्तरेण निर्णीते एव साध्यसाधनव्यवहारस्तद्गुणदोषस्वभावश्च निश्चीयते। न चैवमनवस्था, संसारस्यानादित्वात् कस्यचित्कस्यचित्कदाचिदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्विचारान्तरानपेक्षणात्। ततो युक्तमेव स्याद्वादिनः प्रतिज्ञादोषोद्भावनं हेतुदोषोद्भावनं च। तथा हि। अयं पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधयेन्नीलतद्धियोः। तच्चासिद्धं, संबन्धासिद्धेरभावयोः खरशृङ्गवत्। सिद्धे हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे संबन्धे कारणाभावात्कार्यस्याभावः सिध्यति। सति च शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावे व्यापकाभावाद्व्याप्याभावो, नान्यथा। न चैवं भेदपृथगुपलम्भयोः संबन्धः क्वचित्सिद्धो, विरोधाद्विज्ञप्तिमात्रवादिनो यतः पृथगुपलम्भाभावो भेदाभावं साधयेत् इति न निश्चितो हेतुः। एतेनासहानुपलम्भादभेदसाधनं प्रत्युक्तं, भावाभावयोः संबन्धासिद्धेरविशेषात्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात्, तदन्यव्यावृत्तेरर्थास्वभावत्वादेकत्वेन भावस्वभावेन सह तदयोगात्। सिद्धेपि प्रतिषेधैकान्ते

विज्ञप्तिमात्रं न सिध्येत्, तदसाधनात। तत्सिद्धौ तदाश्रयं दूषणमनुषज्येत ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिलक्षणं तद्वद्बहिरर्थसिद्धिप्रसञ्जनं चाविशेषात्। तदेकोपलम्भनियमोप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात। साध्यं हि नीलतद्धियोरेकत्वम। तदेकोपलम्भोपि तदेव, ज्ञानस्यैकस्योपलम्भादिति हेत्वर्थव्याख्यानात, सहशब्दस्यैकपर्यायत्वात सहोदरो भ्रातेत्यादिवत। तथैकज्ञानग्राह्यत्वं द्रव्यपर्यायपरमाणुभिरनैकान्तिकम्। द्रव्यपर्यायौ हि जैनानामेकमतिज्ञानग्राह्यौ, न च सर्वथैकत्वं प्रतिपद्यते। सौत्रान्तिकस्य च संचिता रूपादिपरमाणवश्चक्षुरादिज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, 'संचितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः' इति वचनात। न चैक्यं प्रतिपद्यन्ते। तथा योगाचारस्यापि सकलविज्ञानपरमाणवः सुगतज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, न चैकत्वभाजः। इति तैरनैकान्तिकं साधनमनुषज्यते। नीलतद्धियोरैक्यमनन्यवेद्यत्वात स्वसंवेदनवदित्यत्रापि परेषामनन्यवेद्यत्वमसिद्धं, नीलज्ञानादन्यस्य नीलस्य वेद्यत्वात। एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चित्रज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धमुक्तं, नीलतद्वेदनयोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेरन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः। यदि पुनरेकदोपलम्भः सहोपलम्भ इति व्याख्यायते तदा एकक्षणवर्तिसंवित्तीनां साकल्येन सहोपलम्भनियमाद्व्यभिचारी हेतुः, तासां तथोत्पत्तेरेव संवेदनत्वात संविदितानामेवोत्पत्तेः। द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः, तथोपलम्भाभेदयोरर्थे प्रतिनियमाद्भ्रान्तौ तदसंभवात, संभवे तद्भ्रान्तित्वविरोधात। ननु चासहानुपलम्भमात्राऽभेदमात्रं साधनात्साध्यरूपं भ्रान्तादपि संभवति, अभावेऽभावयोः संभवाविरोधात। ततो न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्त इति न शक्यप्रतिषं, कथंचिदर्थस्वभावानवबोधप्रसङ्गात सर्वविज्ञानस्वलक्षणसाक्षात्कृतविवेकगन्तनिविभ्रमस्वभावानुमितेः साकल्येनैकत्व ज्ञान तदन्यापोहमात्राद्धेतोरन्यापोहमात्रस्यैव सिद्धेरर्थस्वभावानवबोधात्। किं च सकृदुपलम्भनियमे हेत्वर्थे सति एकार्थसंगादष्टः पर्यनिर्वावितो वा तावद्यं तदनुद्धि तदर्थं वा संविद-

न्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः। किञ्च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात्। किं विप्रतिषिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात्। इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रतां साधयेत। तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च निग्रहार्हत्वात्। न ह्यस्य वचनं किंचित्साधयति दूषयति वा, यतस्तद्वचनं साधनाङ्गं दोषोद्भावनं वा स्यात्। नापि किंचित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत्। संविदद्वैतमस्तीति चेत्, न, तस्य स्वतः परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं मिथ्यात्वसिद्धेः। तदेवं नान्तरङ्गार्थैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम् ॥ ८० ॥

स्वाभिलाप्य(पा)भावं स्वेन ज्ञानेनैवाभिलाप्यभावम्, स्ववचनविरोधस्यैवेति अभिलापेऽभिलाप्यत्वस्यानभिलापे ज्ञानेऽभिलापात्मत्वस्य चोक्तौ विरोधस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः। **स्वयमनिष्टेरिति**, अन्यथा साकारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः, **विचारात्पूर्वमपीति**, न च विज्ञप्तिवादिनस्तत्त्वज्ञानात्पूर्वमविद्याविलासजनितेन विचारान्तरेण साध्यसाधनभावव्यवस्थितेरनवस्थायाश्चानादित्वेन निरासासम्भवानुपपत्तिरिति वाच्यम्। असत्ख्यातेरनिर्वचनीयख्यातेश्च निरासेनाविद्याजनितविचारेण व्यवहारव्यवस्थायाः कर्त्तुमशक्यत्वात्, न च नानाविधविप्रतिषिद्धव्यवहाराणामन्यतरविधिनिषेधयोरविद्या प्रगल्भते, न च सर्वेषामेव तेषां तत्त्वदिक्प्रदर्शकत्वेनादुष्टत्वम् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत इति' वचनादिति वाच्यम्, सर्वपक्षपरिग्रहापत्त्या तत्त्वसङ्करापत्तेः, पिटकत्रयप्रदर्शिता एव विचारा अदुष्टा न वेदान्तादिप्रदर्शिता इत्यत्र च न किञ्चिन्मानमस्तीति विचारितं बहुशः। एतेन भेदाभावसिद्धिनिराकरणेन, अभेदसाधनं विधिरूपाभेदसाधन, सश्चितालम्बना इति सश्चितमा-

लम्बनं विषयो येषां ते तथा, पञ्चविज्ञानकायाः पञ्चेन्द्रियविज्ञानस्कन्धाः, परेषां बाह्यार्थवादिनाम्। नन्वेकक्षणवर्त्तिसंवित्तीनामेकदैवोत्पत्तावपि कथमेकदैवोपलम्भ इत्याशङ्कायामाह–'नामामिति' नामामेकक्षणवृत्तिसंवित्तीनाम्, तथोत्पत्तेरेव सहोत्पत्तेरेव, संवेदनत्वात् संवेदनस्वरूपत्वात्, तथा च सहोत्पत्तिनियम एव स्वरूपतः सहोपलम्भनियमो न च तासु स्वलक्षणैकत्वमिति व्यभिचारः स्पष्ट इत्यर्थः। सम्भव इति एकत्वोपलम्भस्य द्वित्वभ्रमप्रतिबन्धकत्वादिति भावः। अर्थस्वभावानवबोधादिति अन्यापोहमात्रैकत्वसिद्धावपि संविदोऽर्थाकारत्वासिद्धेः, तथा चार्थसंशयस्ततो न निवर्त्तेतेत्यायातमान्ध्यं जगत इति भावः। संवृत्याऽर्थबोधः स्यादित्याशङ्क्याह–किञ्चेत्यादिना, एकार्थसंगतदृष्टय इत्यनेनार्थोपलम्भे तद्विषयपरज्ञानोपलम्भस्य, परचित्तविदो वेत्यनेन च ज्ञानोपलम्भेऽर्थोपलम्भस्य व्यभिचारप्रदर्शनान्नियमखण्डनं कृतं, दृश्यते ह्ययं व्यवहार एनमर्थं जानामि न त्वेतद्विषयां परबुद्धिं, राज्ञश्चित्तं सन्तुष्टं जानामि न तु तद्विषयं सन्तोषकारणमिति सूक्तमेतत्, अप्रयोजकतयाऽपि त्वदुक्तो हेतुः साध्यासाधक इत्याह–किञ्चेत्यादिना, संविदानो वेत्यत्र "वयः शक्तिशील" इति सूत्रविहितः शानप्रत्ययो द्रष्टव्यः, तेन न सकर्मकस्य संपूर्वकविद्धातोरात्मनेपदप्रत्ययस्यानुपपत्तिदोष उद्भावनीयः ॥ ८० ॥

बहिरङ्गार्थतैकान्ते, प्रमाणाभासनिह्नवात्॥ सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्या–द्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥८१॥

यत्किंचिच्चेतस्तत्सर्वं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धम्। यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम्। स्वप्नदर्शनमपि चेतः, तथा विषयाकारनिर्भासात्। साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववद्। विवादापन्नं विज्ञानं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धं, विषयाकारनिर्भासात्। यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम्। तथा स्वप्नदर्शनमपि विषयाकारनिर्भासम्। तत्तथा। इति बहिरङ्गार्थैकान्तः, सर्ववेदनानां बहिर्विषयत्वाभि-

निवेशात्। अत्रापि लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसंबन्धः परमार्थतः प्रसज्येत। न चैवं, तृणाग्रे करिणां शतमित्यादिवचनानां स्वप्नादिबुद्धीनां च स्वार्थे संबन्धाभावात् तथा संवादासिद्धेः। स्यान्मतं 'द्विविधोऽर्थो, लौकिकोऽलौकिकश्च। यत्र लोकस्य परितोषः स लौकिकः सत्यत्वाभिमतज्ञानविषयः। यत्र न लोकस्य परितोषः शास्त्रविदां तु संतोषः सोऽलौकिकोर्थः स्वप्नादिबुद्धिविषयः, सर्वथाप्यविद्यमानस्य प्रतिभासवचनासंभवात् खरविषाणानुत्पन्नप्रध्वस्तविषयशब्दज्ञानानामपि लोकागोचरालौकिकार्थविषयत्वात्' इति तदेतदलौकिकमेव, जाग्रत्प्रत्यया निरालम्बना एव प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति परार्थानुमानप्रत्ययस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वे तेनैव चेतस्त्वस्य विषयाकारनिर्भासस्य च हेतोर्व्यभिचारात्, स्वार्थप्रतिबद्धत्वे च सर्ववेदनानां सालम्बनत्वविरोधात्। अस्यालौकिकार्थालम्बनत्वान्न लौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये हेतोर्व्यभिचारो विरोधो वेति चेत्, न, लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वानुमानेन हेतोर्व्यभिचारविरोधयोस्तदवस्थत्वात्। न चैवंविधार्थानां परस्परविरुद्धानां सकृत्संभव इति न बहिरङ्गार्थैकान्तः श्रेयानऽन्तरङ्गार्थैकान्तवत्॥ ८१ ॥

बहिरङ्गार्थैकान्ता इति, यत्र यो यथा प्रतीयते तत्र स तथाऽस्त्येवेत्येकान्ताभ्युपगमे, **प्रमाणाभासस्य** तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानस्य, **निह्नवात्, सर्वेषां** विरुद्धार्थवादिनां प्रकृतीश्वराद्यभ्युपगन्तॄणामुपचरितवादिनां स्वप्नादिद्रष्टॄणां च वाङ्मात्रेण **कार्यसिद्धिः स्यात्** तद्वचनज्ञानयोरर्थाव्यभिचारित्वादिति भावः। **स्यान्मतमित्यादिना** मीमांसकः शङ्कते; **खरविषाणानुत्पन्नेत्यादि,** खरविषाणादीनां दृश्यानामसत्त्वेऽपि विकल्पानां सतां विकल्पबुद्धौ भानादलौकिकत्वमिति भावः, **एतन्मतं** दूषयति **तदेतदलौकिकमेवेत्यादिना, न चैवंविधार्थानामिति** अलौकिकलौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वसिद्धावुभयार्थालम्बनत्वपर्यवसानेन विरोधग्रामान्न कस्यापि सिद्धिरित्यर्थः॥ अपि चैवं शुक्तावलौकिकरजतप्रतिभासे रजतार्थिनां

प्रवृत्तिर्न स्यात्, न चालौकिके लौकिकत्वज्ञानेन प्रवृत्त्युपपत्तिः, तस्यान्यथाख्यातित्वेन घट्टकुटीप्रभातापत्तेः । किञ्चालौकिकस्यापि रजतस्यासत्त्वेऽसत्ख्यात्यापत्तिः, सत्त्वे च नेदं रजतमिति बाधानुत्पत्तिः, न चालौकिके लौकिकत्वनिषेध एव बाधार्थः, नेदं रजतमित्यादौ रजतलौकिकत्वस्य निषेधप्रतियोगित्वेनाभानात्, सर्वत्र विधौ निषेधे च रजतपदस्य लौकिकरजतपरत्वे गौरवात् । किञ्च लौकिकरजतस्य प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधाद्विपरीतख्यात्यापत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । एतेन मीमांसकवृद्धाभिमताऽलौकिकख्यातिः खण्डिता, एवं ख्यात्यन्तरखण्डनमपि द्रष्टव्यम्, भ्रान्तावन्यथाख्यातिपक्षस्यैव विचारक्षमत्वात्, तत्र तत्र प्राभाकरा विवेकाख्यातिं कल्पयन्ति, तदाहुस्ते, इदं रजतमित्यादिविपरीतप्रत्ययोत्पत्तौ न किमपि कारणं पश्यामः, इन्द्रियस्य शुक्तिशकल एव सन्निकृष्टत्वेन रजतज्ञानाजनकत्वात्, न च दोषवशादसन्निकृष्टस्यापीन्द्रियस्य रजतज्ञानजनकत्वं युक्तं, दुष्टकारणात् स्वकार्यानुत्पत्तावपि विपरीतकार्यानुत्पत्तेः, न हि कमलबीजं तैलकलुषितमपि गोधूमांकुरजननसमर्थं, तस्मादिदं रजतमिति ग्रहणस्मरणरूपं बोधद्वयं सत्यमेव, इदमंशे इन्द्रियसन्निकर्षस्य ग्रहणकारणस्य रजतांशे च साधारणरूपदर्शनोद्बुद्धसंस्कारस्य स्मरणकारणस्य सत्त्वात् । न च तदंशानुल्लेखान्नेदं स्मरणमिति शङ्कनीयं, प्रमुष्टतत्ताकानामपि बहूनां पदपदार्थस्मरणानामुपलम्भात्, अत एव रजतस्य नातीतत्वावभासः । बाधकप्रत्ययश्चेदमन्यद्रजतमन्यदिति विवेकमेव प्रकाशयति, न तु रजतज्ञानस्यासत्यत्वं, स्वप्ने चेदं रजतमित्यादौ स्मरणत्वाग्रह एव विवेकाग्रहः, न त्वनुभवस्मरणयोस्तत्त्वाग्रहः, तदुभयाभावात्, सदृशदर्शनं विनापि तदा स्मृतिः, कारणान्तरात्, आरोपे सतीत्यादिन्यायात्, एवं चन्द्रद्वयवेदने दोषाद् द्विधा कृतया नयनवृत्त्या चन्द्रैकत्वाग्रहणं च, तिक्ता शर्करेत्यादौ च पित्तद्रव्यगततिक्तग्रहशर्कराग्रहयोर्भेदाग्रहाद्विवेकाख्यातिर्व्या-

ख्येया, सर्वत्र सम्यगग्रहणस्यैव तदर्थत्वात्, ये तु विवेकाख्यातिद्विषः शुक्तौ रजतप्रतीतिं स्थापयन्ति, तेषां ज्ञानान्तरेऽपि मिथ्यात्वसम्भावनया सर्वत्रानाश्वासात् प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति। अत्र ब्रूमः—यत्तावदुक्तम् इदं रजतमिति विपरीतप्रत्ययोत्पत्तौ न किञ्चित्कारणं पश्याम इति, तत्र "न ह्ययं स्थाणोरपराधो, यदेनमन्धो न पश्यति" इति न्यायावतारो, दुष्टेन्द्रियादेरेव तद्धेतुत्वात्, स्वाकारसंवरणरजतरूपापत्तिपरिणामविशेषवत्याः शुक्तेरेव चालम्बनत्वात्, न च कार्यसिद्धौ कारणाभावाशङ्का युक्तिमती, तथा च प्रामाणिकाः॥ "कार्यं चेदवगम्येत, किं कारणपरीक्षया॥ कार्यं चेन्नावगम्येत, किं कारणपरीक्षया" ॥१॥ इति यदप्युक्तं दुष्टकारणस्य स्वकार्यानुत्पादकत्वं, न तु विपरीतकार्योत्पादकत्वमिति, तत्रापि नियमं न पश्यामो, दवदहनदग्धवेत्रबीजात् कदलीप्रकाण्डोत्पत्तिदर्शनात्, दवदहनस्य वेत्रांकुरोत्पादने दोषता कदलीप्रकाण्डे त्वनुगुणभाव एवेति चेत्, अत्रापि काचकामलादेः सत्यज्ञानोत्पादने दोषता मिथ्याज्ञानोत्पादने त्वनुगुणभाव एवेति तुल्यं, यदप्युक्तं, इदं रजतमिति ग्रहणस्मरणरूपं ज्ञानद्वयं न त्वेकं विशिष्टज्ञानमिति, तदपि तुच्छं, रजतार्थिप्रवृत्तिमात्रे रजतत्वप्रकारकज्ञानस्यैव समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या संवादिप्रवृत्तिस्थले हेतुत्वकल्पनाद्विसंवादिप्रवृत्तिहेतोरपि मिथ्याज्ञानस्यैकस्य सिद्धेः, संवादिप्रवृत्तौ विशिष्टज्ञानं हेतुर्विसंवादिप्रवृत्तौ चोपस्थितेष्टभेदाग्रह इति कल्पने गौरवात्, भेदाग्रह इत्यत्र च भेद एव कोऽभिप्रेत आयुष्मतः, किं वस्तुस्वरूपमात्रम्, उत परस्पराभावः, आहोश्विद् व्यावर्त्तकधर्मयोगः, आद्ये ग्रहणस्मरणाभ्यां पुरोवर्त्तिपूर्वानुभूतवस्तुस्वरूपग्राहिभ्यां भेदो गृहीत एवेत्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः, द्वितीयपक्षस्तु प्राभाकरैरभावानभ्युपगमादेव निरस्तः, तदभ्युपगमेऽपि स्मृतरजतस्य कथं नाभावज्ञानम्, दोषवशान्नियतदेशतयाऽवगतस्यानियतदेशतया स्मरणान्न तदिति चेत्, आयातान्यथाख्यातिः, देशविनि-

मुक्ततत्स्मरणान्न तदिति न, तव मते पूर्वावगते रजते स्मृते केवलाधिकरणोपलब्धेरेव तदभावोपलम्भत्वात्, दोषस्य शुक्तौ रजतभेदग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पने च तत्तादात्म्यग्रहहेतुत्वकल्पनमेव ज्यायः । नापि तृतीयः, स्मर्यमाणे रजते रजतत्वस्य व्यावर्त्तकधर्मस्य भानाद् गृह्यमाणेऽप्यन्तत इदंत्वस्यैव तादृशस्य भानात्, न च रजतत्वात्यन्ताभावरजतभेदगृहीतव्यावर्त्तकताकतत्तद्धर्मग्रहाणामन्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽखण्डाभावो रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुरित्यपि वक्तुं शक्यम्, उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात्, रजतं स्मरतो रजतार्थिनः पाषाणत्वानुपलम्भे पाषाणेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च । शुक्तिविषयकप्रवृत्तौ शुक्तिविषयकज्ञानत्वेनापि हेतुत्वाच्च, तत्र समानप्रकारकत्वनिवेशस्यैवौचित्यात्, अन्यथा महागौरवात्, किञ्च रजत एव नेदं रजतमिति ग्रहे प्रवृत्त्यापत्तिः, तत्रान्यथाख्यातिभिया रजतभेदग्रहस्य परेण वक्तुमशक्यत्वात्, न चाभावप्रतियोगित्वेनानुपस्थितं यदुपस्थितं रजतं तद्भेदाग्रहस्य प्रवर्त्तकत्वाददोष इत्यपि शक्यं वक्तुं, घटभिन्नं रजतं नेदमिति ज्ञानादपि प्रवृत्त्यापत्तेः तद्धर्स्यभावप्रतियोगित्वेनानुपस्थितत्वं चान्यथाख्यातिभयाद्रजतेऽपीति न किञ्चिदेतत् । किञ्च प्रवृत्तिरिच्छाद्वारा, सा च समानविषयज्ञानसाध्येति कथं नेच्छावन्मिथ्या, एतेन प्रकृतरजतज्ञानं स्मरणम्, अनाकलितरजतस्य प्रतिपत्तुरनुत्पद्यमानत्वादित्याद्यनुमानमपास्तम् । रजतगोचरेण समीहितसाधनतानुमानेन संस्कारेण रजतशब्दोल्लेखिप्रत्यक्षेण चानैकान्तिकत्वात्, प्रकृतरजतज्ञानं स्मरणं न भवति विशदावभासित्वात् यदित्थं तदित्थं यथा संप्रतिपन्नज्ञानमिति प्रत्यनुमानसद्भावाच्च । किञ्च भवतापि संवित्तिः स्वप्रकाशा स्वीक्रियत एव, तत्रेयं रजतसंवित्तिस्तपस्विनी केन स्वभावेन प्रकाशतामिति विचारणीयं, यदि स्मृतिरूपेणेत्युच्यते, हन्त तर्हि कः प्रमोषशब्दस्यार्थः । अथानुभवरूपेण प्रथते, तर्हि विपरीतख्यातिरेवेयं, स्मृतेरनुभ-

वत्वेन प्रथनात्। अथ संविन्मात्रतयैव रजतसंवित्तिः प्रतिभाति, तदपि न निरवद्यं, रजतमिति विषयोल्लेखस्यानुभूयमानत्वात्, स्मरणानुभवलक्षणविशेषशून्यायाश्चात्र प्रघट्टके विषयसंवित्तेरनुपपद्यमानत्वात्, यदप्युक्तं बाधकप्रत्ययश्चेदमन्यद्रजतमन्यदिति विवेकमेव प्रकाशयतीत्यादि, तदपि मिथ्या, बाधकप्रत्ययेन प्रसक्तरजतत्वाभावस्यैवावगाहनात्, अप्रसक्ताविविक्तत्वप्रतिषेधेन विविक्तत्वानवगाहनात्, यदप्युक्तं स्वप्ने चेदं रजतमित्यादौ स्मरणत्वाग्रह एव विवेकाग्रह इत्यादि, तदपि तुच्छम्, रजतादिस्वप्ने स्मरणत्वेनाग्रहे रूपान्तरेण ग्रहे विपरीतख्यात्यापत्तेः, सर्वात्मनाऽग्रहणस्य च ग्रहणविरुद्धत्वात्, यदप्युक्तमेवं चन्द्रद्वयवेदने दोषाद् द्विधा कृतया नयनवृत्त्या चन्द्रैकत्वाग्रह एवेति, तदप्यविचारितरमणीयं, द्विधा कृता हि तिमिरेण नायनी वृत्तिर्यदि नाम कुमुदबन्धोरेकत्वं नावबुध्यते, मावबूबुधत्, विपरीतस्तु द्वित्वानुभवः कथमिति विचार्यतां, नयनसमाश्रितद्वित्वासंसर्गाग्रह एव चन्द्रे द्वित्वग्रह इत्यस्यापि परोक्षस्य तस्योपस्थित्यभावेनैवानाश्रयणीयत्वात्, एतेन तिक्ता शर्करेत्यादिव्यवहारस्य पित्तद्रव्यगततिक्तत्वशर्कराग्रहभेदाग्रहनिबन्धनत्वमुक्तं प्रत्युक्तम्, अगृह्यमाणतिक्तत्वस्यैव पित्तस्य शरीरगतस्य ज्वरोत्पादकत्ववद्रसनगतस्य विपरीतप्रत्ययोत्पादकत्वात सर्वानुभूयमानसामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च। अपि चेदं रजतमिति यदि संवेदनद्वयमभ्युपगम्यते, तदा तस्य किं यौगपद्येन पर्यायेण वा प्रादुर्भावः स्यादिति वक्तव्यम्, आद्ये स्वकृतान्तकोपः, द्वितीयेऽपि किं प्रत्यक्षात् पूर्वमुतोत्तरं रजतस्मरणं भवेत्, नाद्यः, इदमिति प्रत्यक्षात्पूर्वं संस्कारानुद्बोधेन रजतस्मृत्यनुत्पत्तेः, न द्वितीयो, निमीलितनयनस्यापि तत्प्रसक्तेरिति सकललोकसिद्धं सकृदेव रजतात्मना पुरोवर्त्तिभानं दुरपह्नवमिति मन्तव्यम्। एतेनेदं रजतमिति प्रत्यये न रजतसत्ताऽऽलम्बनम्, अभ्रान्तत्वप्रसक्तेः. नापि तदभावो, रजतविधिपरस्य प्रत्ययस्य

तदभावानालम्बनत्वात्, नापि शुक्तिखण्डम्, अनदाकारत्वात्, नापि रजताकारेण शुक्तिखण्डम्, अन्यस्यान्याकारेण दुर्ग्रहत्वादित्यख्यातिरेवेयमित्यख्यातिवादोऽपि केषांचिन्निरस्तः। एवं भ्रान्तेर्निरालम्बनत्वे भ्रान्तिसुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गात्, न हि भ्रान्तौ प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेण सुप्तावस्थातोऽन्योऽस्ति विशेषः। स्वातिरिक्तबाह्यार्थानुपपत्तौ च तदंशे सत्ख्यातिरेव ज्ञानवाद्याश्रिता स्यान्नाख्यातिरिति यत्किञ्चिदेतत्॥ बौद्धास्त्वसत्ख्यातिमाचक्षते, तथा हीदं रजतमिति भासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेत्, न तावज्ज्ञानम्, अहं रजतमित्यहंकारसामानाधिकरण्येनाप्रतिभासनात्, नाप्यर्थः, तत्साध्यार्थक्रियाभावात् इत्यसदेव तत्तत्र प्रतिभातमिति, तेऽपि न सूक्ष्मेक्षिणः। तथाहि—असत्ख्यातिरिति कोऽर्थः, किमेकान्तासतोऽर्थस्य प्रथनम्, उत देशान्तरे विद्यमानस्य, द्वितीयपक्षे विपरीतख्यातिरेवेयं, देशान्तरे विद्यमानस्य शुक्तिदेशे प्रतीतिस्वीकारात्, आद्यपक्षे त्वेकान्तासतोऽर्थस्य प्रथने शशविषाणस्यापि प्रतीतिः स्यात्, एतेन रजतं सदेव तत्संसर्गस्त्वलीको भ्रान्तौ सदुपरागेण भासत इति न्यायटीकाकृन्मतमप्यपास्तम्, विषयतायाः सद्वृत्तित्वव्याप्यत्वात्, अन्यथा गवि शशशृङ्गीयत्वविशिष्टसम्बन्धेन शृङ्गभानापत्तेः, अपि चासत् सत्त्वेन प्रतिभातीति विपरीतख्यातिमर्यादाया नातिक्रमः। यदपीदं रजतमिति भासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेदिति विकल्पद्वयमकारि, तत्राद्योऽनभ्युपगमान्निरस्तो, द्वितीयस्त्विष्यत एव, अर्थविशेषनिबन्धनचरणाभरणाद्यर्थक्रियाभावेऽप्यर्थसामान्यनिबन्धनाभिलापप्रवृत्त्याद्यर्थक्रियायास्तत्राव्याहतत्वात्, बाधकप्रत्ययेन च मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यात्वमुपदर्श्यते, न तु तद्विषयस्यार्थत्वं बाध्यत इति नासत्ख्यातिमनोरथस्ताथागतानां श्रेयान्। केचित्तु प्रसिद्धार्थख्यातिमाहुः, विपर्ययेऽपि प्रतीतिप्रसिद्धस्यैवार्थस्य भानात्, न च विचारासहत्वात्तद्विषयस्याविद्यमानत्वं, प्रतितेरेव विचारत्वात् करस्थ-

स्थूलमुक्ताफलेऽपि तथैव विचारसहत्वसिद्धेः, न चोत्तरकाले प्रतिभासाभावाद्भ्रान्तिविषयस्यासत्त्वं, तत्समयप्रतिभासेनापि तोयबुद्बुदादेरिव सत्त्वाव्याघातादिति, तेऽपि न ख्यातिभाजः प्रमाणसिद्धिं विनाऽर्थस्य प्रसिद्धत्वायोगात्. अन्यथा भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्थानुपपत्तेः, यच्च प्रतिभाससमये सत्त्वाद् भ्रान्तिविषयस्य रजतस्य प्रसिद्धत्वमुच्यते, तद् यद्यन्यदेशस्थस्य तस्य दोषमाहात्म्येन शुक्तौ भानात्, तदा प्रसिद्धार्थख्यातिरित्यन्यथाख्यातेर्नामान्तरमायातं, यदि च शुक्तिदेशस्थस्य, तदा तस्य स्थिरत्वादुत्तरकालेऽपि भानापत्तिः, अज्ञानजस्य ज्ञाननाश्यस्य च तस्य स्वीकारे मतान्तरप्रवेशापत्तिरिति यत्किञ्चिदेतत्। परे तु शुक्तिशकले यत्कलधौतं चकास्ति तस्य बाह्यतया प्रतिभानं नोपपत्तिमत्, नेदं रजतमिति बाधकेन तद्बाह्यताया बाध्यमानत्वात्, ततो ज्ञानात्मन एवायमाकारोऽनादिवासनामाहात्म्यात् बहिरिव परिस्फुरतीत्यात्मख्यातिरेवेयमित्याहुः, तेऽपि न प्रेक्षावन्तो, नेदं रजतमिति बाधकेन तद्बाह्यताया अबाधनात्, हट्टादौ बाह्यस्थस्य तस्य परं शुक्तिदेशस्थताया एव बाधनात्। यदपि न्यगादि ज्ञानात्मन एवायमाकारोऽनादिवासनामाहात्म्याद्बहिरिव परिस्फुरतीति, तदप्यसत्यं, वासनाया बहुशो निरस्तत्वात्। किञ्च–ज्ञानाकारस्यैव रजतस्य संवेदनेऽहं रजतमित्यन्तर्मुखतया प्रतीतिः स्यात्, न त्विदं रजतमिति बहिर्मुखतया, ज्ञाननिष्ठोऽपि रजताकारोऽनादिवासनामाहात्म्याच्छुक्तिनिष्ठतया भासत इत्युक्तौ चान्यथाख्यातिरेवाङ्गीकृता स्यात्। अपि च स्वाकार एव रजतादिर्भ्रान्तिभिर्बहीरूपतया प्रकाश्यत इत्यत्र न प्रमाणमस्ति, अनुभवस्य कलधौतज्ञानाकारासाक्षित्वात्, बाधकप्रत्ययस्यापि शुक्तौ रजतनिषेधकत्वेन रजते ज्ञानाकारताया अविधायकत्वात्, न च रजते पुरोवर्तिशुक्त्याकारत्वप्रतिषेधेऽर्थाद्बोधाकारत्वसिद्धिरित्यपि साम्प्रतं, शुक्त्याकारत्वप्रतिषेधेऽर्थाद्देशान्तरसत्त्वस्यैव सिद्धेः. दृष्टातिक्रमेणा-

दृष्टज्ञानाकारत्वकल्पने मानाभावात् । यत्प्रकाशते तद्विज्ञप्तिमात्रं यथा सुखादिकमिति तु प्रत्युक्तं विज्ञानवादनिरासे बहुशः। अपि चैवमान्तरं कलधौतं मया बहीरूपतया ज्ञातमिति प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, न त्वियं शुक्ती रजतत्वेन ज्ञातेति, एवमप्रसक्तकलधौतनिषेधोऽपि न स्यात् । यदि च ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वं नेष्यते, तर्हि यथा रजताकारोल्लेखेन तत्प्रवर्त्तते, तथा किं न नीलाद्याकारोल्लेखेन, नियामकाभावात्, अनादिवासनाया एव तन्नियामकत्वे देशादिनियमे हेतुर्मृग्यः । अथास्या इदमेव स्वरूपं यदसदपि देशादिनियमेन ज्ञाने प्रदर्शयतीत्यभिधीयते, तदयुक्तम्, असत्ख्यातिप्रसक्तेः, कथं चात्मख्यातिवादिनश्छेदादिप्रतीतिः स्यात्, स्वरूपमात्रसंविदस्तदसम्भवात्, न हि विज्ञानरूपस्य सुखादेः संवित्तौ तत्प्रतीतिर्दृष्टेति बाह्यार्थस्य प्रामाणिकत्वे नात्मख्यातिः ख्यातिमती । वेदान्तिनस्तु शुक्तौ रजतं न सत् प्रतिभासते, भ्रान्त्युच्छेदापत्तेः, नाप्यसत्, शशशृङ्गादिवत् प्रतिभासप्रवृत्त्योरविषयत्वप्रसङ्गात्, नाप्युभयरूपम्, उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गादित्यनिर्वचनीयमेवेदं, तस्माद्भ्रान्तिरनिर्वचनीयख्यातिरेवेत्याहुः. तदपि तुच्छतरं, शुक्तौ रजतभ्रमे शुक्तिखण्डस्य विषयस्य स्वरूपपररूपाभ्यां सदसद्रूपस्याव्याहतत्वात्, रजतप्रकारिताकत्वस्य च तत्र विशेषणज्ञानमात्रनियम्यत्वात्, अस्तु वा तत्तादात्विकशुक्तिपरिणामनिमित्तमेव, समूहालम्बनव्यावृत्तस्य तस्यान्यथानुपपत्तेः, " अर्थेनैव धियां विशेष " इति न्यायादिति यौक्तिकाः । शुक्तौ विलक्षणरजतोत्पादस्तु कारणाभावादेवायुक्तः, न हि परिणामिकारणादिसामग्रीं विना कार्योत्पादो दृष्टः। अथ शुक्तेरज्ञानमेव तत्र प्रतीयमानस्य कलधौतस्य कारणमिति मतिः, दुर्मतिरेवेयम्, अज्ञानस्य केवलपरिणामिकारणत्वायोगात् । अज्ञानं हि सम्यग्ज्ञानस्य प्रागभावो, मिथ्याज्ञानं वा, द्वयमपि केवलं न परिणामिकारणं, द्रव्यस्यैव तत्तत्पर्यायपरिकरितस्य परिणामिकारणत्वप्रसिद्धेः,

तद्वात्मद्रव्यमेव सम्यग्ज्ञानप्रागभावलक्षणपर्यायाविष्टं मिथ्याज्ञानस्वरूपपर्यायाक्रान्तं वा शुक्तिशकलकलधौतस्य कारणं भविष्यतीत्यपि नाशङ्कनीयम्, चेतनस्याचेतनं प्रति जातुचिदपि परिणामिकारणत्वानुपपत्तेः। स्यादाकूतं भवतो, नाज्ञानं सम्यग्ज्ञानप्रागभावो, नापि मिथ्याज्ञानं, किन्तु ताभ्यामर्थान्तरमेव मायाऽविद्यादिशब्दवाच्यं तदनिर्वचनीयरजतहेतुरिति चेत्, न। तादृशाज्ञाने मानाभावात्, न च मूलाज्ञानं तद्धेतुर्युक्तं, तस्य व्यवस्थितजगद्वैचित्र्यहेतुत्वेन त्वयोपगमात्, किन्तु भ्रान्तिव्यवहारनिर्वाहायानन्तानि तूलाज्ञानानि त्वया वाच्यानीति महागौरवम्, किञ्च शुक्त्यज्ञानस्य पाषाणादावपि सत्त्वेन देशनियमाभावान्न रजतहेतुत्वम्, न चेदमंशावच्छेदेन शुक्त्यज्ञानस्येदमंशावच्छेदेन रजतोत्पादकत्वाददोषो, दोषाभावकालेऽपि ततस्तत्प्रसङ्गात्, दोषस्याप्यपेक्षणे चेदमंशावच्छेदेनाज्ञानान्तरस्योदासीनस्य च हेतुत्वं दुर्निवारमिति यत्किञ्चिदेतत्। दोषसहितं शुक्त्यज्ञानं रजतहेतुरिति त्वद्वचनस्य वह्निसहितमाकाशं दाहकमिति वचनतुल्यत्वात्। यत्तु विशेषादर्शनस्य परेषां रजतभ्रमत्वं कार्यतावच्छेदकं मम तु रजतत्वमिति लाघवादनिर्वचनीयरजतसिद्धिरित्यनन्तदेवेनोक्तं, तदसत्, त्वयापि सत्यरजतव्यावृत्तये प्रातिभासिकरजतत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकस्य वाच्यत्वात्, अपि च किमिदमनिर्वचनीयत्वं, निरुक्तिविरहो वा निरुक्तिनिमित्तविरहो वा, नाद्यः, इदं रजतं नेदं रजतमिति निरुक्तेरनुभूयमानत्वात्, नापि द्वितीयो, यतो निरुक्तिनिमित्तं विषयः किं भावरूपो नास्त्यभावरूपो वा, प्रथमकल्पनायामसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः, द्वितीयकल्पनायां तु सत्ख्यातिरेव, उभावपि न स्त इति चेत्, लोकसिद्धयोरुभयोः प्रतिषेधो विलक्षणयोर्वा, नाद्यः, एकत्रोभयविरुद्धविधेरिव तत्प्रतिषेधस्याप्ययोगात्, विरुद्धयोरेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेधविधिनान्तरीयकत्वात्, द्वितीयपक्षे तु न काऽपि क्षतिः, न

ह्यलौकिकविषयसहस्रनिवृत्तावपि लौकिकविषयनिवृत्तिस्तन्निरुक्तिनिवृत्तिर्वा सम्भवतीत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८१ ॥ "यशोविजयनामेत्थं, साधुर्न्यायविशारदः ॥ स्पष्टं निष्टङ्कयामास, ख्यातीरष्ट गरिष्ठधीः ॥ १ ॥ अन्यथाख्याति १ ख्याति २-र्विवेकाख्यातिरेव च ॥ ३ असत्ख्यातिः ४ प्रसिद्धार्थख्याति ५ रेव च पञ्चमी ॥ २ ॥ आत्मख्यातिस्तथा षष्ठी, ख्यातिः सप्तम्यलौकिकी ॥ अष्टम्यवाच्यताख्याति ८-रित्यष्टौ नामतः स्मृताः ॥ ३ ॥ साम्राज्यादन्यथाख्याते-रेतास्वन्यनिरासतः ॥ बहिरङ्गार्थनैकान्तं, निरस्यन्ति धियां बुधाः ॥ ४ ॥"

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥८२॥

अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः स्याद्वादन्यायविद्विषामेव । तत्रावाच्यतायामुक्तिविरोधः पूर्ववत् । स्याद्वादाश्रयणे तु न कश्चिद्दोष इत्याहुः ॥ ८२ ॥

भावप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणाभासनिह्नवः ॥ बहिः प्रमेयापेक्षायां, प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ ८३ ॥

सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथंचित् प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षं, न कश्चित्प्रमाणाभासः, सौगतानामप्यत्राविवादात्, सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनात् । तन्निर्विकल्पकमित्ययुक्तं स्वार्थव्यवसायात्मत्वमन्तरेण प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः समर्थनात् । तथानभ्युपगमेऽन्यत एव बुद्धेरनुमानं स्यात् । तच्चायुक्तं लिङ्गाभावात् । तत्रार्थज्ञानमलिङ्गं, तदविशेषणासिद्धेः । स्वयमप्रत्यक्षं ज्ञानं ह्यर्थपरिच्छेदादनुमीयते इत्यर्थज्ञानं कर्मरूपमर्थस्य प्राकट्यं तल्लिङ्गमिष्यते स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति वचनात् । तच्चार्थप्राकट्यमर्थधर्मो ज्ञानधर्मो वा ? प्रथमपक्षेऽर्थपरिच्छेदकज्ञानादविशेषणेतरस्यासिद्धेर्न तल्लिङ्गम् ।

तदविशेषस्तु, तस्यास्वसंविदितत्वादनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गात । न हि ज्ञाने परिच्छेदकेऽप्रत्यक्षे तत्कृतोर्थपरिच्छेदः प्रत्यक्षः स्यात्, संतानान्तरज्ञानकृतार्थपरिच्छेदवत् बहिरर्थस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वमिति चेत, न, अर्थस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वासिद्धेः। स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वे संतानान्तरज्ञानेपि साक्षात्प्रतिभासमाने प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तस्यानुमेयत्वाविशेषात् । बहिरर्थप्राकट्यस्य प्रमातुः स्वसंविदितत्वात्तल्लिङ्गमेव ज्ञाने प्रसिद्धमिति चेत्कथमर्थधर्मः स्वसंविदितो नाम ? अर्थवत् । सोयं ज्ञानमस्वसंविदितं प्राकट्यमर्थस्वरूपं स्वसंविदितमित्याचक्षाणो विपरीतप्रज्ञः । परिच्छिद्यमानत्वस्य ज्ञानजस्यार्थधर्मस्यार्थज्ञानस्य कुतस्ततो विशेषो येन तल्लिङ्गं सिध्येत् ? पुंसः स्वसंविदितत्वेन ततो विशेषो वा तदन्यतरेणार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन ? स्वसंविदितार्थपरिच्छेदादेव स्वार्थपरिच्छित्तिसिद्धेरप्रत्यक्षज्ञानस्याकिंचित्करत्वात । पुंसो वा स्वसंविदितार्थत्वेनार्थपरिच्छेदसिद्धेः किमनेन ? तस्य करणत्वान्नाकिंचित्करत्वमात्मनः कर्तृत्वादर्थस्य च कर्मत्वात्करणत्वविरोधात्, करणमन्तरेण क्रियायाः संभवाभावादिति चेत्तर्हि पुंसः स्वसंवित्तौ किं करणम ? स्वात्मैवेति चेत्स एवार्थपरिच्छित्तावपि करणमस्तु, कर्तुरनन्यस्यापि कथंचिदविभक्तकर्तृकस्य करणस्य सिद्धेर्विभक्तकर्तृकवत । एतेनार्थपरिच्छेदस्यार्थधर्मस्य स्वसंवित्तौ स्वात्मनः करणत्वे करणान्तरमकिंचित्करमुक्तम् । ततः पुरुषार्थपरिच्छेदयोरन्यतरेण स्वात्मनैव करणेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन करणेन परोक्षज्ञानेन ? यच्चेदमर्थज्ञानं तच्चेदर्थस्वलक्षणं स्याद्व्यभिचारादहेतुः, अप्रत्यक्षे ज्ञाने साध्ये तस्यार्थस्वरूपस्य तदभावेपि भावादन्यथार्थाभावप्रसङ्गात् । न च ज्ञानस्याभावेऽर्थस्याभावः । परिच्छिद्यमानत्वधर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्यार्थस्याभाव एवेति चेन्न, तस्य ज्ञानासिद्धौ प्रतिपत्तिविरोधात्, विशेषणाप्रतीतौ तद्विशिष्टत्वस्य क्वचिदप्रतीतेरसिद्धत्वेन हेतुत्वायोगस्याभिधानात । एतेनार्थमहं जानामीति प्रतीतेरात्मनोऽर्थज्ञानं स्वसंविदि-

तमर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मोऽप्रत्यक्षायां लिङ्गबुद्धौ लिङ्गमित्येतदपास्तं, तस्य बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे तथाप्रतीतेरयोगात्। इत्यविशिष्ट एव ज्ञानानपेक्षस्वभावोर्थस्तद्धेतुः स्यात्। स च व्यभिचार्येव। एतेनेन्द्रियादिप्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, तस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षज्ञानादविशेषेणासिद्धेः। विशेषेण वा तयोरन्यतरेण भावेन्द्रियादिना स्वसंविदितेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेनाप्रत्यक्षज्ञानेन ? तस्यैव ज्ञानत्वात्। व्यभिचारी चेन्द्रियादिहेतुर्ज्ञानाभावे भावात् कारणस्येन्द्रियस्य मनसो वावश्यं कार्यवत्त्वानुपपत्तेः। ततः प्रत्यक्षेतरबुद्ध्यवभासस्य स्वसंवेदनात्प्रत्यक्षविरुद्धं ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमनुमानविरुद्धं च। तथा हि। सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्षविषादादयोपि न स्युरात्मान्तरवत्। एतेन प्रतिक्षणं निरंशं संवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभावात्, यथानुभवमनभ्युपगमात्, स्थिरस्यात्मनः सुखदुःखादिबुद्ध्यात्मकस्य प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य हर्षविषादादेरनुभवात्। भ्रान्तोऽयमनुभव इति चेत्, न, बाधकाभावात्। सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषात् परोक्षज्ञानवादानुषङ्गः सौगतस्य। कथंचिद्भ्रान्तावेकान्तहानेः स्याद्वादानुप्रवेशः। न केवलं निर्विकल्पकेऽर्थदर्शने परोक्षज्ञानादविशेषः। किं तर्हि ? तद्व्यवस्थाहेतौ विकल्पस्वसंवेदनेपि, विकल्पानिवृत्ते सर्वथा विकल्पस्य भ्रान्तत्वे बहिरिव स्वरूपेपि भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषादभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति वचनात्, कथंचिद्भ्रान्तत्वेऽनेकान्तसिद्धेरनिवारणात्। तस्मात्स्वसंवेदनापेक्षया न किंचिज्ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम्। बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था, तत्संवादकत्विसंवादकत्वात् कचित्स्वरूपे केशमशकादिज्ञानवत्। नभसि केशादिज्ञानं हि बहिर्विसंवादकत्वात्प्रमाणाभासं स्वरूपे संवादकत्वात्प्रमाणम्, नचैवं विरोधः प्रसज्यते, जीवस्यैकस्यावरणविगमविशेषात् सत्येतराभाससंवेदनपरिणामसिद्धेः कालिकादिविगमविशेषात्कनकादिजात्येतरपरिणामवत्॥ ८३॥

सर्वं प्रत्यक्षमिति सर्वं प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः, न चैवमनुमितित्वादिना प्रत्यक्षस्य साङ्कर्यं, क्वचित्सङ्कीर्णजातेरप्यदुष्ट-

त्वाभ्युपगमात्, अस्तु वा यद्विषयत्वावच्छेदेन ज्ञानाजन्यत्वं तद्विषयत्वावच्छेदेनौपाधिकमेव प्रत्यक्षत्वम्, अनुमित्यादावात्माज्ञानात् सुखादित्यादावप्यात्मादौ विषयताद्वयाभ्युपगमादिति दिग्। 'ज्ञाते त्विति' ज्ञाते तु प्राकट्ये, अनुमानात्तल्लिङ्गकादवगच्छति निश्चिनोति बुद्धिमित्यर्थः। इतरस्य प्राकट्यस्य, अनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गादिति, अनुमानापेक्षत्वमर्थप्राकट्यस्यार्थपरिच्छेदाविशेषे हेतुः, तत्र चास्वसंविदितत्वमिति बोध्यम्। तस्यानुमेयत्वाविशेषादिति। यथा सन्तानान्तरज्ञानप्रतिभातेऽर्थे ज्ञानावच्छेदकत्वेनानुमेयत्वं तथा स्वज्ञानप्रतिभातेऽपीत्यविशेषो भावनीयः। अर्थज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानपदे करणव्युत्पत्तिः। तेन न तस्य प्राकट्यविशेषणत्वानुपपत्तिः। कुत इति, ततः परोक्षार्थज्ञानात् कुतः प्राकट्यस्य विशेषो न कुतश्चिदनुमानापेक्षत्वतौल्यादित्यर्थः। पुंस इति, पुंस आत्मनः, स्वसंविदितत्वेनार्थावच्छिन्नप्राकट्यस्य च तत्राध्यस्ततया तथात्वेनेत्यर्थः। भाष्ये तदन्यतरेण परोक्षज्ञानस्वसंविदितपुरुषयोर्मध्ये परोक्षज्ञानस्वसंविदितार्थप्राकट्ययोर्मध्ये वाऽन्यतरेण, अर्थपरिसमाप्तेरर्थव्यवहारसिद्धेः। किं द्वितीयेन परोक्षज्ञानेनेत्यर्थः। 'अविभक्तकर्तृकस्येति' उपधेयैक्येऽपि कर्तृत्वकरणत्वाद्युपाधिभेदेन व्यवहारभेदसम्भवादित्यर्थः। विभक्तकर्तृकवदिति क्रियायां हि सकरणकत्वं तन्त्रं, न तु कर्तृभिन्नकरणवत्त्वं तदभिन्नकरणवत्त्वं वेत्यत्राप्याग्रहः श्रेयानिति भावः। अर्थपरिच्छेदस्य प्राकट्यस्य, तथाप्रतीतेरयोगादिति, इदं ज्ञानं घटविषयो घटज्ञाततावत्त्वादित्यनुमानस्य हेतोरज्ञानासिद्ध्या कर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। पक्षाज्ञानादाश्रयासिद्धिरप्यत्र द्रष्टव्या, एतेनाहं घटज्ञानवान् घटज्ञाततावत्त्वादित्यात्मपक्षकमनुमानमप्यपास्तम्, साध्याप्रसिद्धेश्चेति बोध्यम्। न च ज्ञानजन्यस्य समवायेनार्थनिष्ठस्य ज्ञातताख्यधर्मस्य सम्बन्धविशेषेणात्मनिष्ठत्वात्तल्लिङ्गकमात्मपक्षकमर्थपरिच्छेदवत्त्वानु-

मानमदुष्टं, न च हेतोरज्ञानासिद्धिरपि, संयुक्तसमवायादियोग्यसन्निकर्षेण तत्प्रत्यक्षात्, न च तस्याप्यनुमानापेक्षत्वेन साध्याविशेषो, लिङ्गज्ञानत्वेनैवानुमितिहेतुत्वात्, तद् ज्ञानज्ञानत्वेनातत्त्वादित्यपि वक्तुं साम्प्रतम्, साध्याप्रसिद्ध्योक्तोत्तरत्वात्, अतीतानागतेष्वर्थेषु ज्ञानेन ज्ञातताया जनयितुमशक्यत्वात्, ज्ञानजन्यज्ञाततायां मानाभावाच्च, अन्यथेष्टताकृततादेरपीच्छाकृत्यादिजन्यस्य सिद्ध्यापत्तेरिति दिग्। आत्मान्तरवदिति, न च स्वीयसुखदुःखसाक्षात्कारत्वेन हर्षविषादादिहेतुत्वाददोषः, अविदिततत्साक्षात्कारस्य निर्विकल्पकतुल्यत्वेनातथात्वात्, सुखदुःखज्ञानसंवेदनत्वेन हेतुत्वौचित्यात्, सर्वदा स्वप्नावस्थावज्जाग्रद्दशायामपि, आवरणविगतविशेषादिति विगतमिति भावे क्तः। आवरणविगमविशेषादित्यर्थः। सर्वत्र ज्ञाने स्वरूपे प्रामाण्यमनावृतमेव बहिरर्थे त्वनियतस्तत्क्षयोपशम इति स्वभावकल्पनान्न विरोध इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

न च जीवो नास्त्येवेति शक्यं वक्तुं तद्ग्राहकप्रमाणस्य भावात्। तथा हि—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः, संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ॥ मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥

स्वरूपव्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीवशब्दोऽर्थवान्। तेन कृतः प्रकृतः स्यादिति विक्लवोल्लापमात्रं, लोकरूढेः समाश्रयणात्। का पुनरियं लोकरूढिः? यत्रायं व्यवहारो जीवो गतस्तिष्ठतीति वा। न हि शरीरेऽयं व्यवहारो रूढस्तस्याचेतनत्वाद्भोगाधिष्ठानत्वेन रूढेः। नापीन्द्रियेषु, तेषामुपभोगसाधनत्वेन प्रसिद्धेः। न शब्दादिविषये, तस्य भोग्यत्वेन व्यवहारात्। किं तर्हि? भोक्तर्येवात्मनि जीव इति रूढिः। शरीरादिकार्यस्य चैतन्यस्य भोक्तृत्वमयुक्तं भोगक्रियावत्। ननु सुखदुःखाद्यनुभवनं भोगक्रिया। सा ह्यत्रान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्तदेवात्मद्रव्यमस्तु,

जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य सद्भावोपपत्तेरन्यथा पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्यो वैलक्षण्यासंभवात् । न तत्कार्यं ततोत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात् । चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेन्न, तत्त्वभेदेपि तस्य भावात् । पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारित्वसमन्वयाभावाद्भेद एव, केषांचित् प्रागभावादिभेदवदिति चेत् किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयोस्ति ? येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात्। तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम् । तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य साधयति। तादृशचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारश्चैतन्यकाययोरभेदोपचारादेव । क्षणिके चित्तसंताने जीवव्यहार इत्यसारं, तस्य निराकृतत्वात् । ततः कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणेनोपयोगस्वभावेन जीवेन जीवशब्दः सबाह्यार्थ इति साध्यनिर्देशे सिद्धसाधनाभावः संज्ञात्वादिति हेतुर्विरुद्धः सबाह्यार्थत्वविरुद्धाभिप्रेतमात्रसूचकत्वेन तस्य व्याप्तत्वादिति चेन्न, संज्ञाया वक्त्रऽभिप्रायमात्रसूचकत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात् । तथा हि । नात्र संज्ञाभिप्रेतमात्रं सूचयति, ततोर्थक्रियायां नियमायोगात् तदाभासवत् । न च तद्योगः संज्ञायाः, तयार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्यार्थक्रियानियमस्य दर्शनात्करणप्रतिपत्तिवत्, करणप्रतिपत्तीनां तदभावेऽनादरणीयत्वात् । ततः संज्ञात्वं जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वं साधयति हेतुशब्दवत् । सर्वेण हि हेतुवादिना हेतुशब्दः सबाह्यार्थोभ्युपगम्यते, साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासंभवात्, वक्त्रभिप्रायमात्रसूचकत्वादबाह्यार्थत्वाविशेषात् । तद्विशेषमिच्छता परम्परयापि परमार्थैकतानत्वं वाचः प्रतिपत्तव्यम् । क्वचिद्व्यभिचारदर्शनादनाश्वासे चक्षुरादिबुद्धेरपि कथमाश्वासः ? तदाभासोपलब्धेस्तत्राप्यनाश्वासे कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तिः ? कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात् । न चेदमसिद्धं काष्ठादिजन्मनोग्नेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात् । सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति, तद्विशेषपरीक्षायां सुविवेचितः शब्दोर्थं न व्यभिचरतीति प्रसिद्धेरितरत्रापि तद्विशेषपरीक्षास्तु,

विशेषाभावात् । वक्तुरभिसन्धिवैचित्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे तदितराध्यक्षानुमानकारणसामग्रीशक्तिवैचित्र्यं पश्यतां कथमाश्वासः स्यात् ? तस्मादयमक्षलिङ्गसंज्ञादोषाविशेषेपि कचित्प्रत्यक्षेनुमाने च परितुष्यन्नन्यतमप्रद्वेषेणेश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात् । ननु चाभावोपादानत्वात्तदन्यतमायां संज्ञायां प्रद्वेषेण परीक्षक एव, न पुनरीश्वरायते, तस्य परीक्षाऽक्षमत्वादिति चेन्न, तस्याः सर्वथा भावोपादानत्वाभावेऽभावोपादानत्वासिद्धेः । सर्वत्र भावोपादानसंभवे हि समाख्यानामितरोपादानप्रक्लृप्तिः, एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदुक्तं सौगतेन 'अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः ॥१॥' इति, तत्त्वतो भावाश्रयत्वाभावे वासनोद्भूतभावाश्रयत्वानुपपत्तेः सर्वत्रानुभवपूर्वकत्वाद्वासनायाः परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् । पूर्वपूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरवासनायाः समुद्भवादनादित्वादवस्त्वाश्रयत्वमेवेति चेन्न, शब्दवासनाया अप्यनादित्वे परार्थानुमानशब्दवासनायाः साधनस्वलक्षणदर्शननिमित्तकत्वविरोधात् । त्रिरूपहेतुवचनस्य परम्परया धूमादिवद्वस्त्वाश्रयत्वे हेतुशब्दवज्जीवशब्दस्य भावाश्रयत्वं युक्तम् । भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः प्रत्यात्मवेदनीयः प्रतिशरीरं भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन । तदनेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिक्षिप्तं, पक्षस्य प्रत्यक्षादिभिरबाधितत्वात् । तत्र निरतिशयस्यास्वसंविदितस्य सर्वशरीरेष्वभिन्नस्यैकस्य प्रतिक्षणं भिन्नस्य चात्मनः प्रतिभासाभावात्तस्य प्रत्याख्यानार्हत्वसाधनान्न तेन जीवशब्दः सबाह्यार्थः । ननु च मायादिभ्रान्तिसंज्ञाभिरबाह्यार्थाभिरनैकान्तिकं संज्ञात्वमिति चेन्न, तासामपि मायाद्यैः स्वैरर्थैः, सबाह्यार्थत्वात् प्रमाणवचनवत् । न हि मायादिसमाख्याः स्वार्थरहिता विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वात् प्रमाणसमाख्यावत् भ्रान्तिसमाख्यानामबाह्यार्थत्वे ततो भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगात् प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गान्न विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वमसिद्धम् । प्रमाणशब्दस्य स्वार्थविशेषरहितत्वे भ्रान्तिप्रतिपत्त्यनुषङ्गाच्च न तद-

सिद्धं, यतो निदर्शनं साधनधर्मविकलं स्यात् । एतेन खरविषाणादिशब्दानामपि स्वार्थरहितत्वमपास्तं, विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषादन्यथा भावशब्दत्वप्रसङ्गात् । ततो न तैरपि व्यभिचारः ॥ ८४ ॥ किञ्च—

तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन, कृत उत्पादितः, प्रकृतो जीवशब्दार्थः स्यात् । 'जन्मन इति' तथा चानन्तभवव्यापिन एकभवव्यापित्वं न दुर्वचमित्यर्थः । सिद्धसाधनाभाव इति उपचरितचैतन्येन शरीरादिनेति शेषः । साध्यदोषं निराकृत्य हेतुदोषमाशङ्कते संज्ञात्वादितीत्यादिना, परिहरति—नेत्यादिना, अभिप्रेतमात्रमिति पारमार्थिकसम्बन्धशून्यमभिप्रेतमित्यर्थः । तद्वत्त्वाङ्गीकारे त्वर्थोपस्थितिद्वारा शब्दप्रमाजनकताया एव न्याय्यत्वाद्व्याप्तिस्मृत्यादिविलम्बेन ततोऽनुमितिरूपसूचाया अयोगादिति बोध्यम् । तदाभासवन्मरीचिकायाञ्जलसंज्ञावत्, करणप्रतिपत्तिवदिन्द्रियव्यापारवत् । यथा ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानानामर्थक्रियानियमो दृश्यते तथा संज्ञाया अपीति तद्वत् संज्ञाप्रमाणमिति भावः । भाष्ये तदितरेति अभिधानकारणसामग्रीतरेत्यर्थः, सर्वथेति शून्योपादानत्वैकान्तनिराकरणादित्यर्थः । संज्ञाया भाषावर्गणारूपं यद्भावलक्षणमुपादानं तदेव पररूपेणाभावरूपमित्येवमभावोपादानत्वं तु नास्मत्पक्षक्षतिकरमित्याह—'सर्वत्रेत्यादि'॥ परिनिष्ठितः प्रतिबिम्बितः, भावाभावोभयाश्रित इति घटादिसंज्ञार्थस्य घटादेः खरविषाणाद्यभावव्यावृत्त्या भावरूपत्वाद्भावान्तरव्यावृत्त्या—चाभावरूपत्वादुभयव्यावृत्त्या चोभयरूपत्वादिति भावः । 'तदनेनेति' अनेन संज्ञाया भावाश्रयत्वव्यवस्थापनेन, ननु जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वादित्यत्र शरीरेन्द्रियकलापाद्यर्थबाधेऽपि निरतिशयत्वादिस्वभावेन सांख्यादिकल्पितेन प्रतिक्षणभिन्नस्वभावेन च सौगतपरिकल्पितेनात्मना चरितार्थत्वान्न स्याद्वादिन इष्टसिद्धिः स्यादित्याशङ्काया-

माह–‘ तत्रेत्यादि ’ नन्वेवमितरबाधादिमहिम्ना व्यापकतानवच्छेदकरूपेण साध्यानुमित्यभ्युपगमे पर्वतो द्रव्यवान् धूमादित्यतोऽपि वह्नित्वेन वह्नयनुमितिः स्यादिति चेत्, नेयं बिभीषिकोपयोगप्रामाण्यवादिनां नः, तथोपयोगे तथानुमितेरिष्टत्वात्, अत एव परेऽपि मङ्गलं सफलं शिष्टाचारविषयत्वादित्यादेर्मङ्गलस्य समाप्तिफलकत्वानुमितिमिच्छन्ति । इयांस्तु विशेषो यत्परेषां तथानुमितावितरबाधादेः परामर्शसहकारित्वमस्माकं त्वन्तर्व्याप्तिग्राहकतर्कोपक्षीणत्वमिति दिग्। विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वादसाधारणधर्मप्रकारकधीहेतुत्वात्, भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगादिति भ्रान्तेरसत्ख्यातित्वनिरासादित्यर्थः। प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गादिति भ्रान्त्यन्यज्ञानस्य प्रमात्वनियमादित्यर्थः ॥ ८४ ॥

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः। तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः॥८५॥

येप्याहुः ‘ अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामान ’ इति–जीवार्थस्य जीव इति संज्ञा, जीव इति शब्दस्य च, जीव इति बुद्धेश्चेति । तत्रार्थपदार्थक एव जीवशब्दः सबाह्यार्थः सिद्धो, न बुद्धिशब्दपदार्थकः। नतोनेन हेतोर्व्यभिचारः, संज्ञात्वस्य सामान्येन हेतुवचनात्’ इति, तेपि न सम्यगुक्तयः, सर्वत्र बुद्धिशब्दार्थसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तबुद्ध्यादिपदार्थवाचकत्वात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चारितादव्यभिचारेण यत्र बोधः प्रजायते स एव तस्यार्थः स्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारविलोपात्। यथा च जीवशब्दादर्थपदार्थकाज्जीवो न हन्तव्य इत्यत्र जीवार्थस्य प्रतिबिम्बको बोधः प्रादुर्भवति तथा बुद्धिपदार्थकाज्जीव इति बुद्ध्यत इत्यादेर्बुद्ध्यर्थस्य प्रतिबिम्बको जीव इत्याहेति शब्दपदार्थकाच्छब्दस्य प्रतिबिम्बकः स्यात्। ततस्त्रयोऽर्थाः तिसृणां संज्ञानामवगम्यन्ते तत्प्रतिबिम्बकबोधानां त्रयाणामेव भावात्। तदनेनाचार्यो हेतुव्यभिचाराशङ्कां प्रत्यस्तमयति, बुद्ध्यादिसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसंबन्धदर्शनात् तद्बुद्धीनां

च तिसृणां तन्निर्भासनात्तद्विषयतोपपत्तेः । सामान्यतो जीवशब्दस्य धर्मित्वात् स्वव्यतिरिक्तार्थस्य च सबाह्यार्थत्वस्य साध्यत्वाद्व्यभिचारविषयस्यासत्त्वादव्यभिचारी हेतुः । ननु च विज्ञानवादिनं प्रति संज्ञात्वादित्यसिद्धो हेतुः, संज्ञाया विज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वात् । दृष्टान्तश्च साधनविकलो, हेतुशब्दस्य तदाभासवेदनादन्यस्याविद्यमानत्वात् ॥ ८५ ॥ संज्ञाभासमज्ञानस्य हेतुत्वे शब्दाभासस्वप्रज्ञानेन व्यभिचारी हेतुः, इति कश्चित्, तं प्रत्यभिधीयते—

कारिकायां बुद्ध्यादिबोधा बुद्ध्यादेर्विषयस्य संज्ञाजनिता बोधाः, तत्प्रतिबिम्बकास्त्रिविधविषयाकाराः, तदाऽऽभासवेदनादिति तदाकारज्ञानादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां, बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ॥ भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ, बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥८६॥

वक्तुरभिधेयबोधाभावे कुतो वाक्यं प्रवर्तेत ? तस्याभिधेयबोधनिबन्धनत्वात् । वाक्याभावे च श्रोतुरभिधेयज्ञानासंभवस्तस्य तन्निमित्तकत्वात् । प्रमातुः प्रमित्यभावे च शब्दार्थयोः प्रमेययोरव्यवस्थानादिष्टतत्त्वानुपपत्तेर्वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयम् । तथा सति न हेतोरसिद्धतादिदोषो, दृष्टान्तस्य वा साध्यादिवैकल्यं प्रसज्यते । स्यान्मतं 'बहिरर्थाभावाद्वक्त्रादित्रयं न बुद्धेः पृथग्भूतं, वक्त्राद्याभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात, वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्त्वात, प्रमाया बोधात्मकत्वात् । ततोऽसिद्धतादिदोषः साधनस्य हेतुदृष्टान्तलक्षणस्य' इति, तन्न, रूपादेर्ग्राहकस्य तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापस्य च स्वांशमात्रावलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येनासिद्धेरन्तर्ज्ञेयाभ्युपगमविरोधात । न हि रूपादेरभिधेयस्य ग्राहकस्य वक्तुः श्रोतुश्च विभ्रमकल्पनायां व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापः स्वांशमात्रावलम्बी सिध्यति परस्परमसंचारात्, येनाभिधानाभिधेयज्ञानभेदः स्यात् । तस्यापि

विभ्रमकल्पनायां न प्रमाणसिद्धिरभ्रान्तस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। प्रमाणस्यापि विभ्रमकल्पनायां कथमन्तर्ज्ञेयमेव तत्त्वमित्यभ्युपगमो न विरुध्यते? प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमे सर्वस्य स्वेष्टाभ्युपगमप्रसङ्गात्। प्रमाणभ्रान्तौ बाह्यार्थयोस्तादृशान्यादृशयोः प्रमेययोरन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेययोरिष्टानिष्टयोर्विवेचनस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। नौ स्यादन्तर्ज्ञेयैकान्ते? यतस्तदभ्युपगमो न विरुद्धो भवेत्। यदि पुनः प्रमाणमभ्रान्तमिष्यते तदा बाह्यार्थोऽभ्युपगन्तव्यः, तदभावे प्रमाणतदाभासव्यवस्थित्ययोगात् ॥८६॥ तथा हि,—

'**वक्त्रिति**' वक्तरि वाक्यजनको यो बोधः श्रोतरि च वक्तृवाक्यपाठजनितं यद्वाक्यं प्रमातरि च या तदुभयप्रमाताः **पृथगिति** वीप्सापरत्वादवभासन्त इति क्रियाध्याहाराच्च पृथक्पृथगवभासन्त इत्यर्थः। **प्रमाभ्रान्तौ** तासां प्रमाणां ज्ञानातिरिक्तविषयत्वेन भ्रान्तित्वे चाङ्गीक्रियमाणे, नादृशेनरौ तथ्यातथ्यौ, बाह्यार्थौ भ्रान्तावेव स्याताम्। तथा च व्यवहारमात्रोच्छेद इति भावः। असञ्चारादविशेषेण स्वरूपसञ्चरणाभावात्, परशब्दकृत्यमाह ॥८६॥

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति नासति ॥ सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

बुद्धेः स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वाच्छब्दस्य परप्रतिपादनार्थत्वात्। स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं साधनं बुद्धिशब्दात्मकं स्वसंवित्त्यैव परप्रतिपादनायोगात् तस्याः पराप्रत्यक्षत्वात्। तस्य च सति बहिरर्थे प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिध्येत्, असति प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्तितः। इति सत्यानृतव्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते, स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा प्रतीतेः। तदेवं परमार्थतः सन्बहिरर्थः, साधनदूषणप्रयोगात्। इत्येकलक्षणो हेतुः प्रवर्तते। न चात्रैकलक्षणमसिद्धं, सत्येव बहिरर्थे परमार्थतो हेतोरुपपत्तेस्तथोपपन्नत्वस्य प्रधानलक्षणस्य सद्भावात्। अन्यथा स्वप्नेतराविशेषात्किं केन साधितं दूषितं च? इति कुतः संतानान्तरमन्यद्वा स्वमन्तानक्षणक्षयवेद्याद्याकारशून्यत्वं साधयेत्?

बहिरर्थस्य वास्तवस्य ग्राह्यलक्षणस्याभावे हि साधनदूषणप्रयोगस्य हेतोः संभवे स्वप्नजाग्रदवस्थाभाविनोस्तत्प्रयोगयोर्विशेषासिद्धिः। ततः किंचिज्ज्ञप्तिमात्रं केन सहोपलम्भनियमादिनानुमानेन स्वार्थेन साधितं स्यात्, परार्थेन वा वचनात्मना परं प्रति, किं वा स्वसंविदद्वैतं स्वतः प्रत्यक्षत एव साधितं स्यात्? तत्साधनस्य स्वप्नवन्निर्विषयत्वात्। किं वा बहिरर्थजातं केन, जडस्य प्रतिभासायोगात् इत्यादिना स्वार्थेन परार्थेन वा दूषणेन दूषितं स्यात्? इति संतानान्तरमपि न केनचित्साधनेन साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमे न केनचिद्दूषणेम दूषितं स्यात्, तथा स्वसंतानक्षणक्षयादिकं च न केनचित् साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमेपि न केनचिद्दुषितम्। इति न कचिद्व्यवतिष्ठते। तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद्भ्रान्तः सर्वो व्यवहार इत्यत्रापि तत्त्वज्ञानं शरणं, तत एव सर्वविभ्रमव्यवस्थितेः। इति व्याहतमेतत् तत्त्वज्ञानान सर्वस्य भ्रान्तस्वसाधनम्, अन्यथा बहिरर्थवदभिसंहितस्यापि सर्वविभ्रमस्य निराकरणापत्तेः, भ्रान्तादेव ज्ञानात् तस्याप्यसिद्धेः। तथा परमाण्वादिदूषणेपि प्रतिपत्तव्यं तत्त्वज्ञानं शरणमतत्त्वज्ञानादभिसंहितस्यापि परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेः। अन्यथा तत्कृतमकृतं स्यादिति सर्वत्र योज्यं, सर्वस्य स्वेष्टस्य स्वयमनिष्टस्य च तत्त्वज्ञानादेव माधनदूषणोपपत्तेः। एतेन साधनदूषणप्रयोगादिति साधनमसिद्धमितीच्छन् प्रतिक्षिप्तस्तदसिद्धत्वस्य स्वयमिष्टस्य तत्सिद्धत्वस्य चानिष्टस्य साधनदूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनादन्यथा तदव्यवस्थितेर्यत्किंचनवादित्वप्रसङ्गात्। तदिमे विज्ञानसंतानाः सन्ति न सन्तीति तत्त्वाऽप्रतिपत्तेर्दृष्टापह्नुतिरनिबन्धनैव, दृश्येनात्मना कथंचित्स्कन्धाकारेणादृश्यानामपि परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावादन्तर्ज्ञेयवत्। अदृश्या एव हि ज्ञानपरमाणवः संविन्मात्राद्दृश्यादवस्थाप्यन्ते नान्यथेति युक्तमुदाहरणं, बहिः परमाणूनां व्यस्थापने, तत्र पूर्वादिदिग्भागभेदेन जडरूपाणां षडंशादिकल्पनया वृत्तिविकल्पेन वा परप-

क्षोपालम्भे स्वपक्षाक्षेपात्, तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेः। समानं हि दूषणं बहिःपरमाणुषु, संवित्परमाणुषु च। देशतः संबन्धे षडंशत्वं दिग्भागभेदात्, सर्वात्मना प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वम्। प्रचयस्य परमाणुभ्यो भेदे प्रत्येकं परिसमाप्त्यैकदेशेन वा वृत्तौ प्रचयबहुत्वं सांशत्वापादनमनवस्था च। न च परमाणुभिः संसृष्टैर्व्यवहितैर्वा प्रचयस्योपकारे संसर्गासंभवो, व्यवधानेन व्यवधीयमानाभ्यां व्यवधायकस्य सजातीयस्य, विजातीयस्य वा व्यवधाने प्रकृतपर्यनुयोगोऽनवस्थाप्रसञ्जनं चेति स्वपक्षघातः स्यात्, सूक्ष्मस्थूलात्मनि बहिर्जात्यन्तरे तस्यानवकाशाच्च हर्षविषादाद्यनेकाकारात्मवत्। तत्रापि विरोधो दूषणमिति चेत्, सर्वथा कथंचिद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सर्वथा क्वचिद्विरोधासिद्धेः शीतोष्णस्पर्शयोरपि सत्त्वाद्यात्मनाऽविरोधात्, स्वेष्टेपि तत्त्वे कथंचिद्विरोधपरिहारस्य पुनरायासतामप्यशक्तेर्न द्वितीयः पक्षः संभवति। तत्साक्षात्परंपरया वा, विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं, स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनं, ग्राह्यग्राहकाकारत्वात् संतानान्तरसिद्धिवत्। विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारत्वेन व्यभिचार इति चेत्, न, संतानान्तरसाधनस्यापि व्यभिचारप्रसङ्गात्। न हि व्यापारव्याहारनिर्भासोपि विप्लुतो नास्ति, येनाव्यभिचारी हेतुः स्यात्। तदन्यत्रापि वासनाभेदो गम्येत न संतानान्तरम्। यथैव हि जाग्रद्दशायां बहिरर्थवासनाया दृढतमत्वात्तदाकारस्य ज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः, स्वप्नादिदशायां तु तद्वासनाया दृढत्वाभावात् तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य, न परमार्थतो बहिरर्थः सिध्यतीति वासनाभेदोऽभ्युपगम्यते, तथानुपप्लवदशायां सन्तानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात्सत्यताभिमानोन्यत्र तददाढर्यादसत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यतां, नतु संतानान्तरम्। तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः कथमभ्युपगम्यते ? ततः सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम्। तदेव वेद्यवेदकाकारं बहिरर्थवेदनस्य स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयति। ततो बहिरर्थस्य सिद्धेः सिद्धं वक्त्रादित्रयं, तस्य च बोधादित्रयम्।

इति जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वसाधने संज्ञात्वस्य साधनस्यासिद्धतानैकान्तिकता वा, दृष्टान्तस्य वा साधनधर्मादिवैधुर्यं, यतो न जीवसिद्धिः स्यात् । तत्सिद्धौ च तस्यार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य संवादविसंवादसिद्धि सिध्यत्येव । स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानं भावप्रमेये संवादापेक्षणात् । स्याद्भ्रान्तं बहिरर्थे विसंवादापेक्षणात् । स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्द्वयात् । स्यादभ्रान्तावक्तव्यं संवादसहार्पिततद्द्वयात् । स्याद्भ्रान्तावक्तव्यं विसंवादसहार्पिततद्द्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पिततद्द्वयात् । इति पूर्ववत् सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयितव्या, तथैवातिदेशसामर्थ्यात् तद्विचारस्य सिद्धेः, प्रमाणनयादेशादपि प्रतिपत्तव्या ॥ ८७ ॥

ज्ञानैकान्तादिपक्षे गगनफलमिव ज्ञापकोपायतत्त्वं, संभाव्यं नैव मानात् कथमपि निपुणं भावयद्भिर्महद्भिः ॥
स्याद्वादे तत्प्रसिद्धं विविधनयबलात्तत्त्वतः शुद्धबुद्धे—रित्याज्ञातं प्रपञ्चाद्विचरतु सुचिरं स्वामिनः सद्वचःसु ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ सप्तमः परिच्छेदः ॥

'स्वसंवित्त्यैवेति' तस्य चेति उक्तस्वरूपस्य साधनस्य चेत्यर्थः । एकलक्षणोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणः, तेन परेष्टत्रिलक्षणपञ्चलक्षणादिनिरासः । 'व्याहतमेतदिति' बाह्यग्राह्याभावेन भ्रान्तिभ्रान्तिज्ञसाङ्कर्यापत्तेरिति भावः । अदृश्या एव हीति सन्तानान्तरवर्त्तिनो भवान्तरवर्त्तिनश्चेत्यर्थः । पूर्वादीनि पूर्वादिदिशां भिन्नभिन्नावच्छेदेनैव परमाणौ संयोगसम्भवादित्यर्थः । वृत्तिविकल्पेन वेति परमाणौ स्कन्धः कार्त्स्न्येन वर्त्तेत तदेकदेशेन वा, आद्ये परमाणुमात्रः स्कन्धः स्यात्, अन्त्ये च परमाणोः सांशत्वापत्तिरित्यर्थः । तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेरिति यत्रोभयोः समो दोष इत्याद्युक्तेरिति भावः । स्वपक्षाक्षेपमेव विवृणोति समानं हि दूषणमित्यादिना, संसर्गासम्भव इति वृत्तिविकल्पग्रासादित्यर्थः ॥

प्रकृतपर्यनुयोग इति क्षणभङ्गुरव्यवधीयमानसंबन्धः कथमिति प्रश्नस्तदवस्थः स्यादित्यर्थः। अनवस्थाप्रसञ्जनं चेति व्यवहितपरमाणूनामवस्थानाभावादित्यर्थः। तस्य परोक्तोपालम्भस्य, तत्रापि अन्तर्बहिर्वा जात्यन्तरेऽपि, वेद्यवेदकाकारमिति वेद्यवेदकाकारवत्त्वं साधनमित्यर्थः। स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानमित्यत्र सर्वपदमहिम्ना ज्ञानत्वावच्छेदेनाभ्रान्तत्वसाधनान्नांशतः सिद्धसाधनादिदोषः १, द्वितीयभङ्गे सर्वपदानुपादानात् ज्ञानत्वसामानाधिकरण्येन भ्रान्तत्वस्य विधेयत्वान्नांशतो बाधः, प्रयोजनं तु प्राभाकरमतभङ्गः। एवमग्रेतना अपि भङ्गाः स्वपरसमयाविरोधेन भावनीयाः ॥ ८७ ॥

अन्तर्बहिर्विषयताघटितप्रमात्व-भ्रान्तत्वकोटिकृतविप्रतिपत्तिभेदी ॥
स श्रेयसीं प्रणयितां प्रथयन् मुनीनां, रत्नत्रयस्य जयताज्जिनवाक्यराशिः ॥ १ ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे सप्तमः परिच्छेदः ॥ ७ ॥

॥ ॐ ॥ ॥ अथाष्टमः परिच्छेदः ॥ ॥ ॐ ॥

ज्ञापकमुपायतत्त्वं, समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम् ॥ सकलैकान्तासंभव-मष्टसहस्री निवेदयति ॥ १ ॥

दैवादेवार्थसिद्धिश्चे-द्दैवं पौरुषतः कथम् ॥ दैवतश्चेदनिर्मोक्षः, पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

कारकलक्षणमुपायतत्त्वमिदानीं परीक्ष्यते । तद्धि, केचिद्दैवमेव दृष्टादृष्टकार्यस्य साधनमित्याचक्षते, पौरुषमेवेत्यपरे । किंचिद्दैवादेव किंचित्पौरुषादेवेत्यन्ये, तदुभयसाधनत्वेनावक्तव्यमेवेति चेतरे । तत्र दैवादेव यदि सर्वस्यार्थस्य सिद्धिरुच्यते तदा दैवमपि कथं पुरुषव्यापारात् कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणादुपपद्येत, प्रतिज्ञाहानेः । दैवान्तरादेव दैवं, न पौरुषादित्यभ्युपगमेऽनिर्मोक्षो मोक्षाभावः, पूर्वपूर्वदैवादुत्तरोत्तरदैवप्रवृत्तेरनुपरमात् । ततः पौरुषं निष्फलं भवेत् । पौरुषाद्दैवस्य परिक्षयान्मोक्षप्रसिद्धेर्न तन्निष्फलमिति चेत्, सैव प्रतिज्ञाहानिः । मोक्षकारणपौरुषस्यापि दैवकृतत्वात् परंपरया मोक्षस्यापि दैवकृतत्वोपपत्तेर्न प्रतिज्ञाहानिरिति चेत्, तर्हि पौरुषादेव तादृशं दैवमिति न दैवैकान्तः । एतेन धर्मादेवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्येकान्तः प्रतिक्षिप्तो, महेश्वरसिसृक्षानर्थक्यप्रसङ्गाच्च ।

कुतस्तर्हि समीहितार्थसिद्धिरित्युच्यते । योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम् । ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनाद्, दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसङ्गात् । स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेव, प्रयतमानस्य तु प्रयत्नाख्यात् पौरुषाद् दृष्टादिति वदन्नपि न प्रेक्षावान्, कृष्यादिषु समं प्रयतमानानां कस्यचिदेवार्थप्राप्त्यनर्थोपरमदर्शनादपरस्यानर्थप्राप्त्यर्थोपरमप्रतीतेः, धर्माधर्मयोरपि तन्निमित्तत्वसिद्धेः । स्वयमप्रयतमानानामर्थप्राप्त्यनर्थोपरमयोरनर्थप्राप्त्यर्थोपरमयोश्च सद्भावेपि प्रयत्नाभावेनुपभोग्यत्वप्रसङ्गात् पौरुषस्यापि तदनुभवकारणत्वनिश्चयात् सर्वत्र दृष्टादृष्टयोर्निमित्तत्वसिद्धिस्तयोरन्यतरस्याप्यपाये तस्यानुपपद्यमानत्वात्, मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात् । ततो न पाक्षिकोपि दैवैकान्तः श्रेयान् ॥ ८८ ॥

अस्तेऽपि न्यस्तहस्ते धनुषि घन[illegible]जर्जरे कृष्णसैन्ये, यद्गात्रस्नात्रनीरादजनि शुभमसौ पातु शङ्खेश्वरो माम्
अष्टमे दैवपुरुषकारैकान्तनिरासः, स च ग्रन्थः सुगमप्रायः, इदं तु चिन्त्यम् ॥ ८८ ॥ ॥१॥

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्, पौरुषं दैवतः कथम् ? ॥ पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि कथं पौरुषं दैवतः स्यात् ? प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । तद्धि पौरुषं विना दैवसंपदा न स्यात्, 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥१॥' इति प्रसिद्धेः । तत्सर्वं बुद्धिव्यवसायादि पौरुषं पौरुषापादितमिति चेत्तर्ह्यमोघमेव सर्वप्राणिषु पौरुषं भवेत् । तथैवेति चेत्, तद्व्यभिचारदर्शिनो न वै श्रद्दधीरन् । स्यान्मतमेतत्—पौरुषं द्विविधं, सम्यग्ज्ञानपूर्वकं मिथ्याज्ञानपूर्वकं च । तत्र मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनेपि सम्यगवबोधनिबन्धनस्य न व्यभिचारः । ततः सफलमेव पौरुषमिति । तदसत्, दृष्टकारणसामग्रीसम्यगवबोधनिबन्धनस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनात् कस्यचिदुपेयाप्राप्तेरदृष्टकारणकलापसम्यगवबोधस्य तु साक्षादसकलविदामसंभवात् तन्निबन्धनपौरुषाभावात् । प्रमाणान्तरात्तदवबोधस्य संभवेपि किमसावदृश्यः कारणकलापः कारणशक्तिविशेषः, पुण्यपापविशेषो वा ?, प्रथमपक्षे तत्सम्यगवगमनिमित्तकस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनान्नामोघत्वसिद्धिः । द्वितीयपक्षे तु दैवसहायादेव पौरुषात् फलसिद्धिः दैवसदवगमनिबन्धनादेव पौरुषादुपेयप्राप्तिव्यवस्थितेः । तदपरिज्ञानपूर्वकादपि कदाचित्फलोपलब्धेश्च न सम्यगवबोधनिबन्धनः पौरुषैकान्तः । इत्यसौ परित्याज्य एव दैवैकान्तवत् ॥ ८९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

दैवेतरयोः सहैकान्ताभ्युपगमे व्याघातादवाच्यतायां च स्ववचनविरोधान स्याद्वादनीतिः श्रेयसी तद्द्विषां प्रमाणविरुद्धाभिधायित्वात ॥९०॥ कीदृशी स्याद्वादनीतिरत्रेत्याहुः—

अबुद्धिपूर्वापेक्षाया–मिष्टानिष्टं स्वदैवतः ॥ बुद्धिपूर्वव्यपेक्षाया–मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतं, बुद्धिपूर्वापेक्षापायात् तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात् । तद्विपरीतं पौरुषापादितं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात, तत्र दैवस्य गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्, न पुनरन्यतरस्याभावात् अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थायाः । तथापेक्षानपाये परस्परं सहायत्वेनैव दैवपौरुषाभ्यामर्थसिद्धिः । इति स्यात्सर्वं दैवकृतमबुद्धिपूर्वापेक्षातः । स्यात् पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वापेक्षातः । स्यादुभयकृतं क्रमार्पिततदद्वयात् । स्यादवक्तव्यं सहार्पिततदद्वयात् । स्याद्दैवकृतावक्तव्यमबुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततदद्वयात् । स्यात्पौरुषकृतावक्तव्यं बुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततदद्वयात । स्यात्तदुभयावक्तव्यमेव क्रमेतरार्पिततदद्वयात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववत् ॥ ९१ ॥

दैवैकान्तादिपांशुप्रसरनिरसनोद्भूतसामर्थ्यवृत्तिः, मन्मार्गव्यापिनीयं पवनततिरिवाज्ञानखेदं हरन्ती ॥
बन्धं प्रध्वंसमद्धा सकलमपि बलादानयन्ती निनान्तं, नीतिः स्याद्वादिनीद्धा दृगवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात्॥१॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतावष्टमः परिच्छेदः ॥८॥

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामित्यादिव्यवस्थापनेऽपि पाक्षिकदैवपुरुषकारैकान्तप्रसङ्गादनेकान्तव्याप्तिभङ्गः, बुद्धिपूर्वके कृष्यादौ दैवजन्यत्वस्याबुद्धिपूर्वकेवाऽभ्रविकारादौ यत्नजन्यत्वस्य व्यभिचारात् । पूर्वं गौणप्रधानभावेन सर्वत्रोभयजन्यत्वं साधयित्वा पश्चादयमेकतरहेतुप्राधान्यापेक्षया पाक्षिको विभाग इति चेत्, तर्हि स्यात् सर्वं दैवकृतमित्यादौ सर्वपदोपादानानुपपत्तिः, सामान्यहेतुत्वापेक्षया ते भङ्गा इति चेत्, तर्हि तेषु बुद्धिपूर्वापेक्षादिहेत्वभिधानानुपपत्तिः, अव्यापकत्वात्, सर्वत्र यथा कथञ्चिद्दैवपुरुषकारोभयकृतत्वस्य प्रामाणिकत्वे च घटे दण्डचक्रोभयजन्यत्ववदेक एव भङ्गः स्यात्, युगपदुभयजन्यत्वादेरेकवाक्यतया वक्तुं शक्यत्वात्, न्यूनाधिकव्यापारवत्त्वस्यापि साधारण्येनोभयत्राविशेषात्, विविक्तस्य च तस्य पाक्षिकभङ्गस्याक्षित्वात्, तस्मात् ' पुव्वकयं कम्मं चिय, चित्तविवागमिह भन्नई दिव्वं । कालाइएहिं उप्पा–यणं तु तह पुरिसगारुत्ति ॥ १ ॥ " इति श्रीहरिभद्रार्योक्तरीत्या कालादिकृतकर्मविपाकपरिणामरूपस्य पुरुषकारस्य तत्त्वतो दैवव्यापारत्वसिद्धेर्व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वानन्यथासिद्धत्वयोर्व्यवहारनिश्चयाधीनत्वात्तद्विवक्षा कृता स्यात्, सर्वं दैवकृतमित्यादयः सप्तभङ्गा द्रष्टव्याः। मोक्षे ज्ञानजन्यत्वक्रियाजन्यत्वसप्तभङ्गीकरणेऽप्या एवोपायत्वात्, अत एव परमार्थतः सर्वत्र नियतानियतेऽपि वस्तुन्याजीविकसमयप्रसिद्धं नियतिजन्यत्वमुपमृद्य पुरुषकारजन्यत्वं भगवद्वचोऽनुसारिभिर्व्यवस्थाप्यते, मतान्तरहेतोर्नयस्य नयान्तरेण खण्डनस्यापि शास्त्रार्थत्वात्, नियतानियतसप्तभङ्गीप्रवृत्तौ तु नियतिजन्यताग्राहकोऽपि नय आश्रीयते एव, दाहकोऽपि वन्हिरिव पाकादाविति तत्र तत्र व्यवस्थितं, अथवा दैवशब्देन कालादिचतुष्टयं गृह्यते, पौरुषशब्देन चात्मप्रयत्नः, तत्कृतत्वं च तदव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकत्वं तच्छब्दार्थश्च सामग्रीप्रविष्टो वाच्य इति, तत्त्वाविनिर्गमात्

स्याद्दैवकृतं सर्वमित्यादिसप्तभङ्गीप्रवृत्तिरविरुद्धा. ईदृशविवक्षामहिम्ना स्याद्दण्डजन्यो घटः स्याच्चक्रजन्य इत्यादि सप्तभङ्गी-प्रवृत्तेरपि सम्भवादेकस्वभावेनोभयजन्यत्वविवक्षायामवक्तव्यत्वतद्घटितभङ्गानामपि सावकाशत्वादिति युक्तमुत्पश्यामः । यच्च नियतिद्वात्रिंशिकायां ॥ "ज्ञानमव्यभिचारं चे-ज्जिनानां मा श्रमं कृथाः ॥ अथ तत्राप्यनेकान्तो, जिताः स्मः किन्तु को भवान् ॥ १ ॥" इति भगवद्ज्ञानरूपनियत्येकान्तदृढीकरणम्. तद्ज्ञानज्ञेयपरिणामयोः समनियमप्रतिपादके "जं जहा जं भगवया दिट्ठं, तं तहा तं विपरिणाम (णमइ)" इति परमर्षिवाक्ये कार्यकारणभावग्राहकत्वाद्यध्यारोपेण नयवचने आहार्यारोपस्यापि निमित्तत्वादित्याद्युप(नयोप)देशामृततरङ्गिण्यां प्रपञ्चितमस्माभिः ॥ ९१ ॥

दैवं बलीय इति केचन पौरुषं च, केचिद् वदन्ति न तु तुल्यवदाद्रियन्ते ॥
तत्पक्षपातविषमाचलपक्षपात-वज्राभिघातसमतामियमेति युक्तिः ॥ १ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणेऽष्टमः परिच्छेदः ॥ ८ ॥

ॐ ॥ अथ नवमः परिच्छेदः ॥ ॐ

सम्यगवबोधपूर्वं, पौरुषमपसारिताखिलानर्थम् ॥ दैवोपेतमभीष्टं, सर्वं संपादयत्याशु ॥ १ ॥

पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि ॥ अचेतनाकषायौ च, बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

द्विविधं हि दैवं, पुण्यं पापं च प्राणिनामिष्टानिष्टसाधनमुक्तं, ‘ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्, इतरत् पापम्,’ इति वचनात्। तदास्रवनिमित्तविप्रतिपत्तिप्रतिपत्त्यर्थमिदमुक्तम । तत्र परसंताने दुःखहेतुः पुरुषः पापमात्मन्यास्रवयति सुखहेतुः पुण्यमिति परत्र सुख-दुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतनाः क्षीरादयः कण्टकादयो वा न बध्येरन् ? परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात् । चेतना एव बन्धार्हा इति चेत्, तर्हि वीतरागाः कथं न बध्येरन ? तन्निमित्तत्वाद्बन्धस्य । तेषामभिसन्धेरभावान्न बन्ध इति चेत्, तर्हि न परत्र सुखदुःखोत्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः संभवति ॥ ९२ ॥

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखा-त्पापं च सुखतो यदि ॥ वीतरागो मुनिर्विद्वां-स्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसंतोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात् ।

स्यान्मतं–‘ स्वस्मिन् दुःखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसंधेरभावान्न पुण्यपापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसंधि-निबन्धनत्वात् ’ इति तर्ह्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता । आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात् । ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासंभवात् । न हि पुण्यपापोभयबन्धाभावासंभवे मुक्तिर्नाम, संसृतेरभावप्रसङ्गात् । ततो नैतावेकान्तौ संभाव्येते दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् सदाद्येकान्तवत् ॥ ९३ ॥

मत्तव्यालकरालकालफणिराडुत्फालसिंहार्णव–ज्वालाजालजटालपावकरणप्रौढव्यथाबन्धजाः ॥
यान्त्यष्टापि भियः क्षयं भवभृतां यन्नाममन्त्रस्मृते–स्तं श्रीमत्फलवर्द्धिमण्डनमहं ध्यायामि पार्श्वप्रभुम् ॥१॥

नवमे दैवभेदपुण्यपापाश्रवविचारः, पापं ध्रुवमिति, परे स्वभिन्नात्मनि, निमित्तन इति परगतसुखदुःखनिमित्त-भावादित्यर्थः ॥९२॥ तदभिमन्धिनिबन्धनत्वादिति वक्ष्यमाणविशुद्धिसङ्क्लेशरूपपुण्यपापाशयकारणकत्वादित्यर्थः, तेन तत्त्वज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य विहितनिषिद्धाचरणेऽपि मिथ्याज्ञानवासनाभावान्नादृष्टमिति नैयायिकादिमतमपास्तम् । रागद्वेषाभावादेव तस्य बन्धासिद्धेः, अन्यथा तत्त्वज्ञानस्यापि विहितत्वेन विनश्यदवस्थ--मिथ्याज्ञानवासनासहकृततज्जन्यशुभादृष्टस्यानन्तत्वादनिर्मोक्षापत्तेः, निषिद्धाचरणस्य च तस्यानुचितप्रवृत्तिजनकमोहाभावेनैव दूरापास्तत्वात् । एतेनेश्वरार्पणबुद्ध्या फलानुद्देशेन प्रतिपदोक्तफलत्यागेन विविदिषार्थतया वा कृतात्कर्मणोऽदृष्टानुत्पत्तिरिति वेदान्तिमतमप्यपास्तम्, ईदृशब्रह्महत्यादेरपि पापानुत्पत्त्यापत्तेः । श्येनादिनाऽतिप्रसङ्गेन वेदोक्तत्वस्याप्यविनिगमस्यत्वादिति दिग् ॥ ९३ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते व्याहतेरनभिधेयतायामनभिधेयाभिधानविरोधात् । कथंचिदेवेति युक्तम् । नहि स्वस्मिन्नन्यस्मिन्वा सुखात् दुःखाच्च पुण्यमेव पापमेव वा तदुभयमेव वेति वदतामव्याहतिः संभवति, नापि तथाऽवाच्यतैकान्तेऽवाच्यमित्यभिधानमविरुद्धं, यतः स्याद्वादो न युक्तः स्यात् ॥ ९४ ॥ कथं स्याद्वादे पुण्यपापास्रवः स्यादित्याहुः—

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्, स्वपरस्थं सुखासुखम् ॥ पुण्यपापास्रवो युक्तो, न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥९५॥

आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वं, न चान्यथातिप्रसङ्गात् !, विशुद्धिकारणस्य विशुद्धि- ॥३२८॥

कार्यस्य विशुद्धिस्वभावस्य वा विशुद्ध्यङ्गस्य, संक्लेशकारणस्य संक्लेशकार्यस्य संक्लेशस्वभावस्य वा संक्लेशाङ्गस्य च, सुखस्य दुःखस्य वा तदुभयस्य वा स्वपरोभयस्थस्य पुण्यास्रवहेतुत्वं पापास्रवहेतुत्वं च यथाक्रमं प्रतिपत्तव्यम् । न चान्यथा, यथोदितप्रकारेणातिप्रसङ्गस्येष्टविपरीतेपि पुण्यपापबन्धप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । कः पुनः संक्लेशः का वा विशुद्धिरिति चेदुच्यते,—आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम् । तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं, ‘ आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो, विपरीतं मनोज्ञस्य, वेदनायाश्च, निदानं चेति सूत्रचतुष्टयेन तथाप्रतिपादनात् । रौद्रध्यानं चतुर्विधं, हिंसादिनिमित्तभेदात् ‘ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमित्यत्र सूत्रे प्रकाशनात् । ‘ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ’ त एव संक्लेशपरिणामा इति न विरुध्येते तेषामार्तरौद्रध्यानपरिणामकारणत्वेन संक्लेशाङ्गत्ववचनात्, तत्कार्यहिंसादिक्रियावत् । ‘ कायवाङ्मनःकर्म योगः ’ ‘ स आस्रवः, ’ ‘ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्ये ’ त्यपि न विरुद्धं, कायादियोगस्यापि तत्कारणकार्यत्वेन संक्लेशत्वव्यवस्थितेः । एतेन तदभावे विशुद्धिः सम्यग्दर्शनादिहेतुः धर्म्यशुक्लध्यानस्वभावा तत्कार्यविशुद्धिपरिणामात्मिका च व्याख्याता, तस्यामेवात्मन्यवस्थानसंभवात् । तदेवं विवादाध्यासिताः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवः संक्लेशकारणकार्यस्वभावाः प्राणिनामशुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः संक्लेशाङ्गत्वाद्विषभक्षणादिकायादिक्रियावत् । तथा विवादापन्नाः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवो विशुद्धिकारणकार्यस्वरूपाः प्राणिनां शुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवो, विशुद्ध्यङ्गत्वात् पथ्याहारादिकायादिक्रियावत् । ये शुभाशुभफलपुद्गलास्ते पुण्यं पापं च कर्मानेकविधम् । इति संक्षेपात्सकलशुभाशुभकर्मास्रवबन्धकारणं सूचितं भवति, विस्तरतस्तस्यास्रवबन्धाध्याये सुनिरूपितत्वात् । ततः स्यात् स्वपरस्थं सुखदुःखं पुण्यास्रवहेतुर्विशुद्ध्यङ्गत्वात् । स्यात् पापास्रवहेतुः, संक्लेशाङ्गत्वात् । स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्-

द्वयात् । स्यादवक्तव्यं, सहार्पिततद्द्वयात् । स्यात् पुण्यहेतुरवक्तव्यं च, स्यात्पापहेतुरवक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं च, स्वहेतुविषयात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववद्योजनीया ॥ ९५ ॥

विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गं चेदिति, अत्राङ्गशब्दार्थं त्रिधा व्याचष्टे विशुद्धिकारणस्येत्यादिना, विशुद्धिस्वभावत्वमकारणाकार्यत्वे सति तन्नियतत्वम्, एवं सङ्क्लेशस्वभावत्वमपि व्याख्येयम् । अत्र निश्चयतो विशुद्धिसंक्लेशयोरेव पुण्यपापहेतुत्वं, व्यवहारतस्तु तदुत्कर्षकत्वेन तद्द्वारा तदङ्गनानाविधबाह्यहेतूनामिति नयविभागो द्रष्टव्यः, तथा च पारमर्षम् " अणुमित्तो वि ण कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ ॥ तह वि खलु जयंति जइणो, परिणामविसोहिमिच्छंता ॥१॥ " इत्यादि । नन्वागमे मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वमुक्तम्, अत्र तु सङ्क्लेशाङ्गस्येति कथं न विरोध इति चेत्, न, आगमे उपादानहेतूनामेव परिसङ्ख्यानादत्र च तेषामन्येषां च सङ्क्लेशाङ्गपदोपादानेनैव सङ्ग्रहादविरोधादित्याशयवानाह–मिथ्यादर्शनाविरतीत्यादि, कायेत्यादि, सङ्क्लेशाङ्गव्याख्यानस्य या दिक् सैव विशुद्ध्यङ्गव्याख्यानस्येत्यतिदिशति–' एतेनेत्यादि ' एवं व्यवस्थिते बाह्यक्रियाणां कर्मपुद्गलसम्बन्धहेतुत्वं साधयितुमनुमानप्रयोगमाह--तदेवं विवादाध्यासिता इत्यादिना, स्यादवक्तव्यं सहार्पितद्वयादिति प्रशस्ताप्रशस्तभेदेनाध्यवसायस्थानानां द्विविधानामेव व्यवस्थितत्वात्तृतीयराश्यभावेनैकदाविशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गोभयरूपस्य कस्यापि व्यापारस्य वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । यत्तु अविधिना दानादिव्यापारस्य शुभाशुभयोगत्वमुच्यते, तद्व्यवहारत एव, न तु निश्चयतः, तत्राविधिदानपरिणामयोर्यदंशे उत्कटत्वं तदंशस्यैव फलवत्त्वं, नान्यस्य, अन्यथा ततो मिश्रकर्मबन्धप्रसङ्गात् . न च मिश्रं कर्म किञ्चिदस्ति बन्धतः, केवलं सङ्क्रमत एव मिश्रमोहनीयमेक-

मस्तीत्याद्यर्थस्य महाभाष्ये व्यवस्थितत्वात्। यदपि कुशलाकुशलं कर्म तत्त्वार्थभाष्ये परिगणितं तदपि न बन्धतः, किन्त्वनुबन्धत इति विस्तरेण व्यवस्थापितं तर्कभाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायामस्माभिरिति तत एव तदवधार्यं सुधीभिः॥९५॥

न किंचित्पापाय प्रभवति न वा पुण्यजननये, प्रवृद्धद्वां शुद्धिं समभिवसतो ध्वंसविधुराम्।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्धयङ्गमपरं, मतं पापायैवेत्युदितमवताद्वो मुनिपतेः॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ नवमः परिच्छेदः॥

'न किञ्चित्पापायेत्यादि नवममसाप्तिपद्यं विद्यानन्दस्य। अत्रेदं मनाग् मीमांसामहे। यद्येवं शुद्धोपयोगभूमिकामारूढस्य मुनेश्चिच्चमत्कारमात्रविश्रान्तसतत्त्वस्य बाह्यहेतोरकिञ्चित्करत्वं, तदा प्रतिक्रमणक्रियाऽपि तं व्यभिचरेत्, व्यभिचरेदेव प्रतिक्रमणप्रतिचरणाविज्ञानधारणाबुद्धीहामतिविकल्पाष्टकस्य प्राग् दशायाममृतकुम्भत्वस्योत्तरदशायां च विषकुम्भत्वस्य समयप्राभृतेऽभिधानादिति चेत्, इदमेव तर्हि विचारणीयं प्रागदशायाममृतकुम्भत्वं किं तस्य शुभोपयोगहेतुत्वादुताऽऽरूढपातित्यपरिहारार्थत्वात् किं वा स्वातन्त्र्येण निर्जरार्थत्वादुताहो स्वभावसमवस्थानालम्बनत्वात् अथवा विहितक्रियोपदेशप्रणेतृस्मरणद्वाराभगवत्समापत्तिहेतुत्वात् किंवा स्वगुणस्थानोचितत्वादथवा नानाक्रियासमूहालम्बनसामायिकपरिणामान्तःपातित्वादुत योगसाधनत्वादित्यष्टौ विकल्पा उपतिष्ठन्ते, नाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः, शुभोपयोगहेतुमुनेः प्राक्क्रियाया आश्रयणी-

यत्वेऽनुकम्पादानादेरपि तथात्वापत्तेः। न द्वितीयः, प्रागुदशायामारुरुक्षुतयारूढत्वस्याप्रसङ्गेनैतत्पातित्यपरिहारार्थताया दूरापास्तत्वात्। न तृतीयः, स्वातन्त्र्येण निर्जरार्थताया उत्तरदशायामप्यव्याहतत्वेन तदा विषकुम्भत्ववचनस्यैव विषकुम्भत्वापत्तेः। अत एव न चतुर्थादयः, सिद्धयोगस्य योगसाधनानपेक्षणात्, पूर्वं तु तदपेक्षावश्यकत्वात्॥ अष्टमोऽवशिष्यते, सोऽपि, "यान्येव साधनान्यादौ, गृह्णीयाद् योगसत्त्वकः (साधकः)॥ सिद्धयोगस्य तान्येव, लक्षणानि विदुर्बुधाः॥१॥" इत्युक्तरीत्या निर्लोठनीयः। शमदमादीनामिव प्रतिक्रमणादिक्रियाया उत्तरदशायां योगिनो लक्षणत्वेन विषकुम्भत्वायोगात्, प्रत्युत स्थिरामृतकुम्भत्वस्यैव सिद्धेः, न चाव्यभिचारिलक्षणत्वाभावान्नैवं, स्वकालेऽव्यभिचारित्वात्, पर्यन्ते तु शुद्धधर्मसन्न्यासोत्पत्तौ क्षायोपशमिकानां शमदमादीनामपि नाशोपगमात्, तस्मात् पूर्वोत्तरभूमिकयोर्वचनासङ्गानुष्ठानतयैव क्रियाभेदो यथाऽस्मत्साम्प्रदायिकैर्लक्षितस्तथा श्रेयान्, न तु परोक्तामृतविषकुम्भदृष्टान्तेन, परायां दृष्टौ ममाधिकाले आरूढारोहणाभावन्यायेन क्रियाया अनुपयोगाभिधानं तु शमादेरिवाभिनवग्रहणापेक्षया, न तु विषकुम्भत्वदृष्ट्या, प्रतिपन्ननिर्वाहस्यान्ततो लोकशिक्षार्थं परमयोगिनोऽप्यभिधानात्, शुभोपयोगकालेऽपि साधोः क्रियातो धर्मप्राप्तिश्च पुष्टिशुद्धिमच्चित्तान्वयेन लक्षणीया, तस्यैवोभयोपयोगसाधारणत्वेन धर्मलक्षणत्वात, उभयसंवलनेऽपि शुद्ध्याधिक्येन साधोर्धर्माधिकारित्वाव्याहतेः, अधिकारद्वयफलद्वयकल्पनायां गौरवाच्चारित्रधर्मप्रवृत्तावशुभोपयोगराहित्यस्यैकाधिकारस्यैव कल्पने लाघवात्, गुप्तिमत एवाधिकारित्वे तु गुप्तित्वमेकं प्रवीचाराप्रवीचारसाधारणमधिकारतावच्छेदकमेकं कल्पनीयम्, किं बहुना धर्मार्थिक्रियायामनुषक्ततः पुष्टेः प्राधान्यतश्च शुद्धेराप्तिरिति न काचन क्षतिः। एवं च स्थिरादिदृष्टिमतां सूत्रोक्ता प्रतिक्रमणादिक्रिया रत्नशिक्षानियोजनदृष्टिवद्भिन्नाभिन्नैव

शुद्धिनिबन्धनं, नतूत्तरोत्तरं तद्विलोप एवेति प्रतिपत्तव्यम् । यथा च युक्ताहारविहारक्रियाप्रवचनसाराद्युक्तक्रमेण चारित्रोपयोगिनी तथा युक्तोपकरणधारणादिक्रियापि किं न स्यात् "जं पि वत्थं व पायं वा" इत्यादिविधिश्रुतानां तत्रोपलम्भात्, बाह्यपुद्गलप्रवृत्तेर्मूर्च्छानिमित्तत्वे आहारादावप्यप्रवृत्त्यापत्तेः, आहारादिक्रिया ध्यानदीपे तैलप्रचारतुल्यत्वेनाश्रयणीयत्वे युक्तोपकरणधारणस्यापि निर्वातदेशस्थापनतुल्यत्वेनाश्रयणीयत्वाविशेषात्, नान्यस्य चारित्रासाधारणकारणत्वेन मूलगुणत्वे वस्त्रस्य च तत्प्रतिबन्धकत्वेऽभ्युपगम्यमाने न किञ्चित्पापायेत्यादिस्वप्रतिज्ञाया एव दुरुत्प्रेक्षितत्वापत्तेः, तस्मात् ॥ "मूर्च्छाच्छन्नधियां हन्त, जगदेव परिग्रहः ॥ मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ॥१॥" इत्याद्यस्मदुक्तं विमृश्य धर्मलक्षणं च पुष्टिशुद्धिमच्चित्तरूपमेवादृत्य यथासूत्रं प्रवृत्त्यैव शुद्धाध्यवसायनिर्वाहः कार्य इत्यस्माकं हितोपदेशः ॥ १५ ॥"

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-मेतावतैव यदि चेतयते न कोऽपि ॥
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १ ॥
विशुद्धिसंक्लेशजपुण्यपापे, प्रतिक्रिया यत्र नियम्यते नो ॥
ज्ञानेऽन्यहेतुश्च निज(जिन)प्रसादा-द्विना जिनाज्ञा मम सा प्रमाणम् ॥ २ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे नवमः परिच्छेदः ॥

卐 ॐ ॥ अथ दशमः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐

श्रीमदकलङ्कविवृतां, समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात्। परमागमार्थविषया-मष्टसहस्री प्रकाशयति ॥

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो, ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ॥ ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चे-दज्ञानाद्बहुतोन्यथा ॥९६॥

प्रसज्यप्रतिषेधे ज्ञानस्याभावोऽज्ञानं, पर्युदासे ततोऽन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानम्। तत्र यदि ज्ञानाभावाद् ध्रुवोवश्यंभावी बन्धः स्यात्तदा केवली न कश्चित्स्यात्। सकलविपर्ययरहितं तत्त्वज्ञानमसहायं केवलम्, "एवं तत्त्वाभ्यासा-न्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद् विशुद्धं, केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥१॥" इति वचनात्। तद्योगात्केवलीत्युच्यते। स कथं न स्यादिति चेत्, तदुत्पत्तेः पूर्वमशेषज्ञानाभावात्, करणजविज्ञानस्यातीन्द्रियार्थाविषयत्वादनुमानस्य चात्यन्तं परोक्षार्थागोचरत्वादागमस्यापि सामान्यतोऽविशेषार्थविषयत्वादयोगिनामशेषविशेषविषयज्ञानविरोधात्। न चाक्षलिङ्गशब्दज्ञानपरिच्छेद्य एवार्थस्ततोऽपरो नास्तीति शक्यं वक्तुं, ज्ञेयस्यानन्त्यात्, प्रकृतिविवर्तविशेषाणां पुरुषाणां चानन्ततोपगमात्। स्यान्मतं,- 'प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेवागमबलभाविनः स्तोकादपि तत्त्वाभ्यासस्वात्मभावात् केवलज्ञानभृद्भवेत्। स एव च तस्य विमोक्षः पुनः संसारभावादनागतबन्धनिरोधात्' इति, तदप्ययुक्तं, स्तोकज्ञानापेक्षया बहोरज्ञानाद्बन्धस्य प्रसङ्गाद्देष्यद्बन्धरोधासंभवाद् विमोक्षानुपपत्तेः। अथ तत्त्वज्ञानेन स्तोकेनापि बहोरज्ञानस्य प्रतिहतशक्तिकत्वान्न तन्निबन्धनो बन्धः संभवतीति मतं, तदप्यसत्, प्रतिज्ञातविरोधात्। यत् खलु प्रतिज्ञातमज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इति तद्विरुध्यते। अथाखिलज्ञानाभावादज्ञानादवश्यंभावी बन्धो न ज्ञानस्तोकमिश्रणादिति मतं, तदप्यसम्यक्, सर्वदा बन्धाभावप्रसङ्गात्, सर्वस्य

प्राणिनः किंचिज्ज्ञानसंभवान्मुक्तौ बन्धप्रसक्तेश्च, तत्र सकलज्ञानाभावस्य बन्धहेतोः संभवात्, असंप्रज्ञातयोगावस्थायां च "तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" इति वचनात्। स्वरूपं च पुंसश्चैतन्यमात्रं सकलज्ञानरहितम्। इति मोक्षहेतुरेव बन्धहेतुः स्यात्। यदि पुनस्तत्त्वज्ञानस्य प्रागभावाद्बन्धो न प्रध्वंसाभावादिति मतं, तदा समाविर्भूततत्त्वज्ञानस्य कस्यचित् कुतश्चिद्विपर्ययज्ञानकारणादन्तरङ्गाद्बहिरङ्गाद्वा विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ तत्त्वज्ञानप्रध्वंसाद्बन्धः कथं युज्येत?, स्यान्मतं,—सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसंप्रज्ञातयोगोत्पत्तौ तु तत्त्वज्ञानस्यापि नाशादशेषज्ञानाभावाख्यादज्ञानान्मोक्ष एव, ततोऽन्यस्मात् सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपाद्बन्ध एवेति, तदप्यसमाधीयः, कैवल्यभावप्रसङ्गस्याभिधानात्। स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिबद्धात्तथाविधादज्ञानाद्बन्ध इत्यपि विरुद्धं, प्रवर्तकधर्महेतोः स्तोकतत्त्वज्ञानात्प्रतिहताशेषाज्ञानशक्तिकात् पुण्यबन्धाभावानुषङ्गात्। ततो ज्ञानाभावलक्षणादज्ञानान्नावश्यंभावी बन्ध इति पक्षः क्षेमंकरः स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति पक्षवत्। अथ मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्, "धर्मेण गमनमूर्ध्वं. गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण॥ ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्ध ॥१॥" इति वचनात्। विपर्ययो मिथ्याज्ञानं सहजमाहार्यं चानेकविधमित्यभिमतं, तदप्यसत्यं, कैवल्यभावप्रसक्तेः, समयान्तरश्रवणजनितानेकविधाहार्यविपर्ययस्य सांख्यागमभावनाबलोद्भूततत्त्वज्ञानाद्विनाशेपि सहजस्य विपर्ययस्यानिवृत्तेः। केवलज्ञानात् प्राग् बन्धस्यावश्यंभावात्तन्निबन्धनमिथ्याज्ञानान्तरोद्भूतेः केवलोद्भूतिविरोधात्। न चागमबलात्सकलतत्त्वज्ञानाविर्भूतिरुपपद्यते, ज्ञेयस्य विशेषतोऽनन्तत्वादागमाविषयत्वादनुमानाद्यविषयत्ववत्, यतः कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेः केवलाविर्भावः संभाव्यते। स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्यप्यनेन निराकृतं, बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धस्य प्रसक्तेः। स्तोकतत्त्वज्ञानप्रतिहताद्बहुतो मिथ्याज्ञानान्न बन्ध इति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्? कथं वा स्तोकतत्त्वज्ञानात् प्रवर्तकधर्मनिबन्धनात्पुण्यबन्धः? इति दुरवबोधम्।

एतेनान्त्यमिथ्याज्ञानान्न बन्ध इत्येतदप्यपास्तं, प्रतिज्ञातविरोधाविशेषात् । रागादिदोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्धो निर्दोषान्न बन्ध इत्यपि प्रतिज्ञातविरोधि कापिलानां, वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्षवचनवत् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं, यदुक्तं परेण 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयस' इति, मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोद्भूतौ दोषाच्च प्रवृत्तेर्धर्माधर्मसंज्ञिकायाः प्रादुर्भावे, ततोपि जन्मनः प्रसूतौ, ततोपि दुःखस्यैकविंशतिप्रकारस्य प्रसवे, केवलिनः साक्षादशेषतत्त्वज्ञानवतोऽसत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादिप्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः प्रमाणैः सकलतत्त्वज्ञानासंभवान्निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्त्ययोगात् सकलज्ञेयविशेषाणामानन्त्यात्, सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्रमाणभृद्भेदभ्यापरिसंख्येयत्वादिति स्वयमभिधानात् । न च मिथ्याज्ञानस्य कार्त्स्न्येनानिवृत्तौ सकलदोषनिवृत्तिः । तदनिवृत्तौ च न प्रवृत्तिनिवृत्तिः । तदनपाये च न जन्मनोऽपायः । ततो नाशेषदुःखापायश्च । इति गता निःश्रेयसकथा । यदि पुनरात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेयतत्त्वज्ञानादपरनिःश्रेयसप्राप्तिरिष्यते न पुनः प्रमाणादिषोडशपदार्थविशेषतत्त्वज्ञानाद् येन ज्ञानस्तोकादेव विमोक्षसिद्धेः केवली न स्यादिति मतं, तदा बहोर्मिथ्याज्ञानाद्बन्धः किं न भवेत् ? तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वादिति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यादित्युक्तम् ? दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्ध इति चानेन निराकृतं, योगिज्ञानात् प्राग्दोषानिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसंततेः संभवात् । एतेन वैशेषिकमतमपास्तम् 'इच्छाद्वेषाभ्यां बन्ध' इति, केवल्यभावाविशेषात्। अविद्यातृष्णाभ्यां बन्धोवश्यंभावी । "दुःखे विपर्यासमति–स्तृष्णा वा बन्धकारणम ॥ जन्मिनो यस्य ते न स्तो, न स जन्माधिगच्छति॥१॥" इति ताथागतमतमपि न सम्यक्, योगिज्ञानाभावप्रसङ्गात्। अयोगिनः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामखिलतत्त्वज्ञानरूपाया विद्याया एवायोगात् तद्विशेष(षय)ज्ञेयस्यानन्त्यात् । स्वय 'मनन्ता लोकधातव' इति वचनात्। न चाविद्यानुच्छेदे तृष्णा निवर्तते यतः सुगतः स्यात्। अथ ज्ञानस्तोका-

द्विमोक्ष इष्यते, हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः सुगत इति वचनात् । तर्हि बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धः सिध्यतु, तन्निबन्धन-तृष्णाया अपि संभवात् । कथमन्यथा मिथ्यावबोधतृष्णाभ्यामवश्यंभावी बन्ध इति प्रतिज्ञा न विरुध्यते ? एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं वृद्धबौद्धैः 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतनं षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानमुपादानप्रत्ययो भवो भवप्रत्यया जातिर्जातिप्रत्ययं जरामरणम्' इति द्वादशाङ्गं प्रतीत्य समुत्पादस्य संभवात्, क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखेषु तद्विपरीतज्ञानलक्षणाविद्योदये कचिदपि ज्ञेये तत्प्रत्ययसंस्काराणां पुण्यापुण्यानेज्य(क)प्रकाराणां शुभाशुभानुभयविषयाणामवश्यंभावात्, तद्भावे च वस्तुप्रतिविज्ञप्तिलक्षणविज्ञानस्य विकल्पात्मनः संभवात्, तत्संभवे च विज्ञानसमुद्भूतरूपवेदनासंज्ञासंस्कारज्ञानलक्षणनामपृथिव्यादिभूतचतुष्टयात्मकरूपसमुदायलक्षणस्य नामरूपस्य सिद्धेः, तत्सिद्धौ च चक्षुरादिषडायतनस्यात्मकृत्यक्रियाप्रवृत्तिहेतोः प्रसूतेः, तत्प्रसूतौ च तद्धतूनां षण्णां स्पर्शकायानां रूपं चक्षुषा पश्यामी-त्यादिविषयेन्द्रियविज्ञानसमूहलक्षणानां प्रादुर्भावात् तत्प्रादुर्भावे स्पर्शानुभवलक्षणाया वेदनायाः सद्भावात्, तत्सद्भावे च विषया-ध्यवसानलक्षणतृष्णायाः समुत्पादात्, तत्समुत्पादे तृष्णावैपुल्यलक्षणस्योपादानस्योदयात्, तदुदये च पुनर्भवजनककर्मलक्षणभवस्य भावात्, तद्भावे चापूर्वस्कन्धप्रादुर्भावलक्षणाय। जातेरुत्पादात्, तदुत्पत्तौ च स्कन्धपरिपाकप्रध्वंसलक्षणजरामरणसद्भावात् केवलिनः कस्यचित्सुगतस्यासंभवप्रसङ्गात्, अन्यथा प्रतिज्ञातविरोधात् । ततः सूक्तं, यदि बन्धोयमज्ञानान्नेदानीं कश्चिन्मुच्यते, सर्वस्यैव कचि-दज्ञानोपपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यादिति केवलिनः प्राक् सर्वज्ञासंभवात् । यदि पुनर्ज्ञाननिर्ह्रासाद्ब्रह्मप्राप्तिरज्ञानात् सुतरां प्रसज्येत, दुःखनिवृत्तेरिव सुखप्राप्तिः । न ह्यल्पदुःखनिवृत्तेः सुखप्राप्तौ बहुतरदुःखनिवृत्तौ सुतरां सुखप्राप्तिरसिद्धा, येन ज्ञानहानेरल्पायाः परब्रह्मप्राप्तौ सकला-

ज्ञानात्तत्प्राप्तिः सुतरां न स्यात् । ततो नायमेकान्तः श्रेयानाभासते ज्ञानस्तोकान्मोक्ष इति, अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इत्येकान्तवत ॥९६॥

इन्द्रः सन्देहजातं द्विजहृदयगतं बाल्यकालेऽप्यपृच्छद्-व्युत्त्वोच्चैरामने यं शुचिनयविधिना यश्च तं द्रागभाङ्क्षीत् ॥
ऐन्द्रं यस्माच्च जातं तदनुयवपदैर्निश्चितं शब्दशास्त्रं, शब्दब्रह्मैकसिन्धुः स जयतु चरमस्तीर्थकृद्विश्वबन्धुः ॥१॥

क्रियाः प्रिया यत्स्मरणेन सर्वाः, शास्त्राणि यत्साधनतत्पराणि ॥
चिदात्मना व्यापकतां श्रितो यो, ध्यायामि सिद्धं तमनादिशुद्धम् ॥ २ ॥

दशमे किञ्चिद् व्याख्यायते—प्रतिज्ञानविरोधाविशेषादिति अन्यमिथ्याज्ञानान्न बन्ध इत्युक्तौ मिथ्याज्ञानमात्रात् बन्ध इति मूलप्रतिज्ञासंन्यासादेवेत्यर्थः । वस्तुतोऽन्त्यव्यतिरिक्तं मिथ्याज्ञानं बन्धहेतुरन्त्यतत्त्वज्ञानं च मोक्षहेतुरित्ययुक्तं, तत्र बन्धमोक्षजनकतावच्छेदकव्यवस्थितजात्योर्मानाभावात्, मिथ्याज्ञानवासनाद्वारानुत्पत्तितद्ध्वंसद्वारोत्पत्तिभ्यामुपान्त्यादिव्यावृत्तत्वतदनुवृत्तत्वयोर्विनिगमनाविरहात्, मिथ्याज्ञानवासनाया एव बन्धहेतुत्वोपगमे च मतान्तरप्रवेशप्रसङ्गात्, तस्या अपि स्मृत्येकनाश्यत्वौचित्ये तत्त्वज्ञानात् पूर्वं मिथ्यास्मृतिकल्पने स्मरणस्य स्मरणजनकत्वपक्षेऽपि तत्त्वज्ञानोच्छेदाच्च । किं चागमजन्यतत्त्वज्ञानापेक्षयाऽनादिवासनादोषजन्यमिथ्याज्ञानस्य बलवत्त्वात् तत्सत्त्वे कथं तत्त्वज्ञानम् । दोषजन्यमिथ्याज्ञानापेक्षया दोषाभावसहकृतागमजन्यतत्त्वज्ञानस्यैव बलवत्त्वमिति चेत्, तर्हि सम्यग्दर्शनरूपतत्त्वज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविरोधित्वमेव, बन्धहेतुत्वं तु कषायोदयसहकृताज्ञानमात्रस्यैवेति समर्थयिष्यमाणं प्रवचनवचनमेव विजयते, एतेन “आत्मानं चेद्विजानीया—दहमस्मीति पूरुषः ॥ किमिच्छन् कस्य कामाय, शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥” इत्यखण्डानन्दस्वरूपात्मज्ञानादेव मोक्षः,

सार्वज्ञ्यं तु तत्र नोपयुज्यते, तस्य तपोजन्यातिशयविशेषरूपस्यासार्वत्रिकत्वादित्यादिना वेदान्तिभिः समर्थितः स्तोकज्ञानपक्षोऽपि निरस्तः। आत्मज्ञानस्यापि केवलस्य बन्धहेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनवकाशात्, दोषापेक्षायां चास्मन्मतप्रवेशात्, निर्विकल्पकात्मज्ञानस्य मिथ्याज्ञानवासनानाशकत्वे मानाभावाच्चेति दिग्। मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोत्पत्ताविति मिथ्याज्ञानस्य बन्धहेतुत्वात्तस्य च दोषहेतुत्वात्ततस्तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वादिति भावः। न च दोषस्य बन्धहेतुकत्वमप्रामाणिकं, ममेऽपीष्टानिष्टादिसन्निधाने मोहबन्धोपनतनद्विपाकोत्कर्षापकर्षाभ्यां तदुत्कर्षापकर्षदर्शनात्तस्य तद्धेतुकत्वसिद्धेरिति ध्येयम्। तदा बहोरिति न च तत्त्वज्ञानमिथ्याज्ञानयोः स्तोकत्वं बहुत्वं वाऽप्रयोजकं, किन्तु "प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम" इति सूत्रात्तर्कपरिशुद्धिजनितप्रमाणादिषोडशपदार्थसमूहालम्बनज्ञानविशेष एव मोक्षहेतुः, तदभाव एव च बन्धहेतुरित्यस्माकमभ्युपगम इति वाच्यम्। तस्य श्रद्धामात्रशरणत्वात्, सर्वैः स्वस्वाभ्युपगतपदार्थतत्त्वज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वोक्तेः। अथ प्रमाणादिपदार्थपरिशोधनमप्यात्मसाक्षात्कारायैवोपयुज्यते स एव श्रवणमनननिदिध्यासनजनितो मोक्षहेतुरिष्यते, "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य" इत्यादिश्रुतावार्थक्रमस्य बलवत्त्वादात्मश्रवणादिना तद्दर्शनं भावयेदित्यर्थादित्यात्मज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वाद्बहुस्तोकादिपक्षाश्रयणमनतिप्रयोजनमिति चेत्, न, आत्मसाक्षात्कारस्यापि यावत् स्वेतरभिन्नत्वप्रकारकस्याश्रयणे सार्वज्ञ्यपक्षानतिक्रमात्, अन्यथा तत्त्वज्ञानजनकमननोपयोगितया प्रमाणादिपदार्थपरिशोधनानापत्तेः। किञ्च शरीरादिभिन्नत्वांशे लौकिकस्य तस्य कथमपरोक्षशरीराद्यभेदभ्रमनिवर्त्तकत्वमिति सर्वांशस्पष्टतार्थं सर्वविषयकत्वमेव युक्तमिति दिग्। एतेनैतदपीत्यादिना वृद्धबौद्धप्रक्रियाप्रदर्शनपूर्वं तन्मतखण्डनं कृतं, तत्त्वज्ञानात् पूर्वमविद्याया अनाशे तन्मूलसंस्काराद्यनुवृत्तौ तत्त्व-

ज्ञानोत्पत्त्ययोगेन सुगतस्य केवलिन एवासिद्धेः। यदि च यथा कण्टक एव कण्टकं हरति, पित्तादिदोषोत्पादनेनैव चौषधं वातादिदोषं तथा शमदमाद्यविद्याविलास एव संसारमूलाविलासमिति मतं, तदा केवलादज्ञानाद्बन्ध इति स्वप्रक्रियाव्याघात एव, कषायैकार्थसमवेताज्ञानस्यैव बन्धहेतुत्वप्रसक्त्याऽस्मन्मतसाम्राज्यात्, अपकृष्टाज्ञानस्य तत्वज्ञानाप्रतिबन्धकत्वोक्तावप्युत्कृष्टाज्ञानत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वव्यवस्थितावुत्कर्षस्य कषायसामानाधिकरण्यातिरिक्तत्वे मानाभावात्, अन्यव्यावृत्त्यादिविशेषस्य तत्र तत्र बहुशो निर्लोठितत्वादितिदिग्। ज्ञाननिर्ह्रासात् अल्पज्ञानहानेः ॥९६॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा ज्ञानस्तोकान्मोक्षो बहुतश्चाज्ञानाद्बन्ध इत्येकान्तयोरविरोधः स्याद्वादन्यायविद्विषां सिध्यति, येन तदुभयैकात्म्यं स्यात्। तथाऽवाच्यतैकान्ते स्ववचनविरोधः पूर्ववत् ॥९७॥

कुतस्तर्हि पुण्यपापबन्धः प्राणिनां येनाबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः स्यात्? कुतो वा मोक्षो मुनेर्यतः पौरुषादिष्टसिद्धिर्बुद्धिपूर्वा स्यात्? चार्वाकमतमेव वा 'बन्धमोक्षाभाव एव परलोकाभावा'दिति न भवेत्? इत्यारेकां निराचिकीर्षवः प्राहुः—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो, न ज्ञानाद् वीतमोहतः ॥ ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद्-मोहान्मोहिनोन्यथा ॥९८॥

मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः स्थित्यनुभागाख्यः स्वफलदानसमर्थः, क्रोधादिकषायैकार्थसमवायिनो मिथ्याज्ञानस्य च अज्ञानस्य च मोहनीयकर्मप्रकृतिं लक्षयतः पुंसो बन्धनिबन्धनत्वोपपत्तेः 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते

स बन्ध ' इति वचनात्, ततोन्यतोपि बन्धाभ्युपगमेतिप्रसङ्गान, क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्तेः । प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेत्, न, तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात सयोगकेवलिन्यपि संभवादविवादापन्नत्वात् । न चात्रागममात्रं, युक्तेरपि सद्भावात । तथा हि, विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसबन्धः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्तथात्वात्पथ्येतराहारादिसंबन्धवत । नात्र प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धो हेतुर्धर्मिणानेकान्तात, तस्य प्रतिज्ञार्थधर्मिधर्मसमूहैकदेशत्वेपि प्रसिद्धत्ववचनात्, अनित्यः शब्दः शब्दत्वादित्यत्रापि हेतोरसिद्धत्वविरोधात । न चात्र विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतः कश्चिद्दोषः, प्रयत्नानान्तरीयकः शब्दो विनश्वरः, प्रयत्नानान्तरीयकत्वाद् घटवदिति यथा। ननु शब्दस्य धर्मित्वे पक्षाव्यापको हेतुः स्यात, समुद्रघोषादेः प्रयत्नानान्तरीयकत्वाभावात्। ततोत्र प्रयत्नानान्तरीयकः शब्दो विशिष्टो धर्मीति चेत, तर्हि प्राणिनां पुद्गलविशेषसंबन्धस्य धर्मित्वे तथात्वस्य च हेतुत्वे दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः प्रकृतिप्रदेशबन्धाभ्यामनैकान्तिकत्वप्रसङ्गाच्च विवादापन्नत्वविशेषणमिष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वविशेषणं च युक्तम्, इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धत्वस्य हेतोः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनत्वेन व्याप्तस्य पथ्येतराहारादिषु पुद्गलविशेषसंबन्धे सुप्रसिद्धत्वादुदाहरणस्य साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावात, हेतोश्चानन्वयत्वासंभवात, विवादापन्नो धूमोग्निजन्मा धूमत्वान्महानसधूमवदित्यादिवत । न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्धः पुद्गलविशेषसंबन्धो न भवति, पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वाद्व्रीह्यादिवत । जीवविपाकिषु कर्मसु तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत, न, तेषामपि सकर्मजीवसंबन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षव्यापकत्वसिद्धेः । पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात् पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोरित्यप्यनेन निराकृतं, परम्परया पुद्गलसंबन्धेनैव तेषां विपच्यमानत्वाच्च । न किंचित्कर्म साक्षा-

त्परम्परया वात्मनः पुद्गलसंबन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति येन पौद्गलिकं न स्यात् । ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसंबन्धित्वमसिद्धम् । नापीष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वं, दृष्टकारणव्यभिचारे शुभेतरफलानुभवनस्य स्वसंविदितस्यादृष्टहेतुत्वसिद्धेः, रूपादिज्ञानस्य चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत् । नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते इति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि संग्रहात् संक्षेपत इति बुध्यामहे । ततो मोहिन एवाज्ञानाद्विशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम् । तथैव बुद्धेरपकर्षान्मोहनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्ष्यति विपर्यये विपर्यासादित्यधिगन्तव्यं, प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः क्षायोपशमिकात् केवलापेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थवीतरागचरमक्षणभाविनः साक्षादार्हन्त्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः । तद्विपरीतात्तु मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसम्परायान्तानां मिथ्यादृष्ट्यादीनां कर्मसंबन्ध एव । इति चिन्तितमन्यत्र ॥९८॥

'**मोहनीयेति**' मोहनीयकर्मप्रकृतिरत्र कषायाख्या ग्राह्या, तल्लक्षणात्तद्विशिष्टात्, **मिथ्याज्ञानस्याज्ञानस्य चेति** प्रसज्यपर्युदासाभ्यामज्ञानपदस्योभयार्थत्वादिति भावः। '**क्षीणोपशान्तेति**' न चैवं कषायत्वेनैव सामान्यतो बन्धहेतुता, किं कषायविशिष्टाज्ञानत्वेन गुरुतरकार्यकारणभावेनेति वाच्यम्। अन्वयव्यतिरेकग्रहस्यैव तत्र साक्षित्वात्, तयोश्च पथ्येतराहारादिसम्बन्धदृष्टान्तेन कर्मपुद्गलसम्बन्धं प्रत्यज्ञानत्वेनैव प्रसिद्धेः, तत्रातिप्रसङ्गभङ्गार्थं पुनः कषायैकसमवेतत्वविशेषणनिवेशात्, पटादौ तन्तुत्वादिना कारणत्वेऽप्यन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यैव प्रयोजकत्वात्, अन्यथा शक्तिविशेषाभावविशेषादेरेव हेतुत्वप्रसङ्गाद्विशेषणविशेष्यभावेन विनिगमनाविरहस्याप्यत एव निरासादिति दिग्। न चात्रेति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन

साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्चात्र न ध्वनिरूपशब्दे सिद्धसाधनम्, असाधारण्यं त्वनुकूलतर्कसाचिव्यान्न दोष इति भावः । तर्हीति तथा च पक्षतावच्छेदकमात्रस्याहेतुत्वान्न काऽपि दोषाशङ्केति भावः । आश्रयासिद्धिमाशंक्य परिहरति न चेष्टानिष्टेत्यादिना, उक्त-हेतौ भागासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति जीवविपाकिष्विन्त्यादिना, एवं विशिष्टाज्ञानैकहेतुकत्वे कर्मबन्धस्य च स्थिते सूत्रवि-रोधमाशङ्क्य परिहरति नन्वेवमित्यादिना, संग्रहात् संक्षेपत इति मिथ्यादर्शनादीनां कर्मबन्धविशेषहेतुत्वेऽपि कर्मबन्ध-सामान्ये द्वादशगुणस्थानसम्भव्यज्ञानस्यैव हेतुत्वकल्पनात्तत्रैव तदन्तर्भावादित्यर्थः । क्षीणमोहात्मोहरहितात्, भाष्ये बुद्धे-रपकर्षात् अपकृष्टबोधात्, मोहनीयपरिक्षयलक्षणात्कषायमोहोदयाभावविशिष्टात्, मोक्षः कैवल्यात्मा जीवन्मोक्षः, विप-र्यये मोहक्षयाभावे बुद्धेरपकर्षे, विपर्ययाद् बन्धसम्भवादित्यर्थः । तथा च मोहक्षयविशिष्टज्ञानत्वेन कैवल्यहेतुतैवेत्यर्थः, ॥९८॥

नन्वस्तु मोहप्रकृतिभिः कामादिदोषात्मिकाभिः सहचरितादज्ञानात् पुण्यपापकर्मणोः शुभाशुभफलानुभवननिमित्तयोः प्राणिनां बन्धः । स तु कामादिप्रभवो महेश्वरनिमित्त एवेत्याशङ्कामपाकर्तुमिदमाहुः—

कामादिप्रभवश्चित्रः, कर्मबन्धानुरूपतः ॥ तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो, जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥ ९९ ॥

कामादिप्रभवो भावसंसारोऽयं नैकस्वभावेश्वरकृतस्तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात् । यस्य यस्य कार्यवैचित्र्यं तत्तन्नैकस्वभावकारण-कृतं, यथानेकशाल्यङ्कुरादिविचित्रकार्यं शालिबीजादिकं, सुखदुःखादिकार्यवैचित्र्यं च समारभ्य तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः । न तावदयं हेतुरनिश्चितव्यतिरेकत्वादगमकः, साध्याभावेनुपपन्नत्वग्राहकप्रमाणसद्भावात् । न हि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तं, शालिबीजाङ्कुरवत् । प्रसिद्धस्तावदेकस्वरूपाच्छालिबीजादनेकाङ्कुरकार्यायोगः, स एव दृष्टान्तः स्यात् । ततः साध्विदं विपक्षे बाधकं

प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेककार्यत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृतं च स्यादिति संभावनाशङ्काव्यवच्छेदात् । कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः । अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसंभवात् तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न संभावयामः । सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात् । नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न तया सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतन्निष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात् । क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः संभवाभावात् एकस्यैकामेवार्थक्रियां संपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्यं, तस्यानेककार्यविषयत्वादिति चेत्, न, तादृशस्य वस्तुनोसंभवात् । सर्वस्य बाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यंभावित्वादन्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेककार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च । क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात् । ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसंभावनाभाव एवेति निश्चितम् । तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीनां किलायं कर्तेति महच्चित्रं, प्रकृतप्रमाणबाधनात् । एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्वसंभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात् । न चैतेनास्याः संबन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात् । न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः संभवत्यनर्थान्तरभूतो, नित्यत्वविरोधात् । नाप्यर्थान्तरभूतः । संबन्धासंभवादनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्थाप्रसङ्गात् । ततो व्यपदेशोपि मा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति ।

तत्र समवायात्तथाव्यपदेश इति चेत्, न, सर्वथैकस्वभावस्य समवायित्वनिमित्तकारणत्वादिनानास्वभावविरोधात्। महेश्वरस्याभिसन्धेरनित्यत्वेपि समानप्रसङ्गः, पदार्थान्तरभूतस्याभिसन्धेस्तेन संबन्धाभावस्य तत्कृतोपकारानपेक्षस्य व्यपदेशासंभवस्य (चा)विशेषात्, सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसंधेरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गाद्विचित्रत्वानुपपत्तेरिति । तदनेकत्वेप्यक्रमत्वेऽस्यैव दोषस्योपनिपातात्, क्रमवत्त्वे केषांचित्कार्याणां सकृदुत्पत्त्यादिदर्शनविरोधात् कथमनित्योभिसंधिरीशस्य स्यात् ? सन्नप्यसौ यदीश्वरसिसृक्षानपेक्षजन्मा तदा तन्वादयोपि तथा भवेयुरिति न कार्यत्वादिहेतवः प्रयोजकाः स्युः । सिसृक्षान्तरापेक्षजन्मा चेत्, अनवस्था । बुद्धिपूर्वकत्वादिच्छाया न दोष इति चेत्, मा तर्हि बुद्धिरीश्वरस्य यदि नित्यैकस्वभावा तदा कथमनेकसिसृक्षाजननहेतुः क्रमतो युज्येत युगपद्वा ? पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसिसृक्षोत्पत्तिर्नित्यैकस्वभावबोधस्यापि महेश्वरस्य न विरुद्धा तत्समानसमयानेकतन्वादिकार्योत्पत्तिश्च, पूर्वसिसृक्षात उत्तरसिसृक्षायास्तत्समानकालतन्वादिकार्याणां च भावादनादित्वात् कार्यकारणप्रवाहस्येति चेत्, न, एकस्वभावस्येश्वरबोधस्यैकस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षापेक्षाविरोधात्, तदपेक्षायां स्वभावभेदादनित्यतापत्तेः । अथ सिसृक्षातन्वादिकार्योत्पत्तौ नेश्वरबोधः सिसृक्षान्तरमपेक्षते, तत्कार्याणामेव तदपेक्षत्वादिति मतं, तदप्यसत्, नित्येश्वरबोधस्य तदनिमित्तत्वप्रसङ्गात् । तदभावेऽभावात्तस्य तन्निमित्तत्वे सकलात्मनां तन्निमित्तता स्याद्, व्यतिरेकाभावाविशेषात् । अथासर्वगतस्येश्वरबोधस्य नित्यत्वात्कालव्यतिरेकाभावेपि न देशव्यतिरेकासिद्धिः । सकलात्मनां तु नित्यसर्वगतत्वात्कालदेशव्यतिरेकासिद्धिरिति मतं, तर्हि दिक्कालाकाशानां तत एव सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणता मा भूत् । एतेनैवेश्वरस्य तन्निमित्तकारणत्वं प्रतिक्षिप्तं, नित्येश्वरबोधस्यापि तन्निमित्तत्वे सकृत् सर्वत्रोत्पित्सुकार्याणामुत्पत्तिर्न स्यात्, तस्य सर्वत्राभावात् शरीरप्रदेशवर्तिनोपि सर्वत्र

बहिर्निमित्तकारणत्वे देशव्यतिरेकस्याप्यभावात् कथमन्वयमात्रेण तत्कारणत्वं युक्तम् ? नित्येश्वरज्ञानस्य सर्वगतत्वेप्ययमेव दोषः। तस्यानित्यासर्वगतत्वात् कालदेशव्यतिरेकसिद्धेस्तन्वादौ निमित्तकारणत्वसिद्धिरिति चेत्, न, ईश्वरस्य कदाचित्क्वचिद् बोधवैधुर्ये सकलवेदित्वविरोधात् । यदि पुनरपरापरसर्वार्थज्ञानस्याविच्छेदात् सदाशेषवेदित्वमविरुद्धं तदा कुतो व्यतिरेकस्तस्य सिध्येत् ? कथं चानित्यस्य बोधस्येश्वरबोधान्तरानपेक्षस्योत्पत्तिर्न पुनः सिसृक्षातन्वादिकार्याणामिति विशेषहेतोर्विना प्रतिपद्यमहि ? तस्य बोधान्तरापेक्षायामनवस्थानं तदवस्थम् । स्यान्मतं,—पूर्वपूर्वबोधसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरबोधसिसृक्षातन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरनादित्वात्कार्यकारणभावस्य बीजाङ्कुरादिवदयमदोष इति, नैतत्सारम्, ईश्वरकल्पनानार्थक्यप्रसङ्गात् । तद्भावे भावाद्बोधादिकार्याणां तत्कारणत्वसिद्धेर्नानर्थक्यमिति चेत्, न, व्यतिरेकासिद्धेः, अन्वयमात्रेण कारणत्वे तदकारणत्वाभिमतानामपि तत्प्रसङ्गात्। न चैकस्वभावाद्बोधात्कामादिकार्यवैचित्र्यं क्रमतोपि युज्यते महेश्वरसिसृक्षाभ्यामिति, किमनया चिन्तया ? तयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति चेत्, युक्तमेतत् किंतु नेश्वरेच्छाभ्यां किंचित्, तावतार्थपरिसमाप्तेः, सति कर्मवैचित्र्ये कामादिप्रभववैचित्र्यस्य भावादसत्यभावात् “कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः” इत्यस्यैव दर्शनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्, अनिश्चितान्वयव्यतिरेकयोरीश्वरेच्छयोः कारणत्वपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् । एतेन विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषादिभ्यः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधनेनेश्वरप्रापणं प्रत्युक्तं, धर्माधर्माभ्यामेवात्मनः शरीरेन्द्रियबुद्धीच्छादिकार्यजननस्य सिद्धेः, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमन्तरेणापि विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषकार्यत्वाचेतनोपादानत्वार्थक्रियाकारित्वादीनां साधनानामुपपत्तेस्ततः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वासिद्धेः । ननु प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो धर्माधर्मयोश्च स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणादिसंपादनकौशलासंभ-

वात् तन्निमित्तमात्मान्तरं, मृत्पिण्डकुलालवदिति चेत्, न, एवमपि प्रकृतसाधनव्यतिरेकानिश्चयात् । तथा हि, तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, विरम्यप्रवृत्तेः सन्निवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादर्थक्रियाकारित्वात्कार्यत्वाद्वा घटवदिति साधनमुच्यते, तस्यात्मान्तरमीश्वराख्यं बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाचेतनस्यात्मनोऽनीशस्य धर्माधर्मयोश्चाचेतनयोर्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणभुवनादिनिर्मापणकौशलासंभवात्तन्निमित्तकारणमात्मान्तरं बुद्धिमत्कारणमेपितव्यमित्यनेन व्यतिरेकः समर्थ्यते । कुलालमन्तरेण मृत्पिण्डदण्डादेः स्वयमचेतनस्य घटादिनिष्पादनकौशलासंभववदिति वैधर्म्यदृष्टान्तप्रदर्शनम् । सत्येव कुलाले मृत्पिण्डादेर्घटादिसंपादनसामर्थ्यदर्शनादिति चान्वयसमर्थनमभिधीयते । न चैतदभिधातुं शक्यमन्यथानुपपत्तेरभावात् । बुद्धिमता कारणेन विना विरम्यप्रवृत्त्यादेरसंभवादन्यथानुपपत्तिरस्त्येवेति चेत्, न, तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कर्तृत्वासंभवात् कालादिवत् तादृशोऽपि निमित्तभावे कर्मणामचेतनत्वेऽपि तन्निमित्तत्वमप्रतिषिद्धं, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात् । यथैव हि कुलालादिः सतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको दृष्टान्तस्तनुकरणभुवनादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्वकल्पनया व्यतिक्रम्यते, तथा कर्मणामचेतनानामपि तन्निमित्तत्वकल्पनया बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां, विशेषाभावात् । स्यान्मतं—'सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्वं दृष्टं, कुटादिकार्यं कर्तुमबुद्ध्यमानस्य तददर्शनात्, तद्बुद्धिमतोपीच्छापाये तदनुपलब्धेस्तदिच्छावतोऽपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात् । तद्वद्वितनुकरणस्यापि बुद्धिमतः स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः, सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्तिं प्रत्यनङ्गत्वात् । न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति तद्विशेषविरोधादिति, तदयुक्तं, वितनुकरणस्य बुद्धीच्छाप्रयत्नानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्, शरीराद्बहिः संसार्यात्मवत्, कालादिवद्वेति । शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तेः पूर्वमात्मना व्यभिचार इति चेत्,

न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात्। परेषां तु तस्य सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमान्न तेनानेकान्तः। ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेत्, न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेत्, न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात्। अथ ' तन्वादिकारकाणि विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो वास्यादिवदित्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं बुद्ध्यादिसंपन्नत्वं चेश्वरस्य साध्यते। ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंताननिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात्। अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्। इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात्। तथा हि, नेश्वरेऽशरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्। नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति। एतेनागमात् ' अपाणिपाद ' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात्। तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेत्, न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वसंसारिणां तथाप्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यान्, स्वोपभोग्यभवनाद्युत्पत्तावपि निमित्तकारणत्वोपपत्तेः इति न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमकाः स्युः। स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि मा भूत्। अन्यथेश्वरदिक्कालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्युः, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वा(स्र वा)स्यादिवदिति न्यायात्। तथा चेश्वरोपीश्वरान्त-

रेणाधिष्ठित इत्यनवस्था स्यात, अन्यथा स्यात्तेनैवास्य हेतोर्व्यभिचारः। नायं प्रसङ्गो, बुद्धिमत्त्वादिति चेत्, तत एव तर्हि प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनो मा भूवन्। यथैव हि बुद्धिमानीश्वरो नाधिष्ठात्रन्तरं चेतनमपेक्षते तथा प्रहीणान् कुब्जादिशरीरकरणादीनपि मास्म करोत्, सातिशयं तद्विदः प्रहीणस्वकार्याकरणदर्शनात्। प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनां कर्मणो वैचित्र्यादिति चेत, तर्हि कर्मणामपि तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे समानप्रसङ्गः, तान्यपि प्रहीणतनुकरणादिकारणानि मा भूवन्निति। तदनिमित्तत्वे तनुकरणादेपि तन्निमित्तत्वं मा भूद्विशेषाभावात्। एवं चार्थक्रियादेरपि ताभ्यामेकान्तिकत्वं कर्मणः स्थाणोश्चार्थक्रियाकारित्व–स्थित्वाप्रवर्तनयोश्चेतनाधिष्ठानाभावेपि भावात्। ततः कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः कामादयस्ततः कर्मवैचित्र्यमिति स्थितम्। न हि भावस्वभावोपालम्भः करणीयोन्यत्रापि तथैव तत्प्रसङ्गानिवृत्तेः। यथैव हि कथमचेतनः कर्मबन्धः कामादिवैचित्र्यं कुर्यात् कामादिर्वा चेतनस्वभावः कथमचेतनं कर्मवैचित्र्यमिति तत्स्वभावस्योपालम्भः प्रवर्त्यते कथमचेतनमुन्मत्तकादिभोजनमुन्मादादिवैचित्र्यं विदधीत प्राणिनामुन्मादादिर्वा चेतनः कथमचेतनं मृदादि रूपवैचित्र्यमित्यपि तत्स्वरूपोपालम्भः किमिति प्रसज्यमानो निवर्त्यते ? तथादृष्टत्वादिति चेत, तत एव प्रकृतस्वभावोपालम्भोपि निवर्त्यतां, तथानुमितत्वात्। न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसङ्गनिवृत्तिः स्यादिति शङ्कनीयं, तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात्। तथा हि, तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेदनेकबुद्धिमत्कारणत्वं वा ?, प्रथमपक्षे प्रासादादिनानेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना तदनैकान्तिकम। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनं, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीनां, तेषां तददृष्टकृतत्वात्। एतेन बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तं, तदभिमतविशेषस्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यसिद्धेः। सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाददोष इति चेत्, न, दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः, दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्य

स्य साध्यत्वे स्वेष्टविघातात्, अदृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे साध्यशून्यत्वप्रसङ्गान्निदर्शनस्य। दृष्टेतरविशेषाश्रयसामान्यसाधनेपि स्वाभिमतविशेषसिद्धिः कुतः स्यात्?, अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्, कोयमधिकरणसिद्धान्तो नाम?, यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः। ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धिमन्निमित्तस्य जगत्सु प्रसिद्धौ प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थः समस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वविदलुप्तशक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव सिध्यतीति चेत्, स्यादेवं, यदि सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन समस्तकारकाणां प्रयोक्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशेषोपेतेनाविनाभावि दृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित् सिध्येत्। न च सिध्यति, अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण तस्य व्याप्तत्वसिद्धेः समर्थनात्। तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे साध्ये घटादिनानैकान्तिकं साधनं, साध्यविकलं च निदर्शनम्। सरागासर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्येपसिद्धान्तः। सर्वथा कार्यत्वं च साधनं तन्वादावसिद्धं, तस्य कथंचित्कारणत्वात्। कथंचित्कार्यत्वं तु विरुद्धं, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वासाध्याद्विपरीतस्य कथंचिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्। तथा पक्षोप्यनुमानबाधितः स्यात्, 'अकृत्रिमं जगत्, दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात् खादिवत्' इत्यनुमानस्य तद्बाधकस्यान्यत्र समर्थितत्वात्। इति सूक्तं, नेश्वरकृतः संसार इति। ननु यदि कर्मबन्धानुरूपतः संसारः स्यात्तर्हि केषांचिन्मुक्तिरितरेषां संसारश्च, कर्मबन्धनिमित्ताविशेषादिति चेत्, न, तेषां शुद्ध्यशुद्धितः प्रति मुक्तेतरसंभवादात्मनाम्। न हि जीवाः शश्वदशुद्धित एव व्यवस्थिताः स्याद्वादिनां याज्ञिकानामिव, कामादिस्वभावत्वनिराकरणात्, तत्स्वभावत्वे कदाचिदौदासीन्योपलम्भविरोधात्। नापि शुद्धित एवावस्थिताः कापिलानामिव, प्रकृतिसंसर्गेपि तत्र कामाद्युपलम्भविरोधात्, प्रकृतावेव कामाद्युपलम्भे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि तत्रैव संभवात्। न ह्यन्यः कामयतेऽन्यः काममनुभवतीति वक्तुं युक्तम्। नापि सर्वे संभवद्विशुद्धय एव जीवाः

प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्याः, संसारिशून्यत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? शुद्ध्यशुद्धिभ्यां व्यवतिष्ठन्ते, 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः' इति वचनात्। ततः शुद्धिभाजामात्मनां प्रति मुक्तिरशुद्धिभाजां संसारः । केषांचित् प्रति मुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यादिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ९९ ॥

के पुनः शुद्ध्यशुद्धी जीवानामित्याहुः—

यस्य यस्येति यस्य यस्य कारणस्य यद् यत्कार्यवैचित्र्यं तस्य तस्य तत्तन्नैकस्वभावकारणकृतमिति योजनीयम् । शालिबीजाङ्कुरवदिति शालिबीजादेकरूपाच्छाल्यङ्कुरस्यैवोत्पत्तिर्न त्वन्यस्येति दर्शनादिति भावः । ततोऽस्माद्धिवदं विपक्षे बाधकं प्रमाणमिति व्यावृत्तिनिश्चयजननादित्यग्रेतनमत्र सम्बध्यते, तत्र च पञ्चमी ल्यब्लोपे व्यावृत्तिनिश्चयजननमभिप्रेत्य यदिदं विपक्षे बाधकं प्रमाणमुक्तं तदस्माद्धिवति योगः, शङ्काव्यवच्छेदादित्यत्र चाकारप्रश्लेषः कार्यः । कालादिनेत्यनन्तरं च चकारोऽध्याहार्यः, सद्भावमेवेत्यतः पूर्वमेकान्तनित्यस्य क्षणिकस्य वेति शेषः । व्यापकस्यार्थक्रियालक्षणस्य, तदनिष्ठतया (तदतन्निष्ठतया) व्याप्यत्वाभिमतवस्तुत्वाव्याप्यतया, एतेनैकस्वभावेश्वरखण्डनेन, 'अभिसन्धेरिति' अभिसन्धिरीश्वरे सिसृक्षासम्बन्धः, एतेन कर्मवैचित्र्यादेव कामादिप्रभववैचित्र्यसमर्थनेन, भाष्ये तस्यापि बुद्धिमतः कारणस्यापि, वितनुकरणस्य तनुकरणरहितस्य, तत्कृतेः करणभुवनादिकृतेः, कालादिवदिति टीकाकृतोक्तो दृष्टान्तस्तादृशोऽपीत्यग्रेतनभाष्यफक्किकयाऽन्वेति, तद्बुद्धिनतनुकरणस्यापीति प्रयोगश्चात्र कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदित्याकार एव, पक्षतावच्छेदकं च प्रागभावप्रतियोगित्वं न तु कृतिसाध्यत्वादिकमिति न सिद्धसाधनं, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्च न घटादिरूपकार्यस्य सकर्तृकत्वसिद्ध्यंशतोऽपि तत् , न चात्रशरीरजन्यत्वमुपाधिरङ्कुरादौ साध्यव्यापकत्वसन्देहेऽपि सन्दि-

ग्धोपाधित्वस्य दुर्वारत्वेन तदाहितव्याभिचारसंशयसत्त्वेनानुमानानवताराल्लाघवाद् व्यभिचारज्ञानत्वेनैव विरोधित्वात् पक्षतत्स-मयोरपि व्यभिचारसंशयस्य तथात्वादिति वाच्यम्, प्रकृते कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयाल्लाघवतर्कावतारे व्यभिचारसंशयस्याविरोधित्वात्, अनुकूलतर्कानवतार एव व्यभिचारसंशयाधायकस्य सन्दिग्धोपाधेर्दोषत्वादित्याहुः। 'वित-नुकरणस्येति' ईश्वरः बुद्धीच्छाप्रयत्नवान्न भवति, वितनुकरणत्वान्मुक्तात्मवदिति प्रयोगः। परेषां तु जैनानां तु, तस्य शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तिप्राक्कालवर्तिन आत्मनः, सशरीरस्यैवेति अत्र तैजसकार्मणाभ्यामिति शेषः। तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्चेति तथा च विकल्पसिद्धधर्म्युपगमान्नाश्रयासिद्धिरिति भावः। नेश्वर इति यद्यप्यशरीरत्वं शरीरपरिग्रहात्यन्ताभावोऽनाद्यनंतत्वेन व्याप्त इति हेतोर्विरुद्धत्वं, तथाप्यात्मनिष्ठस्य शरीरपरिग्रहाभावस्य ध्वंसपर्यवसितस्य ग्रहान्न दोष इति बोध्यम्। 'एतेनेति' ईश्वरेऽशरीरत्वस्य कादाचित्कत्वानुमानप्रदर्शनेनेत्यर्थः। कथं वाऽपाणिपादत्वप्रतिपादक एवागमः प्रदेशान्तरे ईश्वरस्य वेदादि-प्रणिनीषया ब्रह्मादिशरीरपरिग्रहं प्रतिपादयन् स्वाङ्गैरेव न विरुन्ध्यात्। भूतावेशन्यायेन तस्य ब्रह्मादिशरीरपरिग्रहोपपत्तिरिति चेद्, दूराद् भ्रान्तोऽसि, भूतावेशस्यापि स्वीयवैक्रियशरीरेणात्मान्तरशरीरे भूतप्रवेशरूपस्य तददृष्टहेतुकत्वात्. अन्यथात्म-विभुत्वपक्षे सर्वत्र सर्वावेशापत्तेः, तस्माददृष्टहेतुकयोरावेशपरिग्रहयोर्मध्येनैकतरस्यापीश्वरे सम्भव इति सुष्ठूक्तं श्रीहेमसू-रिभिः॥ "धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः॥ मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम्॥१॥" इत्यादि, अथावेशे आविशतोऽदृष्टं न हेतुः किं त्वावेशाधिकरणस्य ततस्तद्गतयोरेव सुखदुःखयोरुत्पादनात् तत्पराद्दृष्टेनेश्वरस्य ब्रह्मादि-शरीरग्रहोपपत्तिरिति चेत्. न. आवेशे आविशतोऽप्यदृष्टस्य तद्गतबन्धोदयनिर्जरादिनिर्वाहकस्य हेतुत्वेनोभयादृष्टजन्यत्वव्य-

वस्थितेः, अन्यथा मुक्तस्यापि क्वचिदावेशापत्तेः, किं चाविशत ईश्वरस्यावेशाधिकरणब्रह्माद्यात्मभिन्नत्वे ब्रह्मविष्णुशिवैक्यप्रतिपादकश्रुतिविरोधोऽपि, न च शबावेशवद्ब्रह्मादिशरीरे वेदादिहेतावीश्वरावेशोपपत्तिः, तच्छब्दे (त्वे) तच्छरीरस्येव तददृष्टस्यापि हेतुत्वात्, दृष्टमर्यादातिक्रमे च विनैव शरीरावेशं वेदाद्युच्चारेण व्यवहारं निर्वाहयेदिति न किञ्चिदेतत्, सर्वविशेषवासनां चानुपदमेव निराकरिष्यामः। ईश्वरादेरपि माभूदित्यत्र स्थित्वा प्रवर्त्तनार्थक्रियादीति योगः। 'अन्यथेति' न च स्ववृत्तिज्ञानविशेष्यत्वं स्वजन्यव्यापारभागित्वं वा चेतनाधिष्ठितमीश्वरादावप्यविरुद्धमितीष्टापत्तिरत्रेति शङ्कनीयम्। कर्तृमात्रस्थित्यव्यवस्थया ज्ञानमात्रेणाधिष्ठितत्वासिद्धेराद्यस्य व्यापारेऽपि व्यापारान्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेश्च द्वितीयस्य निरासादिति भावः। उन्मत्तकादियो(भो)जनं धत्तूरचूर्णादिप्रयोगः, मृदादिस्तू(रू)पवैचित्र्यं सुवर्णाभिप्रायेण विचित्रां मृदादिप्रचयरचनामित्यर्थः। तेषां तददृष्टकृतत्वादिति तथा च तनुकरणभुवनादिकं सकर्तृकं बुद्धिमत्कर्तृकं वेत्यादावदृष्टद्वाराऽस्मदादिना सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेति भावः। 'तदभिमतेति' एककर्तृसिद्धौ तद्गतसार्वज्ञ्यादिसिद्धेरेवाधिकरणसिद्धान्ताधीनत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। स्वेष्टविघातादिति कतिपयकारकप्रयोक्तृत्वासर्ववेदित्वप्रतिहतशक्तिकत्वाविभुत्वसशरीरत्वादिसिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः। न च सिद्ध्यतीति लाघवावतारेऽपि व्यापकतानवच्छेदकरूपेणानुमितेरनभ्युपगमादित्यर्थः। इतिसूक्तं नेश्वरकृतः संसार इति, एवं च तन्वादिकार्यस्य कर्तृजन्यत्वे साध्ये ज्ञानादेरेव जनकत्वेन कर्तुरजनकत्वाद् बाध इति प्रत्यक्षजन्यत्वमिच्छाजन्यत्वं कृतिजन्यत्वं च पृथक् पृथक् साध्यत इति तदाश्रयतयेश्वरसिद्धावदोषः, निखिलोपादानगोचरप्रत्यक्षाश्रयस्यान्यस्यासम्भवात्, न हि द्व्यणुकाद्युपादानगोचरप्रत्यक्षमस्मदादेः सम्भवतीति दक्षंमन्योक्तमप्यकिञ्चित्करं द्रष्टव्यम्, तत्तत्पु-

रुषीयघटाद्यर्थिप्रवृत्तिं प्रत्येव तत्तत्पुरुषीयघटादिमत्त्वप्रकारकोपादानप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वात्कार्यत्वावच्छिन्ने प्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्, चिकीर्षाया अपि प्रवृत्तावेव हेतुत्वेनेच्छात्वेन कृतेरपि विलक्षणकृतित्वेन घटादावेव हेतुत्वेन कृतित्वेनापि कार्यत्वावच्छिन्नं प्रत्यहेतुत्वात्, न च प्रवृत्ताविव घटादावपि प्रत्यक्षेच्छयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वे सिद्धे तत्कार्यतावच्छेदकं लाघवात् कार्यत्वमेव कल्प्यते, घटत्वपटत्वादीनामानन्त्यात् शरीरलाघवमपेक्ष्य मङ्ग्राहकत्वलाघवस्य बलवत्त्वात्, कृतेरपि यद्विशेषयोरिति न्यायेन मामान्यतो हेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम्। एवं मति शरीरत्वेन चेष्टात्वेन च हेतुत्वान्नित्यशरीरचेष्टयोरपि सिद्ध्यापत्तेः। न च परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसंयोगजन्यचेष्टावन्त ईश्वरस्य नित्यानि शरीराणि टीकाप्रथमश्लोकव्याख्याने उदयनाचार्यैस्तथा स्वीकृतत्वात्, चेष्टाया नित्यत्वे तु मानाभावोऽनित्यचेष्टाया अपि मर्गादौ मम्भवात्, ईश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावतां सर्वेषामेव वेश्वरशरीरत्वम्, अत एव मर्वावेशपग मर्वाभेदश्रुतिरिति वाच्यम्, परमाणूनां नित्येश्वरशरीरत्वे तद्गतक्रियाया अपि नित्यायाश्चेष्टायाः कल्पनापत्तेः, मर्वावेशे च मर्वत्र क्रियामात्रस्य चेष्टात्वपर्यवमाने विलक्षणचेष्टात्वजात्युच्छेदापत्तेः, सर्वशरीरावच्छिन्नविलक्षणमनःसंयोगजनकप्रयत्नवदात्ममंयोगरूपमर्वावेशस्वीकारे च प्रत्यात्मनियतमनोभिन्नमनःप्रवेशनेन सर्वेषामुन्मादजनकताया ईश्वरस्यापत्तेः, अन्यथावेशपदार्थाघटनात्, उपमामात्रस्य मर्वात्मसाधारणत्वात् सर्वात्मगुणसाधारणकारणत्वेन पुनरावेशकारणत्वं नेश्वरस्य युक्तिमत् कालादिवदिति दिग्। किं च गुणस्य माश्रयत्वव्याप्तौ मानाभावादुपादानप्रत्यक्षस्य निराश्रयस्यैव सिद्धौ वेदान्तिमतमाम्राज्ये कथं नैयायिकाभिमतेश्वरसिद्धिः। किञ्चोपादानप्रत्यक्षं लौकिकमेव जनकमिति कथं तादृशप्रत्यक्षाश्रयतयेश्वरः सिद्ध्येत्, मन्निकर्षदोषविशेषादिनियम्यलौकिकविषयतायास्तज्ज्ञानेऽ-

भावात्, यदि च प्रणिधानाद्यर्थं मनोवहनाड्यादौ प्रवृत्तिस्वीकारादनुमित्यादिमाधारणं यद्धर्म्मावच्छिन्ने यदर्थिप्रवृत्तिस्तद्धर्मावच्छिन्ने तत्प्रकारकज्ञानं हेतुरिति मतं, तदेश्वरे ज्ञानमात्रमिद्धावपि कथं प्रत्यक्षमिद्धिः, प्रत्यक्षत्वमेव चेन्द्रियजन्यतावच्छेदकं लाघवान्न तु जन्यप्रत्यक्षत्वं गौरवादिति का प्रत्याशा नित्यप्रत्यक्षाश्रयस्येश्वरस्य। यत्तु दीधितिकृतोक्तं घटत्वाद्यवच्छिन्ने कृतित्वेन हेतुत्वेऽपि खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरमत्त्वादीश्वरकृतिसिद्धिरिति, तदमत्, घटत्वाद्यवच्छिन्ने विजातीयकृतित्वेनैव हेतुत्वात् कृतित्वेन व्यापकधर्मेणान्यथामिद्धेरतत्त्वात्। केचित्तु कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगमम्बन्धेन खण्डघटोत्पत्तिकालेऽपि सत्त्वान्नेश्वरकृतिमिद्धिः, न च वैशेषिकनये श्यामघटादिनाशोत्तरं रक्तघटाद्युत्पत्तिकाले प्राक्तनपरमाणुद्वयसंयोगद्व्यणुकादेर्नाशान्नैवं सम्भवतीति वाच्यम्। पूर्वमंयोगादिध्वंमपूर्वद्व्यणुकादिध्वंमानामुत्तरमंयोगद्व्यणुकादावन्ततः कालोपाधितयाऽपि जनकत्वात्तत्कालेऽपि कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयमंयोगेन मत्त्वात्, अन्यथा घटत्वाद्यवच्छिन्ने दण्डादिहेतुताया अपि भङ्गापत्तेः, न च दण्डादेः स्वप्रयोज्यविजातीयमंयोगेन हेतुत्वेऽपि कृतेर्लाघवाद्विशेष्यतयैव तत्त्वमुचितं, न च कुलालकृतिस्तदा तयाऽस्तीति वाच्यम्। विजातीयमंयोगत्वेनापि मम्बन्धत्वे गौरवाभावात्, निश्चिताव्यभिचारकत्वाच्च स्वप्रयोज्यत्वस्य तु मम्बद्धमम्बन्धत्वादित्यादि। यत्तु भट्टाचार्यैरुक्तं तत्तत्कार्याणां देशकालादिनियम ईश्वरेच्छात एवेति तत्सिद्धिः, वदन्ति हि पामरा अपीश्वरेच्छैव नियामिकेति. तदपि हृदयदरीदृढरूढगूढश्रद्धाल्लतोल्लाममात्रं, पामरमंवादस्य नियतिनियामकत्वेऽपि भूम्ना दर्शनात्. मा च तत्त्वान्तरं वा केवलज्ञानं वेत्यन्यदेतत्. तथाभवितव्यतैव मर्वत्र नियामिकेति तु प्रामाणिकः प्रवादः, तस्याः मकलकारणाक्षेपकत्वेन मर्वमंवादात्। यदपि तेषां पद्यं ॥

समालोच्य क्षुद्रेष्वपि भवननाथस्य भुवने, नियोगाद्भूतानां मितसमिनिदेशस्थितिलयम् ॥
अये! केयं भ्रान्तिः सततमपि मीमांसनजुषां, व्यवस्थानः कार्ये जगति जगदीशापरिचयः ॥१॥ इति ॥
तदुपरि मदीयानि पद्यानि ॥

अनित्ये नित्ये वा नियतिनियमाद्वस्तुनि जनि-व्यवस्थां धर्माणां स्थितिमपि समालोच्य विशदाम् ॥
अये! केयं भ्रान्तिः सततमपि तर्कव्यसनिनां, वृथा यद्व्यापारो जगति जगदीशस्य गदितः ॥ १ ॥

प्रवाहेणानादिः स च परिविशुद्धोऽपि गदितो, मलात्यन्ताभावान्ननु भवति शुद्धिर्गगनवत् ॥
तमेकं मन्यन्तां मदृशगतिभेदाग्रहवशा-न्निराशानां सर्वं सफलमफलं कुग्रहजुषाम् ॥ २ ॥

यदेवैनद्रूपं प्रथममथ सालम्बनपदे, तदेव ध्यानस्थं घटयति निरालम्बनसुखम् ॥
रमागौरीगङ्गावलयशरकुन्ताऽसिकलितं, कथं लीलारूपं स्फुटयतु निराकारपदवीम् ॥ ३ ॥

अतर्क्या लीलैशीत्यपि कपिकुलाधीतचपल-स्वभावोद्भ्रान्तत्वं विदधति परीक्षां हि सुधियः ।
न यद्ध्यानस्याङ्गं तदिह भगवद्रूपमपि किं, जगल्लीलाहेतुर्बहुविधमदृष्टं विजयते ॥ ४ ॥

ततो यो योगाङ्गैर्बहुभिरिह गाङ्गैरिव जलै-र्विशुद्धैः शुद्धात्माऽलभत विरजाः सिद्धपदवीम् ॥
निषेव्यो ध्येयोऽसौ निरुपधिविशुद्धिर्भगवतो, ह्युपास्यत्वे तन्त्रं न तु विमतकर्त्रैकविभुता ॥ ५ ॥"

कामादीनि जीव(जीवात्म)त्वावच्छेदेनायं निषेधः, तेन नांशतो बाधः, सम्भवद्विशुद्ध्यो विशुद्धिप्रागभाववन्तः,

संसारिशून्यत्वप्रसङ्गादिति प्रागभावस्य प्रतियोगिजनकत्वनियमादित्यर्थः ॥ ९९ ॥

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती, ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ॥ साद्यनादी तयोर्व्यक्ती, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

शुद्धिस्तावज्जीवानां भव्यत्वं केषांचित्सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते । अशुद्धिरभव्यत्वं तद्विपरीतात् सर्वदा प्रवर्तनादवगम्यते छद्मस्थैः, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः । इति भव्येतरस्वभावौ शुद्ध्यशुद्धी जीवानां तेषां सामर्थ्यासामर्थ्ये शक्त्यशक्ती इति यावत् । ते माषादिपाक्यापरशक्तिवत् सभाव्येते सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् । तत्र शुद्धेर्व्यक्तिः सादिस्तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात् । एतेनानादिः सदाशिवस्य शुद्धिरिति प्रत्युक्तं प्रमाणाभावाद् दृष्टातिक्रमादिष्टविरोधाच्च । अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततेरनादित्वात् । पर्यायापेक्षयापि शक्तेरनादित्वमिति चेत्, न, द्रव्यापेक्षयैवानादित्वसिद्धेः । इति शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया सादित्वम् । ततः शक्तिर्व्यक्तिश्च स्यात्सादिः, स्यादनादिरित्यनेकान्तसिद्धिः । यदि वा जीवानामभिसन्धिनानात्वं शुद्ध्यशुद्धी । स्वनिमित्तवशात् सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभिसंधिः शुद्धिः, मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात्तेषां शुद्ध्यशुद्धिशक्त्योरिति भेदमाचार्यः प्राह, ततोऽन्यत्रापि भव्याभव्याभ्यां भव्येष्वेव, साद्यनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तेः पूर्वमशुद्ध्यभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादिसंततिरूपायाः कथंचिदनादित्वात्, सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तिरूपायाः पुनः शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात् । कुतः शक्तिप्रतिनियम इति चेत्, तथास्वभावादिति ब्रूमः । न हि भावस्वभावाः पर्यनुयोक्तव्याः, तेषामतर्कगोचरत्वात् । ननु प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, सति पर्यनुयोगे न पुनरप्रत्यक्षे, अतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, अनुमानादिभिरपि प्रतीते वस्तुनि भावस्वभावैरुत्तरस्याविरोधात् प्रत्यक्षवदनुमानादेरपि प्रमाणत्वनिश्चयात् । ततः परमागमात्सिद्धप्रामाण्यात् । प्रकृतजी-

वस्वभावाः प्रतीतिमनुसरन्तो न तर्कगोचरा यतः पर्यनुयुज्यन्ते, तर्कगोचराणामप्यागमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसङ्गात्। तद्वत्प्रत्यक्षविषयाणामपि। इति न प्रत्यक्षागमयोः स्वातन्त्र्यमुपपद्येत तर्कवत्। तदनुपपत्तौ च नानुमानस्योदयः स्यात्, धर्मिप्रत्यक्षादेः प्रतिज्ञायमानागमार्थस्य च प्रमाणान्तरापेक्षत्वादित्यनवस्थानात्। ततः सूक्तं कर्मबन्धानुरूपत्वेपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसंसारहेतोः प्रतिमुक्तीतरसिद्धिर्जीवानां शुद्ध्यशुद्धिवैचित्र्यादिति ॥१००॥ ननु चोपेयतत्त्वस्य सर्वज्ञत्वादेरुपायतत्त्वस्य ज्ञापककारकविकल्पस्य हेतुवाददैवादेः प्रमाणनयैरेव कात्स्न्यैकदेशतोधिगमः कर्तव्यो नान्यथा तदधिगमोपायान्तराणामत्रैवान्तर्भावात्, “ प्रमाणनयैरधिगम ” इति वचनात्। तत्र प्रमाणमेव तावद्वक्तव्यं, तत्स्वरूपादिविप्रतिपत्तिसद्भावात् तन्निराकरणमन्तरेण तदध्यवसायानुपपत्तेः इति भगवता पृष्टा इवाचार्याः प्राहुः—

तयोरर्थक्ती इति, गुणनिमित्तनाहजिकक्षयोपशमाधीनकार्यप्रादुर्भावपर्यायावित्यर्थः। ननु निक्षेपरूपमुपेयोपायतत्त्वग्राहकमुपायान्तरमस्तीति प्रमाणनयैरेवेत्यवधारणं कुत इत्याशङ्कायामाह—अन्यथेति अन्यप्रकारेण यानि तदधिगमोपायान्तराणि निक्षेपनिर्देशस्वामित्वादीनि तेषामत्रैव प्रमाणनययोरन्तर्भावादभिमतानभिमतोपादानत्यागफलोपदेशरूपत्वेन तेषां तद्रूपत्वादिति भावः ॥ १०० ॥

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम् ॥ क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ १०१ ॥

प्रमाणलक्षणसंख्याविषयविप्रतिपत्तिरनेन व्यवच्छिद्यते। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति वचनादज्ञानस्य निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षादेश्चाप्रमाणत्वमुक्तं, तस्य स्वार्थाकारप्रमितिं प्रति साधकतमत्वानुपपत्तेः, ज्ञानस्यैव स्वार्थाकारव्यवसायात्मनस्तत्र साधकतमत्वात्। न हि स्वार्थो-

कारव्यवसायशून्यं निर्विशेषवस्तुमात्रग्रहणं दर्शनमिन्द्रियादिसन्निकर्षमात्रं श्रोत्रादिवृत्तिमात्रं वा यथोक्तपरिच्छित्तिं प्रति साधकतमं, तद्भावाभावयोस्तस्यास्तद्वत्तापायात् । यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमं युक्तं, भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात् । न चैतद्दर्शनादिषु संभवति, तद्भावेपि स्वार्थप्रमितेः क्वचिदभावात्, संशयादेरन्यथानुपपद्यमानत्वात्, तदभावेपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात् । ननु ज्ञानस्याप्येवं साधकतमत्वं मा भूत् संशयादिज्ञाने सत्यपि यथार्थप्रमितेरभावात् तदभावेऽपि च भावादिति चेत्, न, तत्त्वग्रहणात् । तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभासं व्यवच्छिद्यते । ततोऽस्य साधकतमत्वं यथोक्तमुपपद्यत एव । नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानान्तरस्य प्रमेयस्य प्रमातुश्चात्मनः स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात् प्रमाणत्वं कुतो न भवेदिति चेत्, न, तस्य कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च साधकतमत्वासिद्धेस्तत्सिद्धौ करणत्वप्रसङ्गात् । करणस्य तत्त्वज्ञानात्मनः प्रमाणत्वे को विरोधः ? तदेवं सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं प्रतीतिसिद्धं तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणं, तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्, सम्भवद्बाधकस्य संशयितासंभवद्बाधकस्य कदाचित्क्वचित्कस्यचिन्निश्चितासंभवद्बाधकस्य च प्रमाणत्वायोगात्, प्रवृत्तिसामर्थ्यस्यार्थवत्क्रियाप्राप्तेरदुष्टकारणजन्यत्वस्य लोकसंमतत्वस्य च प्रमाणलक्षणस्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके प्रपञ्चतोऽपास्तत्वात् । ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात्, येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात् । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । कथमेवं क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव क्वचिदप्रमाण-

व्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति ? उच्यते, तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् । यथा च प्रत्यक्षस्य संवाद-प्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था प्रत्यक्षाभासस्य च विसंवादप्रकर्षादप्रमाणत्वव्यपदेशव्यवस्थितिः गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्या-दिव्यपदेशव्यवस्था तद्व्यवहारिभिरभिधीयते, तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेपि तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यमन्यथा चाप्रामाण्य-मित्यनेकान्तसिद्धिः एकान्तकल्पनायां तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं व्यवतिष्ठेत ताथागतमते स्वयमद्वयादेर्द्वयादिप्रतिभासनाद्रूपादिस्वलक्ष-णानां च तथैवादर्शनाद्यथा व्यावर्ण्यन्ते । स्वसंवेदनस्य संविन्मात्रे प्रमाणत्वेपि तदद्वयक्षणिकपरमाणुरूपे विपर्ययप्रतिभासादप्रमाणत्व-कल्पनायां कथमेकान्तहानिर्न स्यात् यत्प्रमाणं तत् प्रमाणमेवेति ? रूपादिदर्शनस्य च रूपादिमात्रे प्रमाणत्वेपि स्थूलस्थिरसाधारणाकार-प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वादप्रमाणतायां कथमेकान्तसिद्धिः ? "तस्माद्दृष्टस्य भावस्य, दृष्ट एवाखिलो गुण" इति तदविशेषोपलम्भाभ्युपगमेपि "भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति, साधनं संप्रवर्तते" इति वचनात् तद्व्यवसायवैकल्यं सिद्धमेव । तत्र च तद्व्यवसायवैकल्ये वा दानहिंसादिचित्ते क्वचिद्धर्माधर्मसंवेदनवत् परोक्षत्वोपपत्तेस्तत्त्रिरूपलिङ्गबलभाविनामपि विकल्पानामतत्त्वविषयत्वात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः ? " मणिप्रदी-पप्रभयो–र्मणिबुद्ध्याभिधावतः ॥ मिथ्याज्ञानाविशेषेपि, विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥१॥ यथा, तथाऽयथार्थत्वे–प्यनुमानावभासयोः ॥ अर्थ-क्रियानुरोधेन, प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥ " इति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादकत्वेन प्रामाण्यप्राप्त्या प्रमाणान्तर्भावविघटनात् कथं प्रमाणे एवेत्यवधारणं घटते ? न हि तत्प्रत्यक्षं स्वविषये विसंवादनात् शुक्तिकादर्शनवद्र-जतभ्रान्तौ । तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य यदेव मया दृष्टं तदेव मया प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसायाद्विसंवादनाभावान्मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि धावद्धवादितरुदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादभ्रान्तमिति विशेषणमध्यक्षस्य न

स्यात् । धावतां दर्शनादवस्थितानामगानां प्राप्तेर्विसंवादात् भ्रान्तत्वमिद्धेस्तस्याप्रत्यक्षत्वे कुञ्चिकाविवरे मणिप्रभायां मणेर्दर्शनादपवरकाभ्यन्तरेऽपरिप्राप्तेः कथमिव तस्याभ्रान्तता युज्येत ? इति न प्रत्यक्षं तत्स्यात् । नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसंबन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात् ? तदेतेन प्रतिपन्नव्यभिचारस्य, "य इत्थं प्रतिभासः स्यात् , स न संस्थानवर्जितः ॥ एवमन्यत्र दृष्टत्वा— दनुमानं तथा सति ॥१॥ " इति प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तं, स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन साध्यसिद्धेरकरणात् कदाचित् संवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्तं, कादाचित्कार्थप्राप्तेरारेकादेरपि संभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः । सर्वदा संवादात्तस्य प्रत्यक्षत्वमुदाहरणत्वं चेत्यप्यसारं, तदसिद्धेः । न हि मिथ्याज्ञानस्य संवादनैकान्तः संभवति, विरोधात् । नन्वनुमानस्य संभवत्येवावस्तुविषयत्वेन मिथ्याज्ञानस्यापि सर्वदा संवादनं लिङ्गज्ञानवत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् । तदुक्तं "लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं, पारम्पर्येण वस्तुनि ॥ प्रतिबन्धात्तदाभासं, शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥१॥ " इति कश्चित् सोऽप्यनालोचिताभिधायी, सर्वदा संवादिनः प्रत्यक्षवन्मिथ्याज्ञानत्वविरोधात् । तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवाविसंवादकत्वात् । न हि तदालम्बनं भ्रान्तं, प्राप्येऽपि वस्तुनि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । प्राप्ये तस्याविसंवादकत्वे स्वालम्बनेऽप्यविसंवादकत्वम् । इति कथं न सर्वथैवाविसंवादकत्वमनुमानस्य ? सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वप्रसिद्धेः प्रत्यक्षवत् , अन्यथा प्रमाणत्वायोगात् । तस्मात् सूक्तं, तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं कारणसामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेपीति । न ह्यनुमानस्य वस्तुविषयत्वाद्विशदप्रतिभासनमापादयितुं शक्यं, विदूरस्थपादपादिदर्शनेनाविशदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । पृथग्जनप्रत्यक्षस्यापि योगिप्रत्यक्षवदसंभवात् सकलसमारोपत्वप्रसङ्गात् स्वलक्षणविषयत्वाविशेषात् । तदविशेषेऽपि योगीतरप्रत्यक्षयोः कारणसामग्रीविशेषाद्विशेषपरिकल्पनायां, तत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि प्रतिभासविशेषोऽस्तु, सर्वथा बाधकाभावात् । प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानं नामेत्यवधारणमनुमन्तव्यं, फलज्ञानस्यापि स्वाव्यव-

हितफलापेक्षया प्रमाणत्वोपयोगात् । ततः स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाण एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे सौगतानां, तस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणान्तरत्वात् । न ह्यैन्द्रियव्यवसायोऽप्रमाणमविसंवादकत्वात् । अनधिगतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे लैङ्गिकस्यापि मा भूत् प्रमाणत्वं, विशेषाभावात् । अनधिगतत्वस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनायां प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यं निर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् क्षणभङ्गानुमानवत् । क्षणिकत्वानुमानस्य ह्यनिश्चिताध्यवसाय एवानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायः । स तु ध्वनिदर्शनानन्तरभाविनो व्यवसायस्यापीति युक्तं प्रमाणत्वम् । ध्वनेरखण्डशः श्रवणादधिगमोपि प्राथमकल्पिकस्तत्त्वनिर्णीतिरेव, तद्वशात् तत्त्वव्यवस्थानान्निर्णीतिरेव मुख्यप्रमाणत्वोपपत्तेः, तदन्यये दृष्टेरपि विसंवादकत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेर्दर्शनानतिशायनात्तद्दर्शनाभावेपि तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यवच्छेदलक्षणे प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात् । ननु निश्चितार्थमात्रस्मृतेरप्येवं प्रमाणत्वापत्तेरतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, प्रमितिविशेषाभावेतरपक्षानतिक्रमात् । प्रथमपक्षे क्वचित्कुतश्चिद्धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णीतार्थमात्रस्मृतेरधिगतार्थाधिगमात् प्रामाण्यं मा भूत्, प्रमितिविशेषाभावात् । द्वितीयपक्षे पुनरिष्टं प्रामाण्यमनुस्मृतेः, प्रमितिविशेषसद्भावात् । प्रकृतनिर्णयस्य प्रामाण्ये हि न किंचिदतिप्रसज्यते, दृष्टस्याप्यनिश्चितस्य निश्चयात्, प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ ज्वालादिविशेषाद्धूमकेतुलैङ्गिकस्मृतौ तु विशेषपरिच्छित्तेरभावादप्रामाण्यनिदर्शनात् । परिच्छित्तिविशेषसद्भावेपि साकल्येन स्मृतेरप्रामाण्यकल्पनायामनुमानोत्थानायोगः, संबन्धस्मृतेरप्रमाणत्वात्, तस्या अपि लैङ्गिकत्वेन प्रामाण्ये परापरसंबन्धस्मृतीनामनुमानत्वकल्पनादनवस्थानात् सतन्त्वस्मृतिभिन्नतरेणानुमानानुदयात् । सुदूरमपि गत्वा संबन्धस्मृतेरननुमानत्वे प्रमाणत्वे च सिद्धं, स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणत्वमविसंवादादनुमानवत् । तत्र यथा प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्यवधारणं प्रत्याचष्टे,

तथा त्रीण्येव प्रमाणानि चत्वार्येव पञ्चैव षडेवेत्यवधारणमपि, स्मृतेरागमोपमानार्थापत्त्यभावेष्वनन्तर्भावात्, तदन्तर्भावेनुमानान्तर्भाववदनवस्थानानुषङ्गादागमाद्युदयविरोधात्, शब्दादिस्मृतिमन्तरेण तदनुपपत्तेः। यदि पुनरागमाद्युत्थापकसामग्रीत्वाच्छब्दादिस्मृतेरागमादिप्रमाणत्वमप्युररीक्रियते तदा शब्दादिप्रत्यक्षस्यापि तत्सामग्रीत्वादागमादित्वप्रसङ्गः। तथा च स्मृतिवत्प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात्। प्रमाणान्तरत्वे वा स्मृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं, दर्शनानन्तराध्यवसायवन्निर्णीतेरपि कथंचिदतिशायनादनुमानवत्। एवं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं, व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षादिवत्, तत्सामग्र्यधीनत्वात्प्रमाणत्वस्थितेः, अविसंवादस्यापि स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्। अन्यथा हि विसंवादः स्यात्संशयादिवत्। न चेदं प्रत्यभिज्ञानमव्यवसायात्मकं तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्यारेकाकलिलव्यवच्छेदेनावगमात्, बाध्यमानस्याप्रमाणत्वेऽपि तत्तदाभासत्वात्। न च सर्वं प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानमेव, प्रत्यक्षस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसंभवादबाधकत्वादनुमानस्यापि तद्विषयविपरीतसर्वथाक्षणिकविसदृशवस्तुव्यवस्थापकस्य निरस्तत्वात्तद्बाधकत्वायोगात्। ततः प्रत्यभिज्ञानं तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणं प्रत्यक्षवत्। एवं लिङ्गलिङ्गिसंबन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवत्। सत्त्वक्षणिकत्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षमुत्सहते, सन्निहितार्थाकारानुकारित्वात् इन्द्रियजमानसस्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य वा योगिप्रत्यक्षस्य अपरीक्षाक्षमत्वाच्च। नानुमानमनवस्थानुषङ्गात् सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्तं व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम्। तदस्माकमूहाख्यं प्रमाणमविसंवादकत्वात् समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानवत्। न चोहः संबन्धज्ञानजन्मा, यतोऽनवस्थावं स्यादपरापरोहानुसरणात्, तस्य प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मत्वात् प्रत्यक्षवत्, स्वयोग्यतयैव स्वविषये प्रवृत्तेः। संबन्धज्ञानमप्रमाणमेव, प्रत्यक्षानुपलम्भपृष्ठभाविविकल्पत्वाद् गृहीतग्रहणात्, संबन्धप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षानुपलम्भयोरेव भूयः प्रवर्तमानयोः प्रमाणत्वा-

दित्येके, तेऽयमसमीक्षितवाचः, कथंचिदपूर्वार्थविषयत्वादूहाख्यविकल्पस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षानुपलम्भयोः सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च व्याप्तौ प्रवृत्त्यसंभवात्। यदि पुनरप्रमाणमेव व्याप्तिज्ञानं संबन्धं वा व्यवस्थापयेत्तदा प्रत्यक्षमनुमानं चाप्रमाणमेव स्वविषयं व्यवस्थापयेत् किं तत्प्रमाणत्वसाधनायासेन ?॥ लिङ्गलिङ्गिसंबन्धप्रतिपत्तिरर्थापत्तेरित्यन्ये। तेषामपि संबन्धज्ञानपूर्वकत्वेऽर्थापत्तेरर्थापत्त्यन्तरानुसरणादनवस्था। तदपूर्वकत्वे स्वयमनिश्चितानन्यथाभवनस्यार्थापत्त्युदयत्वप्रसङ्गः, परस्पराश्रयणं च, सत्यनुमानज्ञाने तदन्यथानुपपत्त्या संबन्धज्ञानं, सति च संबन्धज्ञानेऽनुमानज्ञानमिति नैकस्याप्युदयः स्यात्। न चान्यत्संबन्धार्थापत्त्युत्थापकमस्त्यनुमानज्ञानाद् येन परस्पराश्रयणं न स्यात्। एतेनोपमानादेः संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता। तस्मादुपमानादिकं प्रमाणान्तरमिच्छतां तत्त्वनिर्णयप्रत्यवमर्शप्रतिबन्धाधिगमप्रमाणत्वप्रतिषेधः प्रायशो वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति। इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्द्वितयं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्, अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि, परोक्षेऽन्तर्भावात्। तदुक्तं, "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं, त्रिधाश्रितमविप्लवम्॥ परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि, प्रमाणे इति संग्रहः ॥१॥" ततः सूक्तमिदमवधारणं प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमिति, प्रत्यक्षपरोक्षतत्त्वज्ञानव्यक्तीनां साकल्येन प्रमाणत्वोपपत्तेः। तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविषयम्। करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वात् युगपत्सर्वभासनम्। तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणम्। तथोक्तं, 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति सूत्रकारैः। केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शनवद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति चेन्न, न, तयोर्यौगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात्, 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इति, अत्र प्रथमं मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादित्रयक्षयः सकृदिति व्याख्यानात्। तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्याद्, दर्शनकाले ज्ञानाभावात्तत्काले च दर्शनाभावात्। सततं च भगवतः केवलिनः सर्वज्ञत्वं सर्व-

दर्शित्वं च ‘ साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने ’ इति वचनात् । कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, निर्लोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे, न पुनरिहोच्यते । केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुतः सिद्ध इति चेत्, सामान्यविशेषविषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात् । सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं, विशेषप्रतिभासो ज्ञानम् । तत्प्रतिबन्धकं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च । यदुदयादस्मदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः । तयोश्च युगपदात्मविशुद्धिप्रकर्षविशेषात् परिक्षयसिद्धेः कथमिवायुगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात् ? प्रक्षीणाशेषमोहान्तरायस्य प्रतिबन्धान्तरं च कथमिव संभाव्येत, येन युगपत्तद्द्वितयं न स्यात् ? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञानं युगपत्सर्वभासनं, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु कथमित्युच्यते, शेषं सर्वं क्रमवृत्ति, प्रकारान्तरासंभवात् । तेन क्रमभावि च यन्मत्यादितत्त्वज्ञानं तदपि प्रमाणमिति व्याख्यातं भवति, ‘ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, तत्प्रमाणे ’ इति सूत्रकारवचनात् । ननु च मत्यादिज्ञानचतुष्टयमपि युगपदिष्यते, ‘ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः. ’ इति सूत्रसद्भावादिति न शङ्कनीयं, मत्यादिज्ञानानामनुपयुक्तानामेव यौगपद्यवचनात् ‘ सह द्वौ न स्त, उपयोगाद्वि ’ त्यार्षवचनात् । छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेत्, नैवं, विशेषानभिधानात् । सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते इति न्यायात् तद्विशेषगतिरिति चेत्, न, अन्यथापि विशेषगतिसंभवात्—तत्रैवेति, प्रमाणाभावात् । क्वचिदात्मनि मत्यादिज्ञानानि सोपयोगानि युगपत्संभवन्ति सकृत्सन्निहितस्वविषयत्वात् दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ चक्षुरादिज्ञानपञ्चकवदित्यनुमानादिष्टविशेषगतिरस्तु । न चेदमुदाहरणं साध्यविकलं चक्षुरादिज्ञानानां क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधानाद्विच्छेदोपलक्षणप्रसङ्गात्. प्रसिद्धक्रमभाविरूपादिज्ञानवदिति न मन्तव्यं, चक्षुरादिज्ञानपञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेपि विच्छेदानुपलक्षणं, क्षणक्षयवत् तथागतस्य, स्यात् । तेषां यौगपद्ये हि संतानभेदात् परस्परपरामर्शाभावः सन्तानान्तरवत् । यौगपद्येपि संतान-

भेदाभावेऽक्षमनोध्यक्षयोरपि यौगपद्यमस्तु विशेषाभावात् । मानसप्रत्यक्षेऽपि चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवेन कश्चिद्विशेषः क्रमवृत्तौ चक्षुरादिज्ञानवद् व्यवधानप्रतिभासविकल्पप्रतिपत्तेरसंभवात् । न च चक्षुरादिज्ञानरङ्गरूपात्महभाविनः क्रमभुवां तदनन्तरजन्मनां मानसप्रत्यक्षाणां व्यवधानेन प्रतिभासभेदप्रतिपत्तिरस्ति । तेषां लघुवृत्तेः क्रमभावित्वेऽपि न व्यवधानेन प्रतिभासविकल्पानां प्रतिपत्तिरिति चेत्, तत एव चक्षुरादिज्ञानानामपि विच्छेदोपलक्षणं मा भूत्, क्रमभावेऽपि विशेषाभावात्। यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्ययवमर्शविरोधः पुरुषान्तरवत् । जैनानामपि क्रमभावश्चक्षुरादिवेदनानामुपपन्न एव । तद्वन्मत्यादिज्ञानानामपि सोपयोगानां क्रमभावो निरुपयोगानां तु यौगपद्यमविरुद्धं, विषयस्यानेकान्तात्मकत्वात् । ततः सोपयोगमतिज्ञानादि क्रमभावि स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यं, तस्य नयोपलक्षितत्वात् केवलज्ञानवत् स्याद्वादोपलक्षितत्वाच्च । कुत एतदिति चेत्, विकलसकलविषयत्वात् तयोः, 'तत्त्वज्ञानं वा स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यं क्रमाक्रमभावित्वे कथम् ? तत्त्वज्ञानं स्यादक्रमं, सकलविषयत्वात् । स्यात् क्रमभावि, विकलविषयत्वात् । स्यादुभयं, तदुभयविषयत्वात् । स्यादवक्तव्यं, युगपद्वक्तुमशक्तेः । ' इत्यादि. सप्तभङ्ग्याः प्रमाणनयवशादुपपत्तेः । अथवा प्रतिपर्यायं स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यं, स्यात्प्रमाणं स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात्, स्यादप्रमाणं प्रमाणान्तरेण प्रमेयत्वात् स्वतो वा । अथवा स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात् इत्यादि योजनीयम् ॥ १०१ ॥

तस्य तत्त्वज्ञानान्तरस्यात्मनश्च, तदेवमित्यादिसकलेत्यादिविशेषणत्रयेण क्रमेणाव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषपरिहारः । भाष्ये बुद्धेरनेकान्तादिति बुद्धेः प्रामाण्यं प्रत्यनेकान्तादित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति येनाकारेणेति, प्रसिद्धेत्यादि तथा च प्रमाणेऽपि क्वचिदभूतभासमानपर्यायावच्छेदेनाप्रमाजनकत्वरूपाप्रामाण्यस्याप्रमाणेऽपीदन्ताद्यवच्छेदेन धारावाहिफलम-

पेक्ष्य प्रामाण्यस्योभयत्र च स्वसंवेदनांशे समुच्चयेऽशावलम्बित्वांशे च प्रमात्वाप्रमात्वोभयसाम्राज्यादनेकान्तव्यवस्था सुघटेति सिद्धम् । कथञ्चिन्निस्यप्रतिभासेऽपीति वासनाविशेषाद्बहिमत्त्वादिसंसर्गांशे मिथ्याप्रतिपत्तावपि, संवादोत्कर्षात्तत्र प्रामाण्यव्यवस्थितिरन्यथा नेत्यर्थः । लौकिकव्यवहारमपेक्ष्य वेदमुच्यते लोकोत्तरन्तु प्रामाण्यमनेकान्तवासनोपनीतानन्तधर्मात्मकवस्त्वगाहित्वेन संशयादावपि तत्समस्त्येवेति स्याद्वादप्रसिद्धं विवेचितमध्यात्ममतपरीक्षादावस्माभिः ॥ दृष्ट एवाखिलो गुण इति अर्थानां लिङ्गत्वनिर्देश इत्यर्थः । निरूपणेनेति प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वादित्यर्थः ॥ तत्र च रूपादिदर्शने च, परोक्षत्वोपपत्तेरिति विकल्पलिङ्गानुमानादित्यर्थः । न तस्य विषयत्वन्तु तुल्यसामान्यगोचरत्वात्, मणिप्रदीपप्रभयोरिति मणिप्रभायां प्रदीपप्रभायां चेत्यर्थः । तदा तदाह तस्य न प्रामाण्यापि प्रत्यक्षेऽनुमाने चान्तर्भावसम्भवात् प्रमाणद्वयविभागव्याघातो भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह भाष्ये, न हि तत्प्रत्यक्षमित्यादि. स्वविषय इति दीपप्रभांश इत्यर्थः । यदंशे संवादस्तदंशे प्रामाण्यमबाधमिति मत्वाऽऽह वृत्तिकृत् , तत्रेत्यादि, यत्प्रकारेण विसंवादस्तत्प्रकारेण भ्रमत्वे त्वभ्युपगम्यमाने प्रकृतेऽपि तत्तुल्यमित्याह, धावतामित्यादि, कुञ्चिकाविवरे द्वारप्रवेशविवरे, माभूत्तर्हि मणिप्रभायां मणिज्ञानं प्रत्यक्षम्, आनुमानिकं तद्भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह नापि लैङ्गिकमित्यादि, किं केन कृतं स्यादिति न केनचित् किञ्चिदित्यर्थः । प्रतिपन्नव्यभिचारस्येति मण्युत्पत्तिप्रदेश इत्यर्थः । य इत्थमिति, अत्र प्रयोगश्चायं, ममायं प्रतिभासो मणिसंस्थानवान् एवंप्रतिभासत्वात् संप्रतिपन्नप्रतिभासवदिति । स्वयमसिद्धेनेति अन्यत्रापि मणिप्रभाप्रतिभासे मणिसंस्थानविषयत्वस्यासिद्धेः पर्वतो वह्निरित्यस्यैव मणिप्रभायामयं मणिरित्यस्य लैङ्गिकज्ञानस्यापि भ्रमरूपतायाः सर्वसिद्धत्वाच्च ।

एतेन कुञ्चिकापवरकसाधारणस्थूलदेशपक्षकमप्यनुमानमपास्तम्, अभेदानुमितेरेव विचार्यत्वात् । प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः प्रत्यक्षप्रमाणत्वप्रसक्तेः, सम्भवत्येवेत्यत्र संवादनैकान्त इति योगः । लिङ्गज्ञानवत् धूमदर्शनानन्तरधूमज्ञानवत्, पारम्पर्येणेति अग्निस्वलक्षणाद्धूमस्वलक्षणं ततो धूमनिर्विकल्पं ततो धूमविकल्प उत्पद्यत इत्येवमुत्पत्तिपारम्पर्यं बोध्यम् । अर्थप्रापकत्वं च लिङ्गज्ञानस्य स्वविषयप्राप्तिद्वारा तत्प्रतिबद्धसाध्यप्राप्तिपरम्परयेति बोध्यम् । तदाभासशून्ययोरपि अवस्तु-सामान्यगोचरयोरपि, तथा मिथ्या, यावदप्राप्तं तावद्विधेयमित्यनूद्य विधेयभावे कामचारमभिप्रेत्याह भाष्यकृत्, प्रमाणमेव वेत्यादि, फलज्ञानस्यापि फलीभूतज्ञानस्यापि, प्रमाणत्वोपगमादिति धारावाहिकप्रामाण्यव्यवस्थितेरित्यर्थः । अनि-र्णीतनिर्णयात्मकत्वात् निर्विकल्पकानिश्चितनीलादिनिश्चयात्मकत्वात्, अधिगमोऽपि निर्विकल्पकानन्तरसमुद्भूतो व्यवसा-योऽपि, प्राथमिककल्पिको मुख्यवृत्त्या प्रमाणभूतः, धूमकेतुर्लैङ्गिकवदिति प्रत्यक्षनिश्चितेऽग्नौ तदनुमितिवदित्यर्थः । ज्वालादिविशेषादिति ज्वालादिविशेषस्य धूमकेतुसम्बन्धित्वेन ग्रहादेकसम्बन्धिज्ञानेऽपरसम्बन्धिस्मरणस्यौत्सर्गिकत्वा-दिति भावः । स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणमिति सम्बन्धस्मरणाद्व्याप्तिप्रत्यभिज्ञानादिफलोपयोगे प्रामाण्यमित्यर्थः । फलीभूतस्मृतेरपि याथार्थ्यं तु विषयाबाधादेव दुर्निवारं, तस्याः प्रमात्वस्यानुभवप्रमात्वपारतन्त्र्येऽपि व्याप्तिज्ञानप्रमात्व-परतन्त्रानुमितिप्रमात्ववदविरोधात्, तद्वदेव ‘याचितकमण्डन’ न्यायेनायथार्थत्वाव्यवस्थितेरित्यादिकमुपपादितमन्यत्र । ‘तस्येति’ तस्य सर्वोपसंहारेण व्याप्तिज्ञानादिरूपोहस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भजन्यत्वाद्विशेषान्वयव्यतिरेकग्रहसामा-न्यव्यभिचारनिर्णयजन्यत्वात्, अविचारकत्वाच्चेति उहोपयोगे तु लाघवादिविचारस्यापि प्रवेशान्न दोष इति भावः ।

अनुमानव्यतिरेकेऽपीति, अपिरस्वरसद्योतकः, तेन तत्त्वतोऽर्थापत्त्यादेरनुमानादावेव .नाव इत्युक्तं भवति, 'त्रिधेति' इन्द्रियनोइन्द्रियस्वसंवेदनभेदात्, भ्रिनमविप्लवमिति अभ्रान्तत्वं श्रितमित्यर्थः। 'मननं चेति,' अत्र वदन्ति श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानुयायिनः क्रमिकज्ञानदर्शनोपयोगद्वयाभ्युपगमेऽपि केवलिनः सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वयोः सातत्यस्य साद्यपर्यवसितत्वस्य च लब्ध्यपेक्षया न विरोधो, मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोरपि षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वस्येत्थमेवोपपादनात्, उपयोगस्थितेरुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणत्वादेव सामग्रीद्वयसमाजेऽप्येकदा केवलज्ञानदर्शनद्वयानुत्पादे मतिश्रुतयोरेव दृष्टान्तत्वात्, "सह द्वौ न स्त उपयोगौ" इत्यार्षवचनादेव च केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनोपयोगात्, तस्य छद्मस्थोपयोगविषयत्वेन सङ्कोचकरणे बीजाभावात्, स्वभावहेतोरुभयत्राविशेषादादौ केवलज्ञानोपयोगोत्पादे च "सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्यैव भवन्ति" इति वचनस्यैव विनिगमकत्वात्, तदनन्तरं केवलदर्शनोपयोगोत्पादस्य चार्थसिद्धत्वात्, तदनन्तरं क्रमिकोपयोगद्वयधारायाश्च स्वरसत एव प्रवृत्तेः, क्षणद्वयोत्पन्नज्ञानदर्शनोपयोगानुवृत्त्यभ्युपगमस्य च विरोधेनैव निरस्तत्वात् उत्पत्तौ विरोधो न तु स्थिताविन्यस्य च वक्तुमशक्यत्वात्, वस्तुतः केवलदर्शने केवलज्ञानोपयोगसहकृतदर्शनावरणक्षयस्य केवलज्ञाने च केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतकेवलज्ञानावरणक्षयस्य हेतुत्वान्नाशे चर्जुसूत्रनयावलम्बनेन प्रतियोगिन एव तथात्वात् केवलिनः क्षणिकोपयोगद्वयधारायां न काप्यनुपपत्तिः, व्यवहारनयावलम्बनेन नाशहेत्वनभ्युपगमेऽपि क्रमिकाद्योपयोगद्वयमुक्तहेतुसमाजादुर्निवारमेव, अन्यथा समूहालम्बनैकोपयोगापत्तेरिति भावनीयम्, स्फुटं च सूत्रे तत्र तत्र केवलिनः सिद्धस्य चैकदैकतरोपयोग एव प्रतिपादित इति किं विपरीतयुक्तिभिरिति। अत्र च केवलिनो युगपदुपयोगद्वयमिति

श्रीसिद्धसेनाचार्याणां मतं, क्रमेणेति पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानां, वृत्तिविशेषात् केवलज्ञान एव दर्शनत्वं परिभाष्यते, न तु मतिज्ञानादिवद्दर्शनोपयोगोऽपि ज्ञानात् पृथक्कश्चित् सम्भवति केवलिनः । तदुक्तं, " चक्षुर्वद्विषयाख्याति-रवधिज्ञानकेवले ॥ शेषवृत्तिविशेषात्तु, ते मते ज्ञानदर्शने ॥१॥ " इति, तस्मात् केवलज्ञानाख्य एव एकोपयोगः केवलिन इति निष्कृष्टं सिद्धसेनाचार्याणामेव मतं, मल्लवादिप्रभृतीनां वा, एतच्च त्रयमपि ऋजुसूत्र-व्यवहार-सङ्ग्रहनयभेदादविरोधेन व्यवस्थापितमस्माभिर्ज्ञानबिन्दौ महता प्रबन्धेनेति व्युत्पत्त्यर्थिनाऽत्रार्थे स एव ग्रन्थोऽनुसन्धेयः । ये तु बालिशा नयभेदेन प्रवृत्तेऽप्याचार्यमतभेदे शङ्काव्याकुलितचेतसः शासनमेव निन्दन्ति, तेऽभव्या दूरभव्या वा, अचारित्रिण एव चारित्रप्रतिपत्तिश्चारित्रिण एव वेत्यादिनयभेदेनाप्येवंजातशासनसंशयसन्निपातस्य भगवद्भिषग्वरेणाप्यप्रतीकार्यत्वापत्तेरिति दिग् । तद्विशेषगतिः उपयोगपदस्य छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगपरता, अन्यथाऽपि छद्मस्थोपयोगमात्रविषयत्वेनापि, क्वचिदित्यादिर्नसन्तव्यमित्यन्तं पूर्वपक्षग्रन्थः, चक्षुरादीत्यादि भाष्यमुत्तरग्रन्थः । सन्तानभेदाद्रूपज्ञानस्य ज्ञानसन्तानादिभेदात्, परस्परपरामर्शाभावः य एवाहमद्राक्षं स एव स्पृशामीत्यादिप्रत्यभिज्ञाभावः, स्यादिति शेषः । अक्षमनोध्यक्षयोः चक्षुरादिज्ञानमानसज्ञानयोः, विषयस्य ग्राह्यस्य, अनेकान्तात्मकत्वादिति क्रमयुगपद्भावेनेति शेषः । स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यमिति तथा च संस्कृतपदमुपलक्षितपरमित्यर्थः । नयोः नयस्याद्वादयोः, वस्तुतः संस्कृतपदमाहितातिशयार्थमेव, तथा च प्रतिनियतैकार्थावधारणात्मकं यन्मतिज्ञानादि तन्नयसंस्कृतं, यच्चानन्तधर्मात्मकत्वेन विषयपरिच्छेदि तत्स्याद्वादसंस्कृतं, आद्यं लौकिकं प्रमाणं, परमलौकिकं, नयस्याद्वादार्थप्रतिसन्धानजनितसंस्कारोपनयादेव तयोर्विषयताविशे-

षरूपातिशयाधानोपपत्तेरिति युक्तमाभाति । तत्त्वज्ञानं वेनि तथा च धर्मितावच्छेदकमामानाधिकरण्येनात्र क्रमाक्रमविषय-स्याद्वादनयप्रवृत्तिर्युक्तैवेति भावः । स्यादक्रममिनि केवलज्ञानापेक्षया, स्यात् क्रमभावीनि मत्यादिज्ञानापेक्षया ॥१०१॥

अथ प्रमाणफलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाहुः—

उपेक्षाफलमाद्यस्य, शेषस्यादानहानधीः ॥ पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा, सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

कारिकापाठापेक्षया युगपत्सर्वभासनं केवलमाद्यं, तस्य व्यवहितं फलमुपेक्षा । कुत इति चेदुच्यते, सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलिनां सर्वत्रोपेक्षा । हेयस्य संसारतत्कारणस्य हानात्, उपादेयस्य मोक्षतत्कारणस्योपात्तत्वात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम् । ननु करुणावतः परदुःखजिहासोः कथमुपेक्षा ?, तदभावे कथं चाप्तिः ?, इति चेत्, न, तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः संभवाभावात् स्वदुःखनिवर्तनवदकरुणयापि वृत्तेरन्यदुःखनिराचिकीर्षायाम् । नन्वस्मदादिवदयालोरेवात्मदुःखनिवर्तनं युक्तम् । तथा हि, यो यः स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स स्वात्मनि करुणावान्, यथास्मदादि. । तथा च योगी स्वात्मनि संसारदुःखं निवर्तयतीति युक्तिः । न चात्र हेतुर्विरुद्धोऽनैकान्तिको वा, विपक्षे सर्वथाप्यभावात् बाधकप्रमाणसामर्थ्यात्, स्वसाध्याविनाभावसिद्धेः । तथा हि, यः स्वात्मन्यकरुणावान्न स स्वदुःखं निवर्तयति, यथा द्वेपादेर्विषभक्षक इति, साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्तिनिश्चयात् । भयलोभादिनात्मदुःखनिवर्तकैर्व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तेषामपि करुणोत्पत्तेः । न ह्यात्मन्यकरुणावतः परतो भयं लोभो मानो वा संभवति, तस्यात्मकरुणाप्रयुक्तत्वात् । इति परम्परया करुणावानेवात्मदुःखमनशनादिनिमित्तं निवर्तयति । भयादिहेतुका वा कस्यचिदात्मनि करुणोत्पद्यते । सोत्पन्ना सती स्वदुःखं निवर्तयति । इति साक्षात्करुणयात्मदुःखनिवर्तने प्रवर्तते ततो न व्यभिचारः । एतेनादृष्टवि-

शेषस्ववशादात्मनि दुःखनिवर्तनपरैर्व्यभिचारचोदना निरस्ता, ततः करुणोत्पत्तेरेव तन्निवर्तनात । तन्नाकरुणस्यात्मदुःखनिवर्तनं दृष्टम । अतोऽयममसमाधिरिति चेत, न, स्वभावतोपि स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत । न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो दुःखहेतोर्निवर्तयतीति । किं तर्हि ? तथास्वभावात । कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करणस्वभावसामर्थ्यं मृग्यम् । एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत । ततो निःशेषान्तरायक्षयादभयदानं स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया । सैव च मोहाभावाद्राग-द्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा । तीर्थकरत्वनामोदयात्तु हितोपदेशप्रवर्तनात परदुःखनिराकरणसिद्धिः । इति न बुद्धवत्करुणयास्य प्रवृत्तिर्भगवतो, येनोपेक्षा केवलस्य फलं न स्यात । अव्यवहितं तु फलमात्रस्याज्ञाननिवृत्तिरेव, स्वविषये मत्यादिवत । तथा हि, मत्यादेः साक्षात फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदस्तदभावे दर्शनस्यापि सन्निकर्षाविशेषात क्षणपरिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात । तदनेन प्रमाणाद्भिन्नमेव फलमिति व्युदस्तम्, तथा परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा वा मत्यादेः । एतेनाभिन्नमेव प्रमाणात्फलमिति निरस्तम । तथा हि, करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत, नानात्वं च परश्वादिवत् । ननु च 'यथा देवदत्तः काष्ठं परशुना छिनत्तीति करणस्य क्रियायाश्च नानात्वं सिद्धं, छिदेः काष्ठस्थत्वात्परशोर्देवदत्तस्थत्वात, तथा प्रदीपस्तमो नाशयत्युद्द्योतेनेत्यत्रापि करणस्योद्द्योतस्य क्रियायाश्च तमोविनाशात्मिकाया नानात्वमेव प्रतीयते । तद्वत्करणस्य प्रमाणस्य क्रियायाश्च फलज्ञानरूपाया नानात्वेनैव भवितव्यं, तदनानात्वे दृष्टान्ताभावात' इति केचित, तेपि न प्रतीत्यनुसारिणः, प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयतीति प्रतीतेः, प्रदीपात्मनः कर्तुरनन्यस्य कथंचित्करणस्य, प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथंचिदभेदसिद्धेः । तद्वत्प्रमाणफलयोः कथंचिदव्यवहितत्वसिद्धिरुदाहरणसद्भावात । सर्वथा तादात्म्ये तु प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात । न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः

फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति । दर्शनस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्, न, स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदानुपपत्तेः। तस्माद्ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायामपि व्यामोहविच्छेदाभावे विसंवादानिराकरणे तदज्ञस्येव विषयदृष्टिः प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति। तावतैव प्रमाणत्वे क्षणिकत्वाद्यनुमानमधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणमिति निरूपितप्रायम् ॥ १०७ ॥

सर्वत्रोपेक्षा स्वविषयमात्रे जिहासोपादित्सारहितः सिद्धयोगपरिमाण इति यावत्। **मोहविशेषात्मिकाया इति**, मोहासुखसंवेगान्यहितयुतत्वेन चतुर्विधाया अपि करुणाया मोहविलासरूपत्वान्निष्पन्नयोगस्य च मैत्र्यादिवर्जितसद्बोधमात्रचित्तश्रुतेरिति भावः। **सैव चेति** उपेक्षा वा परमा दया वाऽभयदानं वा सिद्धयोगो वेत्यनर्थान्तरं, तत्परिपाकश्चाशैलेश्यन्त्यक्षणं केवलज्ञानादित्युपेक्षायास्तत्फलत्वं, व्यवहितत्वं च तस्याः शैलेश्यन्त्यक्षणे परिपाकादिति बोध्यम्। **अव्यवहितं त्विति** ज्ञानाज्ञानध्वंसयोः सहभावेऽप्यभेदे हेतुफलभावः प्रदीपप्रकाशयोरिवेति द्रष्टव्यम्। **भिन्नफलापेक्षया तु न किञ्चिदपि केवलादि**त्यनेन निष्फलत्वमेवोच्यते, प्रमाऽयोगव्यवच्छेदाभिप्रायेण च परेषामीश्वरज्ञान इव न प्रमाणलक्षणायोग इति युक्तं पश्यामः। मत्यादेर्भिन्नाभिन्नं फलमुपदर्शयितुमाह भाष्यकृत् मत्यादेरित्यादिना, **परम्परया हानोपादानसंवित्तिरिति** व्यवधानेन जिहासाजनिकोपादित्साजनिका वा बुद्धिर्मत्यादेः फलमित्यर्थः। तद्द्वारा च हेयोपादान(देय)हानोपादानात्मिका विरतिरपि फलं सङ्गच्छते॥ **तदुवाच वाचकचक्रवर्ती** "ज्ञानस्य फलं विरतिरिति" उक्तद्वारद्वारिभावं 'सवणे नाणे य विन्नाणे' इत्यादि पारमर्षसङ्ग्रहगाथयाऽनुगच्छामः। अत एवोपेक्षामपि बहिष्प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयान्तरसञ्चारशून्यनिभृतज्ञानरूपां मत्यादिफलत्वे

नोपेक्षा वेत्यनेन समुच्चिनोति स्म वृत्तिकारः। विषयप्रतिभासात्मपरिणामवत्तत्त्वसंवेदनानां यथोत्तरशुद्धत्वात्तृतीयस्य च विरति-क्रोडीकृतत्वात् स्मृत्यजनकज्ञानरूपोपेक्षायास्तु न कथमपि मत्यादिप्रमाणफलत्वम्, अवग्रहादिधारणापर्यन्तत्वान्मत्युपयोग-स्येति विभावनीयं सुधीभिः। अभेद एव प्रमाणफलभाव इति बौद्धैकान्तं निरस्यति—सर्वथा तादात्म्ये त्विति, न हीति, अस्य दर्शनस्य, सारूप्यं स्वलक्षणविषयत्वेन सादृश्यं, प्रमाणं प्रामाण्यभागः, अधिगतिः फलं फलभाग इति योजना, प्रमाण-फलव्यवस्थायामपीति ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्था पूर्वं न हि सारूप्यमित्यादिना निराकृतैव, इदानीं तामङ्गी-कृत्यापि दूषणान्तरं समुच्चीयत इत्यपिः सूचयति, तदज्ञस्येव नीलाद्यविषयज्ञानस्येव, विषयदृष्टिः विषयघटितप्रामाण्यदर्शी लौकिकपरीक्षकः ॥ १०२ ॥

ननु च स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानमित्युक्तं तद्वत् फलमपीति स एव तावत् स्याच्छब्दोऽभिधीयतामित्याहुः—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती, गम्यं प्रति विशेषणम् ॥ स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वा—त्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

किं पुनर्वाक्यं नामेत्युच्यतां, तत्र विप्रतिपत्तेः। तदुक्तम् ॥ (१) आख्यातशब्दः (२) सङ्घाता, (३) जातिः संघातवर्तिनी ॥ (४) एकोनवयवः शब्दः, (५) क्रमो (६—७) बुद्ध्यनुसंहृती ॥ १ ॥ (८) पदमाद्यं (९) पदं चान्त्यं, (१०) पदं सापेक्ष-मित्यपि ॥ वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना, बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥ २ ॥ इति। अत्रोच्यते, पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं, (१) न पुनराख्यातशब्दः, तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वादन्यथाऽऽख्यातपदाभावप्रसङ्गात्। पदान्तरसापेक्षस्यापि कचिन्नि-रपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात्, प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः, निराकांक्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम्, (२) संघातो वाक्य-

मित्यत्रापि परस्परापेक्षाणां पदानामनपेक्षाणां वा ' ।थमपक्षे निराकाङ्क्षत्वेस्मत्पक्षसिद्धिः, साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः । द्वितीयविकल्पेतिप्रसङ्गः । (३) जातिः संघातवर्तिनी वाक्यमित्य ग्रनेन विचारितं, निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसंघातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्यत्वघटनादन्यथा तद्विरोधात् । (४) एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यमित्यप्ययुक्तं, तस्याप्रमाणकत्वात्, श्रोत्रबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् । अर्थप्रतिपत्तिर्लिङ्गमिति चेत्, न, अन्यथापि तद्भावात्, वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् तत्त्वार्थालङ्कारे निरस्तत्वात् । (५) क्रमो वाक्यमित्यपि न विचारक्षमं, वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् । पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परापेक्षाणां निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, क्रमभुवां कालप्रत्यासत्तेरेव समुदायत्वात् सहभुवामेव देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वव्यवस्थितेः । अथ साकाङ्क्षस्तदा न वाक्यमर्धवाक्यवत् परस्परनिरपेक्षाणां तु क्रमस्य वाक्यत्वेतिप्रसङ्ग एव । (६) बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्यं वा ? प्रथमकल्पनायामिष्टमेव । द्वितीयकल्पनायां प्रतीतिविरोधः । (७) अनुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि नानिष्टं, भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोभीष्टत्वात् । (८–९–१०) आद्यं पदमन्त्यं वान्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यमित्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद्भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः, तदभावे पदसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात् । ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत् सर्वं परिणामि, यथा घटः, संश्च शब्द इति साधनवाक्यं तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयं, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तुर्धर्मोयं वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दस्य धर्मस्तस्याचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिति शेषमाकाङ्क्षति ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निग-

मनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ साधनावयवान्तरवचनापेक्षाप्रसङ्गात् । इति न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः । तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात् । ततो यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षपदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति मर्वं सुस्थम् । प्रकरणादिना वाक्यकल्पनेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवद् वाक्यत्वमिद्धेः । तदेवं लक्षणेषु वाक्येषु स्यादिति शब्दोनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती,तथाविवक्षापायात् । कः पुनरनेकान्त इति चेत् , इमे ब्रूमहे । सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोनेकान्तः, स च दृष्टेष्टाविरुद्ध इत्युक्तं प्राक् । तत्र क्वचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणनया प्रकृतार्थतत्त्वमवयवेन सूचयति. प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादिवत् । द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इति वचनात् स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वेपि न कश्चिद्दोषः, सामान्योपक्रमे विशेषाभिधानमिति न्यायाज्जीवादिपदोपादानस्याप्यविरोधात् स्याच्छब्दमात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रतिपत्तेरेव संभवात् । सूचकत्वपक्षे तु (ऽपि) गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं स्याच्छब्दस्तस्य विशेषकत्वात् । न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते किंचिद्वाक्यं, येन तदभिधेयविशेषरूपसूचकः स्यादिति न प्रयुज्यते, वाचः क्रमवृत्तित्वात् , तद्बुद्धेरपि तथाभावात् । ततस्तव भगवतः केवलिनामपि स्यान्निपातोभिमत एवार्थयोगित्वादन्यथानेकान्तार्थप्रतिपत्तेरयोगात् ॥१०३॥

पदानामिति, अत्र निरपेक्ष इति विशेषणं चैत्रः स्थाल्यां पचतीत्यादौ कर्मादिपदन्यूनेऽतिव्याप्तिवारणाय, एवं सति स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकाममित्यादावाकृत्यादिपदे नाधिकेऽप्यतिव्याप्तिवारणार्थं विशेषणान्तरदानध्रौव्ये तत्तद्दोषाभावकूटविशिष्टपदसमुदायत्वं वाक्यलक्षणं स्यात्तच्चाननुगमदोषादनिष्टम् , यदि च न्यूनाधिकादाववस्थितवाक्यार्थबोधः प्राथमकल्पिको

निराबाध एव, न्यूनत्वादिदोषस्फूर्त्तिश्चौत्तरकालिकी वक्तृवैगुण्यमेवावेदयति, रसभङ्गं वा जनयतीति विभाव्य तदाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमतां पदानां समूहो वाक्यमित्येतावदेव लक्षणं सम्यगिति न्यायविदः। अथ का नामाकाङ्क्षा, न तावदविनाभावः, घटमानयेत्यादावभावात्, घटः कर्मत्वमित्यादावपि व्यक्त्योस्तत्सत्त्वाच्च, नापि समभिव्याहृतपदस्मारितपदार्थजिज्ञासा, घटमित्युक्ते आनय नय वेतिजिज्ञासोदयात् घटः कर्मत्वमित्यादौ तदभावादिति वाच्यम्। अजिज्ञासोरप्यन्वयबोधात्, जिज्ञासायाः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वादाकाङ्क्षाभ्रमाच्छाब्दबोधानुपपत्तेश्च। उच्यते, अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षा, अभिधानं पदं तस्यापर्यवसानमन्वयाननुभावकत्वं, तथा च यस्य पदस्य समभिव्याहृतयत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तं यादृशान्वयाननुभावकत्वं तादृशान्वयाननुभवे समभिव्याहृततत्पदस्य तेन तादृशान्वयाननुभावकत्वं तयोराकाङ्क्षेति फलितम्, अस्ति च द्वितीयादिपदस्य घटादिविशिष्टकर्मत्वाद्यन्वयाननुभावकत्वं घटादिपदव्यतिरेकप्रयुक्तं, ननु कर्मत्वादिपदस्य, घटादिपदसत्त्वेऽपि स्वत एव तस्याननुभावकत्वादिति घटमित्यादावाकाङ्क्षा, नतु घटः कर्मत्वमित्यादौ, यदि च मौनिश्लोके पदाभावान्नेदं युक्तमिति विभाव्यते, तदा यादृशपदज्ञानस्य यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानाभावप्रयुक्तं यादृशान्वयाननुभावकत्वमित्यादि वाच्यम्, इयमाकाङ्क्षा घटमित्यादावुभयपदज्ञाननिष्ठा, लाक्षणिकस्याननुभावकत्वे गङ्गायामित्यादौ (लाक्षणिकस्याननुभावकत्वे) त्वेकपदज्ञाननिष्ठैव, वक्ष्यमाणप्रयुक्तत्वस्य लाक्षणिकेऽपि सम्भवे तूभयतस्तथैव, तत्प्रयुक्तत्वं च यद्यपि न तज्जन्यत्वम्, असम्भवात्, नापि तद्व्यापकत्वं, पदज्ञाननिष्ठाननुभावकत्वस्य पदान्तरसमभिव्याहारज्ञानाभावाव्यापकत्वात्, नापि तद्व्याप्यत्वं, योग्यताज्ञानाद्यभावेन तादृशान्वयानुपधायके घटमित्यादिवाक्ये व्यभिचारात्, तथापि यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानातिरिक्त-

यादृशान्वयबोधकसकलसहकारिसमवहितयादृशपदज्ञाननिष्ठयादृशान्वयानुभवानुपधायकत्व [illegible]
व्याप्यं तादृशपदस्य तादृशपदसमभिव्याहारविशिष्टं तादृशपदज्ञानस्य तादृशान्वयानुभवाभाव[illegible] [illegible]मः ॥
तादृशसहकारिसमवहितकर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञाननिष्ठं कर्मत्वोद्देश्यकघटान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यं घटोपस्थापकपदसमभिव्याहारज्ञानाभावव्याप्यं, न तु कर्मत्वोपस्थापकनामपदज्ञाननिष्ठं, सत्यपि घटोपस्थापकपदसमभिव्याहारज्ञाने तादृशसकलसहकारिसमवहिते घटः कर्मत्वमित्यादिवाक्यगते कर्मत्वपदे तादृशान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यसत्त्वेन व्यभिचारात् । न च कर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञाननिष्ठतादृशबोधाभाववैशिष्ट्यमपि न तदभावव्याप्यं, सत्यपि योग्यतादिज्ञाने घटमित्यादितोऽपि विपरीतव्युत्पन्नीयबोधाभावादिति वाच्यम् । व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयत्वेन निरुक्तान्वयबोधविशेषणात्, विपरीतव्युत्पन्नस्य तु निरुक्ताकाङ्क्षाभ्रमादेव शाब्दबोधः । अत एव निरुक्तव्याप्यत्वरूपप्रयुक्तत्वघटिताकाङ्क्षाया ज्ञानमेव कारणम्, इत्थं च सद्व्युत्पन्नस्य घटमित्यादित एव, विपरीतव्युत्पन्नस्य तु घटः कर्मत्वमित्यादित एव बोधः । यत्तु यत्पदं यत्पदेन सह यादृशान्वयानुभवजनकं तत्पदस्य तत्पदसमभिव्याहार आकाङ्क्षा, तज्ज्ञानं कारणं, प्रकृतान्वयबोधसमानाकारस्वजन्यान्वयबोधविरहरूपा तु सा स्वरूपसती कारणं, सद्व्युत्पन्नीयशाब्दबोधे घटादिनामबोधे घटादिनामपदसमभिव्याहृतविभक्तिज्ञानं, विपरीतव्युत्पन्नीयबोधे च तत्समभिव्याहृतकर्मत्वादिपदज्ञानं कारणमिति नातिप्रसङ्ग इति मञ्जरीकारादिमतं, तन्न, द्वयोरपि द्विविधज्ञानाच्छाब्दबोधापत्तेः । अथ व्युत्पत्तिरपि तत्तज्ज्ञानसहकारिणी, तथा च तत्तदानुपूर्वीज्ञानं तत्तदानुपूर्वीज्ञाने व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्वज्ञानं च तत्तदानुपूर्वीज्ञानजन्यशाब्दबोधहेतुरिति फलितमिति चेत्, न, निरुक्तप्रयुक्तत्वघटिता-

कांक्षाज्ञानत्वेन कारणत्वे लाघवात्, अनन्यथासिद्धत्वादिघटितजनकत्वज्ञानत्वस्य गुरुत्वात्, कारणाभावप्रयुक्तः कार्याभाव इति धीसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः प्रयुक्तत्वमिति मते सुतरां लाघवम्, अत्र घत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताम्त्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानत्वेन घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य घटादिपदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकसमादिपदमितिज्ञानसहितस्य तादृशानुपूर्वीज्ञानविशिष्टघटादिविधेयककर्मत्वादिबोधे हेतुत्वं, लक्षणे च यादृशेति घविशिष्टटत्वाद्यवच्छिन्नपरं, सामान्यतो वृत्त्या घटोपस्थापकनामपदसमभिव्याहृतकर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञानं तादृशाननुभावकत्वज्ञानसहितं तथेति तु न युक्तं, वृत्त्या घटोपस्थापकत्वस्याव्यावर्त्तकत्वात्, तत्तत्काले तत्तत्पुरुषस्येत्युक्तौ च तत्तद्व्यक्तित्वे पर्यवसानादिति मन्तव्यम्। अथायमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ राज्ञ इत्यस्य पुरुषान्वयाननुभावकत्वं पुरुषपदसमभिव्याहारेऽप्यस्तीति राज्ञ इत्यादिवाक्येऽपि पुरुषान्वयानुभावकत्वं न स्यादिति चेन्, न, अत्र पूर्वोत्तरभावरूपसमभिव्याहारसत्त्वेऽप्येकवाक्यताभिप्रायविषयत्वरूपसमभिव्याहाराभावात् सविभक्तिकपदयोस्तात्पर्यस्यापि तस्यैव वा समभिव्याहाराभावात् सविभक्तिकपदयोस्तात्पर्यस्यापि तस्यैव वा समभिव्याहारत्वाद्राजपदनिष्ठाकाङ्क्षायाः मसम्बन्धिकपुत्रादिपदेन सह झटिति तेन तात्पर्यग्रहसमवहितत्वमुत्थितत्वं विपर्ययात्तदितरपदेनोत्थाप्यत्वमिति विशेषः। ननु राज्ञ इत्यस्य तात्पर्यभ्रमेण पुरुषेणान्वयबोधे पुत्रेण तात्पर्यग्रहेऽपि तेनान्वयबोधो न स्यादिति चेत्, न, तादृशान्वयाननुभावकत्वस्य सत्त्वाद्राज्ञः पुत्र इति बोधे जननीये तादृशबोधाभावस्यैव तत्त्वात्, न चैवं पुत्रेणान्वयबोधे पुरुषेणाप्याकांक्षा स्यात् तात्पर्यस्याकाङ्क्षाघटकत्वे तस्याभावात्, तदघटकत्वे इष्टत्वात्, तात्पर्यज्ञानाभावाच्च न तथाबोध इति। न चैवं तात्पर्येण गतार्थत्वं, घटः कर्मत्वमित्यादौ

तद्ग्रहेऽपि शाब्दबोधाभावात्, राजपदमपरपदार्थान्वितराजप्रतीतिपरमित्यर्थतात्पर्यग्रहमत्त्वेऽप्येकवाक्यताभिप्रायविषयत्वज्ञानानुमरणमावश्यकं, राजपदं पुरुषपदेन पुत्रपदेन वा महान्वयबोधक(जनक)मिति संशये शाब्दबोधाभावात्, तथा च यत्पदोपस्थितेरेकवाक्यताभिप्राययत्पदोपस्थितिव्यतिरेकेण यादृशान्वयाननुभावकत्वमित्यादि वाच्यम्। इत्थं च सैन्धवमानयेत्यादावेकवाक्यताभिप्रायज्ञानेऽपि मैन्धवपदमितरपदार्थान्वितलवणपरं तथाविधाश्वपरं वेति संशये शाब्दबोधानुदयादर्थतात्पर्यनिश्चयोऽपि कारणम्, एकवाक्यताभिप्रायस्याकाङ्क्षाघटकत्वमयमेति पुत्रो राज्ञ इत्यादौ तादृशाभिप्रायशालिपुत्रादिपदेनैव माकाङ्क्षत्वव्यवहारायेति मिश्राद्यनुमारी पन्थाः। अत्रान्वयाननुभावकत्वं तात्पर्यविषयतावच्छेदकावच्छिन्नान्वयानुभवाभावमाश्रित्य, तेनान्वयबोधद्वयं जायतामित्यादीच्छायामन्वयबोधद्वयादिकमपि युज्यते, अत एव च घटमानयेत्यादाववान्तरवाक्यार्थबोधोत्तरं महावाक्यार्थबोधो नानुपपन्नः, तत्पदार्थोद्देश्यकतत्पदार्थविधेयकबोधे तत्पदयोराकाङ्क्षादिज्ञानं हेतुः, महावाक्यार्थबोधे च नावान्तरवाक्यार्थांशे उद्देश्यविधेयभावः, इत्थं च घटविशिष्टकर्मत्वादिविधेयकानयनादिबोधे घटमित्यादिपदानामानयनादिपदेनैवाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुत्वे तु नात्रानुपपत्तिलेशोऽपि, तादृशबोधानुपधायकत्वरूपाकाङ्क्षामत्त्वात्, न चार्थतात्पर्यम्याप्याकाङ्क्षाघटकत्वे तात्पर्यज्ञानस्य पृथक्महकारित्ववैफल्यम्, एतद्वाक्याद् बोधद्वयं जायतामित्यादितात्पर्यसाधारणेन विषयाविशेषितरूपेणेह तात्पर्यनिवेशात् विषयविशेषितरूपेण तु तज्ज्ञानहेतुताया आवश्यकत्वात्, न चैवमेतद्वाक्याद्बोधमहस्रं जायतामितीच्छया बोधसहस्रापत्तिः, आद्यवाक्यार्थबोधाद्द्वितीयवद्द्वितीयादेस्तृतीयादिबोधस्यापि मम्भवादिति वाच्यम्, एतादृशेच्छाया अनिवेश्यत्वात्, सैन्धवपदं लवणं बोधयित्वाऽश्वं बोधयत्विति तात्पर्यज्ञानजन्याश्वबोधे तद्वाक्यजन्यलवणबोधस्य हेतुत्वात् क्रमनिर्वाहः। आकाङ्क्षाया अंशत्रयमेक

वाक्यताभिप्रायः, समभिव्याहारोऽननुभावकत्वं च, तत्राद्ययोर्ज्ञानं हेतुरन्त्यस्य तु प्रतिबन्धकाभावतया स्वरूपसत उपयोगः, अत्र शाब्दद्वयं जायतामितीच्छोत्तेजिका, तत्तदानुपूर्वीज्ञाने सदसद्व्युत्पन्नपुरुषीयशाब्दबोधाजनकत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वान्न सद्व्युत्पन्नविपरीतव्युत्पन्नयोर्घटः कर्मत्वं घटमित्याभ्यामन्वयबोधः, इत्थं च प्रयुक्तत्वादिबोधविधुराणामपि न शाब्दबोधवैधुर्यमिति तु नव्याः। राजपदं पुत्रपदार्थान्वितराजबोधं जनयत्वित्याकारकार्थतात्पर्यग्रहहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गेऽलं पदतात्पर्यग्रहहेतुत्वेनेति तु चिन्त्यम्, न चैवं मतद्वयेऽपि विशेषणान्तरविशिष्टविशेष्येण पुनरन्वयबोधसम्भवान्प्राथमिकबोधस्यैव द्वितीयबोधजनकत्वेनावृत्तिदोषस्याप्यभावात् समाप्तपुनरात्तदोषोच्छेदापत्तिः, तत्रानपेक्षितविशेषणेन शाब्दबोधसम्भवेऽपि तच्छाब्दबोधेन रसोद्बोधविलम्बस्यैव दोषप्रयोजकताया अलङ्कारशास्त्रे व्यवस्थितत्वात्, नामविभक्तिधात्वाख्यातक्रियाकारकपदानां परस्परं विना परस्परानन्वभावकत्वात्तेषां मिथः साकाङ्क्षत्वं, घटो नील इत्यादौ तु विशेषणविभक्तिरभेदार्थिका, नामार्थप्रकारकान्वयबोधमात्रं प्रति विशेष्यतया प्रत्ययजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्, यद्वा वह्निना सिंचति घटः पचतीत्यादेरपि सेककरणत्वकृत्योः कालिकसम्बन्धेन वह्निघटनिष्ठत्वात् योग्यत्वापत्तिवारणाय तत्तन्नामतत्तद्धातुसमभिव्याहृततत्तद्विभक्तेस्तत्तत्सम्बन्धेन तत्तन्नामार्थतत्तद्विभक्त्यर्थप्रकारकबोधहेतुत्वस्यानुगतस्य वाच्यत्वात् घटो नील इत्यादावभेदेनान्वयबोधो नानुपपन्नः। कथमत्र कस्यचिदभेदसम्बन्धेन कस्यचिदभेदप्रकारेण बोध इति चेत्, आद्यः सद्व्युत्पन्नस्य अन्त्यस्त्वन्यस्येति निश्चीयते, विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वकल्पने गौरवादिति। मीमांसकास्तु घटो नील इत्यादौ नीलं घटमानयेत्यादौ च नीलोऽस्ति घटोऽस्ति नीलमानय घटमानयेत्यन्वयबोधो, न तु नामार्थानां कारकाणां च परस्परमन्वयः, विशेषणान्वितविभक्त्यर्थानयनानुभवादिति न

विशिष्टवैशिष्ट्येनान्वयः । न चैवं नीलत्वेन घटत्वेन च घटयोरपि बोधः स्यादिति वाच्यम्, व्यक्तिवचनानां सन्निहितविशेषपरत्वनियमेन नीलत्वेन घटत्वेन चैकस्यैव बोधात्, अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणातीत्यादावरुणया क्रीणाति एकहायन्या क्रीणातीत्यादिबोधेऽपि यथारुण्येन गुणेन क्रयासाधनेन प्राप्तक्रयसाधनताकगोरूपद्रव्यपरिच्छेदकतयैव क्रयसाधनत्वं प्रतीयत इत्याहुः, तदसत्, विशिष्टवैशिष्ट्यबोधान्वयस्यैवात्र युक्तत्वात्, अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः, नीलघटमानयति न वेति संशयापत्तेः, नीलं घटं नानयतीत्यभावविशेषबोधान्यथानुपपत्तेश्च । यत्तु आकाङ्क्षायाः संशये शाब्दबोधानुदयात्तन्निश्चयत्वेन हेतुत्वं वाच्यम्, तथा च लाघवादनाकाङ्क्षत्वज्ञानमेव प्रतिबन्धकमस्तु, न च ज्ञानत्वेन प्रतिबन्धकत्वेऽप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितत्वप्रवेशे गौरवं, तवाप्याकाङ्क्षानिश्चयविशेषणाभावप्रतियोग्यप्रामाण्यज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितत्वप्रवेशे गौरवात् । अनाकाङ्क्षत्वज्ञानवत्यपि घटाद्यवच्छेदेन समवायेन तदभावसत्त्वादवच्छेदकतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वस्य च भूतावेशस्थले एकशरीरावच्छेदेनात्मद्वये ज्ञानस्वीकारादसम्भवात्, एकावच्छेदेनैकात्मवृत्तित्वप्रत्यासत्त्युक्तौ गौरवं त्वाकाङ्क्षानिश्चयहेतुत्वेऽपि तुल्यम्, अन्यथा कायव्यूहादिस्थलेऽसम्भवादिति, तदसत्, निराकाङ्क्षत्वतद्व्याप्यादिमत्ताग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्, यदपि साकाङ्क्षपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिरेव तत्त्वेन हेतुः, न त्वाकाङ्क्षाज्ञानं तत्त्वेन, घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य कुम्भमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य घटः कर्मत्वमित्यादिज्ञानजन्योपस्थितिसहकारेण बोधकत्ववारणायोक्तरूपेण हेतुत्वस्यावश्यकत्वादिति, तदपि न, घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य स्वघटकादेशादिस्मारितान्यतरपदज्ञानजन्यघटकर्मत्वाद्युपस्थितिसम्बन्धेन घटीयं कर्मत्वमित्यादिशाब्दबोधहेतुत्वेनोक्तदोषाभावात्, घटमित्यादिवाक्यजन्यावान्तरवाक्यार्थबोधादिरूपपदार्थोपस्थिति-

कालेऽमादिपदे घटादिपदोत्तरत्वसन्देहे शाब्दबोधानुत्पादात् साक्षादप्यानुपूर्वीज्ञानं हेतुरित्यपरे। का नाम योग्यता, न तावत् सजातीयेऽन्वयदर्शनं, यथाकथञ्चित् साजात्यस्याव्यावर्त्तकत्वात्, पदार्थतावच्छेदकेन तस्यायं पयः पिबतीत्यादाव-सम्भवात्, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वाच्च, नापि समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गव्याप्यधर्मवत्त्वं, वाक्यार्थस्यानुमेयतापत्तेः। नापि बाधक-प्रमाविरहः, स्वपरसाधारणबाधकप्रमाविरहस्य दुर्ज्ञेयत्वात्, स्वरूपसतोऽस्य हेतुत्वेऽयोग्ये योग्यताभ्रमाच्छाब्दभ्रमानुपपत्तेः। स्वीयबाधकप्रमाविरहस्य हेतुत्वे त्वयोग्यताभ्रमदशायां शाब्दबोधापत्तेः। न च तदा विशिष्टज्ञानसामान्यहेतोर्बाधबुद्ध्यभावस्य विरहान्न तदापत्तिः, तर्हि तद्धेतुत्वेनैव निर्वाहे योग्यताधीहेतुत्वे मानाभावात्, अस्त्वेवं लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषा-जन्यतद्ज्ञानमात्रे तदभावनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दप्रतिबन्धकत्वस्यापि तत एव सिद्धेः, योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्द-बोधविलम्बस्यासिद्धत्वेन नव्यमतसाम्राज्यादिति चेत्, न, लौकिकसन्निकर्षदोषविशेषादेरुत्तेजकत्वपक्षे बाधबुद्ध्यभावस्य प्रत्य-क्षत्वादेरेव कार्यतावच्छेदकत्वाच्छाब्दत्वावच्छिन्ने योग्यताधीहेतुत्वौचित्येनोक्तमतासाम्राज्यात्, न च तत्पक्षेऽप्यस्तु शुद्ध-बाधबुद्ध्यभावस्य परोक्षत्वावच्छिन्नहेतुत्वं, परोक्षत्वस्य प्रत्यक्षान्यज्ञानरूपत्वे विशेष्यविशेषणभावभेदेन गौरवात्, न च जातिरूपं तत्, इच्छाघटितस्मृत्यादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकताघटकजात्या सङ्करात्, सम्बन्धगौरवेण स्वाश्रयान्यत्व-सम्बन्धेन स्मृतित्वस्यातत्त्वात्। किञ्च मुखं न चन्द्र इत्ययोग्यतानिश्चयेऽप्याहार्ययोग्यताज्ञानेन शाब्दबोधात्तदेव शाब्दधीहेतुः, न चैवं वह्निना सिञ्चतीत्यादावपि तथापत्तिः, आहार्ययोग्यताज्ञाने इष्टत्वात्, तदसत्त्वे शाब्दबोधाभावेन तद्धेतुत्वकल्पनात्। अत एव गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधसम्भवः। न चैवं लौकिकान्यबाधधीसत्त्वेऽपि लौकिकयोग्यताज्ञानाच्छाब्दापत्तिः,

इष्टत्वात्, विरोधिनिश्चयस्यैव चाहार्यत्वप्रयोजकत्वेन तच्छाब्दस्याहार्यत्वानापत्तेः, बाधबुद्धौ भ्रमत्वज्ञानाङ्गीकाराद्वा। किञ्च यत्र स्थलविशेषे बाधधीकाले योग्यताज्ञानं तत्र तस्य हेतुत्वध्रौव्ये विशेष्यतावच्छेदकतया तत्पुरुषीयशाब्दत्वावच्छिन्ने तया तत्पुरुषीययोग्यताज्ञानत्वेन हेतुत्वसिद्धिः, यत्र चालौकिकयोग्यताधीकाले लौकिकबाधधीस्तत्र तस्याः प्रतिबन्धकत्वस्वीकारान्न दोषः। किञ्च स्थूलजलपरस्य पयसा सिञ्चतीत्यादेरयोग्यत्वाय विशेष्यतया योग्यताज्ञानहेतुत्वसिद्धिः, बाधबुद्ध्यभावस्य धर्मितावच्छेदकान्तर्भावेनैव नव्यनये हेतुत्वादित्यन्यत्र विस्तरः, तस्माच्छाब्दज्ञानहेतुर्योग्यता निर्वक्तव्येति चेत्, अत्रोच्यते, एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गवत्त्वं तेन संसर्गेणापरपदार्थवत्त्वं वा योग्यता, न च वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्तद्दुर्ज्ञेयता, प्रत्यक्षादिना संशयसाधारणतज्ज्ञानहेतुत्वस्वीकारेणादोषात्, गन्धप्रागभावकालावच्छिन्नो घटो गन्धवानित्यादौ तद्गन्धप्रागभावकालावच्छिन्नगन्धसमवायस्य तद्घटेऽभावादयोग्यत्वं, न चैवमेकविध्यर्थयोः कृतीष्टसाधनत्वयोः परस्परमन्वयो न स्यादुक्तयोग्यताविरहादिति वाच्यम्, एकपदार्थ इत्यादेरेकवृत्तिविषयेऽपरवृत्तिविषयसंसर्गवत्त्वमित्यर्थात्, एवमेवकारादिस्थलेऽपि विचारणीयम्। आसत्तिरव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः, एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानेनापरपदार्थोपस्थितिरिति यावत्, अव्यवधानं व्यवधानाभावः, तेन युगपन्नानापदार्थोपस्थितावपि न क्षतिः, तच्चार्थसिद्धं तत्तत्पदार्थशाब्दबुद्धौ तत्तत्पदार्थोपस्थितेर्हेतुतया विनाऽव्यवहितोपस्थितिं शाब्दबोधासम्भवात्, अस्याः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वादासत्तिनिश्चयहेतुत्वं कुत इति चेत्, न कुतश्चित्, वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वात्, न चानुपदोक्तानुपूर्वीज्ञानस्य निरुक्तोपस्थितिसम्बन्धेन हेतुत्वात्किमनयेति वाच्यम्, व्याप्तिज्ञानदण्डादेः स्वजन्यपरामर्शचक्रभ्रम्यादिसम्बन्धेन हेतुत्वेऽपि परामर्शचक्र-

भ्रम्यादिहेतुत्ववदासत्तेरपि तत्त्वात्, व्यापारस्य व्यापारिणाऽन्यथासिद्ध्यभावात्, आसत्तिनिश्चयहेतुत्वोक्तिस्तु प्राचां मतेनेति नव्याः। मिश्रास्तु ननु एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानविशिष्टापरपदार्थोपस्थितिर्नासत्तिः, गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यत्राग्निमत्पदार्थोपस्थितौ सत्यां तदव्यवहितोत्तरक्षणे तस्यां गिर्युपस्थित्यव्यवधानभ्रमस्वीकारे भ्रमस्यैव निरुक्ताव्यवधानविशिष्टोपस्थितिरूपासत्तितया तद्भ्रमहेतुत्वे सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात्. नाप्युपस्थापकपदाव्यवहितपदोपस्थितिः सा, व्यवहिते पदेऽपरपदाव्यवहितोत्तरत्वभ्रमस्यैवासत्तितया तद्दोषतादवस्थ्यात्, न चोपस्थापकपदाव्यवधानं सा, इत्थं च व्यवहितोक्तपदेऽव्यवहितत्वभ्रमसम्भवान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, मौनिश्लोकादौ पदाभावेनासत्त्यभावापत्तेः, अत एवोच्चारणाव्यवधानं सेति परास्तं. न चोपस्थापकस्य पदस्य तदर्थस्य वाऽव्यवहितोपस्थित्यनुकूलव्यापारः, सा च क्वचिदव्यवहितोच्चारणं क्वचिल्लिप्यादिकं च, इत्थं च व्यवहितोच्चरितादावप्यव्यवहितोच्चरितत्वादिभ्रमः सम्भवतीति वाच्यम्। तर्हि योजनादिनापि श्लोकादावन्वयबोधाभावापत्तेः। वक्त्रा व्यवहितोच्चरितमिति विशेषदर्शनेऽव्यवहितोच्चरितमिति भ्रमासम्भवात्, एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानेनापरपदार्थोपस्थित्यनुकूलव्यापारस्येति वाच्यतयैकपदार्थयोः परस्परमनन्वयापत्तेश्चेति चेत्, सत्यम्, एकत्वापरत्वयोर्न पदविशेषणत्वं, किन्त्वर्थविशेषणत्वमेवेत्यनुपदोक्तदोषाभावात्, वस्तुत एकपदार्थत्वमेकवृत्तिविषयत्वम्, अपरपदार्थत्वमपरवृत्तिविषयत्वं, तेन घटभेदो न घट इत्यादौ पदार्थाभेदेऽपि न क्षतिः। मेयाभिधेयादिबोधकतदादिपदार्थयोरेकवृत्तिविषयत्वे त्वेकापरवृत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नत्वमेकापरपदार्थत्वं वाच्यम्। व्यवहितोच्चरिते च पदतात्पर्यमेव तथाव्यापारः, तदेव योजनया ज्ञाप्यते, शुकादिवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तथाव्यापारः, ईश्वरस्यैव वा, न च यत्र तात्पर्यं व्यवधानेनो-

च्चारणमव्यवधानेन तत्र का गतिरिति वाच्यम् । तत्रोच्चारस्य मतोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्, अन्वयबोधानुकूलोपस्थितेर्विवक्षितत्वात्, स्वविरोधिव्यवधानाभिप्रायापूर्वकोच्चारणाव्यवधानप्रयोज्योपस्थितेरेव शाब्दबोधोपधायकत्वस्वीकारात्, तथा च व्यवधानाभिप्रायापूर्वकाव्यवहितोपस्थित्यनुकूलव्यापार आसत्तिरिति फलितं, वस्तुत एतत्पदानन्तरं तत्पदं प्रतिसन्दधात्विति तात्पर्यमेवासत्तिः, इदं शुकस्यापि सम्भवि, ईश्वरीयं वा तत् सुलभं, न चैवमासत्तिभ्रमस्थलासम्भवो, वक्त्रन्तर्भावेन तत्सम्भवादित्याहुः, तच्चिन्त्यम् । एकवाक्यताया अर्थतात्पर्यस्य निश्चये यथोक्तासत्तिनिश्चयं विना शाब्दबोधविलम्बाभावात्, न चैकवाक्यतैवानेनोपालक्षि, सम्भूयोच्चारणस्य चिन्तामणौ पृथगुपन्यासात्, तस्माद् व्यवधानेन वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिरासत्तिरिति प्रागुक्तमेव युक्तम् ॥ तदेवं परस्परापेक्षाणामित्यस्याकाङ्क्षादिमतामित्यर्थात् आकाङ्क्षादिमतां पदानां समूहो वाक्यमिति न्यायनये स्थितं, निरपेक्षपदं त्वनतिप्रयोजनं, यदि च तस्य सप्रयोजनत्वे निर्बन्धः, तदा प्रकृतवाक्यस्य लक्ष्यस्य वाक्यान्तरैकवाक्यस्य महावाक्याद्व्यावर्त्तनेन प्रकृतान्वये प्रकृतवाक्यस्य महावाक्यस्थपदान्तरनिरपेक्षत्वात् ॥ इदं तु ध्येयम् ॥ साकाङ्क्षत्वमनाकाङ्क्षत्वं च स्याद्वादेनैव व्यवस्थापनीयम् । तत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वरूपाकाङ्क्षापक्षे व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयत्वेन निरुक्तान्वयबोधविशेषणे समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षापक्षे च तत्तदानुपूर्वीज्ञाने व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्वज्ञानहेतुत्वोक्त्या घटः कर्मत्वमित्यादेः सद्व्युत्पन्नं प्रति साकाङ्क्षत्ववारणेऽपि देवदत्तः पचतीत्यतो नैयायिकस्य नामार्थविशेष्यक एव बोधः, शाब्दिकस्य तु धात्वर्थविशेष्यक इति तत्तदन्वयबोधे तद्वाक्यस्यान्यतरं प्रति निराकाङ्क्षत्वावारणात्, न च तत्तन्नयव्युत्पन्नीयतद्वाक्यजतादृशबोधे तादृशव्युत्पत्तेर्हेतुत्वान्नयाकाङ्क्षैकान्ताविरोधः, व्यभिचारेण भिन्न-

भिन्नव्युत्पत्तेरेवासिद्धेः, तत्तद्व्युत्पत्तिवैशिष्ट्यस्य विपरीतव्युत्पन्नीयबोधसाधारण्येनातिप्रसञ्जकत्वादुभयव्युत्पन्नयोरुभयोरुक्तवाक्यान्नियमत उभयबोधापत्तेश्च । न चैकनयाभिमतव्युत्पत्तौ तदितरनयाभिमतशाब्दबोधजनकत्वाभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाददोषः, उभयव्युत्पत्तिसमाजे परस्परप्रतिबन्धेन कस्यापि बोधस्यानापत्तेः । कथं चैवं नैयायिकः शिष्येषु व्याकरणव्युत्पत्तिमादधानो देवदत्तः पचति एकदेवदत्ताभिन्नाश्रयकपाकानुकूला भावनेति विवृणुयात्, आहार्याकाङ्क्षाज्ञानेन तथा बुद्ध्वा परं तथा बोधयितुं नानौचितीति चेत्, सत्यम्, आहार्यत्वस्यापि परस्परमविनिगमेन तथा तथा साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वाव्यवस्थितेः । एतेनैकनययुक्त्याऽपरनयाप्रामाण्यग्रहोऽपि व्याख्यातः, अनेनैवाभिप्रायेण " णिययवयणिज्जसच्चा " इत्यादिना सम्मतौ नयवाक्यानां कात्स्न्र्येन साकाङ्क्षत्वानाकाङ्क्षत्वभजना समर्थिता । एवं योग्यत्वमयोग्यत्वमासन्नत्वमनासन्नत्वं च देशकालादिभेदेन तात्पर्यादिभेदेन च भजनीयं, वस्तुतः समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षा वाक्यशक्त्यवच्छेदकतयैवोपयुज्यते न पृथक्, घत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितामुत्वावच्छिन्नविशेष्यताकघटविधेयककर्मत्वविशेष्यकशाब्दबोधजनकत्वप्रकारताकज्ञानत्वादिना तादृशशाब्दबोधहेतुत्वाकल्पनादाद्यवृद्धव्यवहारेण वाक्य एव शक्तिसिद्धेरनन्तरमावापोद्वापक्रमेण पदशक्तिग्रहस्य च तत्रैवोपकाराच्छक्तेश्च जनकताविशेषरूपत्वाद्विशेषपदेनैव शक्तिलक्षणाभेदानुच्छेदात्, अन्यथेश्वरेच्छारूपशक्तिवादेऽप्यगतेः, केवलपदस्याननुभावकतापक्ष एव हि " पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते " इत्युक्तं युज्यत इत्युक्तं प्राक्, न चैवं द्रव्यनिक्षेपप्रयुक्तघटपदघटितवाक्याद्भावनिक्षेपविषयशाब्दबोधापत्तिः, स्वप्रयोजकनिक्षेपप्रयुक्तवाक्यशक्तिग्रहद्वारैव पदशक्तिग्रहस्य हेतुत्वात्, द्वारद्वारिभावेन चान्यथासिद्धेरयोगात्, पदार्थोपस्थितिद्वारा पद-

ज्ञानहेतुत्वे तु तद्द्वारा वारणाय शाब्दसामग्र्याः क्वचित्पदार्थस्मृतिघटितायाः क्वचिच्च शाब्दतदुपस्थितिघटितायाः स्मृतिप्रतिबन्धकत्वकल्पने महागौरवम्, एकवाक्यताभिप्रायश्चार्थतात्पर्यविधयैवोपयुज्यत इत्यननुभावकत्वांशोऽवशिष्यते, तत्र च स्वरूपसति प्रतिबन्धके परेषां शाब्दबोधद्वयेच्छादिवदस्माकं वाक्यार्थबोधेच्छादेरुत्तेजकत्वं, वाक्यार्थबोधादयश्चाभिप्रायिकपदसंवलने श्रुतरूपास्तदसङ्कलने मतिरूपा वा, प्रथमादिबोधद्वारा द्वितीयादिबोधे श्रुतहेतुत्वाच्च श्रुताभ्यन्तरीभूतत्वं क्रमनिर्वाहश्चेति, प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादेराज्ञाप्रामाण्यात् "प्रमादमूलं प्राणिहननमनर्थमाधनम्" इति तात्पर्यार्थपर्यन्तः सम्पूर्णो बोध इत्युपदेशपदाद्यनुमारी पन्थाः। क्वचिच्च प्राथमिकाद्वाक्यार्थविषयश्रुतज्ञानोत्तरं संशयं विनैव महावाक्यार्थजानुपपत्तिज्ञानरूपचिन्ताज्ञानादैदंपर्यविषयं भावनाज्ञानं जायत इति त्रिविधमेव शाब्दं ज्ञानमिष्यते, सामानाधिकरण्येनावच्छेदकावच्छेदेन च शाब्दद्वयेच्छायां द्विविधमपि तद् युज्यते, अर्थावच्छिन्नपदज्ञानोत्तरं तात्पर्यगर्भाकाङ्क्षाज्ञानाद् व्युत्पत्तिविशेषाद्वा पटिष्टक्षयोपशमवतः प्रागेव तात्पर्यार्थज्ञानं सम्भवतीत्येकविधमेव तदिति तु नव्याः। मुखं चन्द्र इत्यादिरूपकस्थले आहार्ययोग्यताज्ञानस्य हेतुत्वानुरोधेन शाब्दमात्रे योग्यताज्ञानहेतुत्वमपि न युक्तिमत्, बाधज्ञाने मति तादृशस्थले आहार्यशाब्दस्यैव स्वीकारात्, इष्टव्यङ्ग्यप्रतीतिसाधनत्वज्ञानेन मुखे चन्द्राभेदशाब्द एव तत्रेच्छोदयौचित्यात्, अत एवाहार्यारोपो रूपकमिति प्राचामुक्तिः, तादृशभाषायाश्च द्रव्यतोऽसत्यत्वेऽपि भावतः सत्यत्वात्, उपमापदस्यालंकारान्तरोपलक्षकत्वादुपमासत्यायां परिगणनं, न चैवं मृषान्तरस्यापि क्वचिद्भावतः सत्यत्वाद्द्रव्यभावभाषायां सत्याभेदत्वप्रसक्तिरिति वाच्यम्। क्वाचित्कत्वसार्वत्रिकत्वाभ्यामेव विशेषात्, भावविशेषजन्यजनकतानवच्छेदकतया जातिभेदस्वीकाराच्च, क्वचिच्च शशशृङ्गं नास्तीत्यादौ वाक्यशक्त्या शशीयत्वेन

शृङ्गाभावशाब्दबोधे पदार्थयोः संसर्गाभावनिश्चयोऽनुगुण एव, अन्यथा विशिष्टनिषेधप्रतीतावंशतो भ्रमत्वापत्तेः, गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधश्चेत्, आहार्य एव, नो चेद्, दुष्टवक्त्रभिप्रायसूचकत्वेनैव तस्य क्रोधजनकत्वम्, सत्यादित्वं वाचां जनपदसत्याद्यन्यतरत्वेनैव, द्रव्यभावभाषात्वं च तासां चतुर्विधद्रव्यपरिणतिमाश्रित्य, श्रुतभावभाषात्वं च तिसृणां फलीभूतश्रुतोपयोगापेक्षया मिश्रोपयोगाभावेन तृतीयस्या अत्रानधिकारात्, चारित्रभावभाषात्वं च प्रथमान्तिमयोरेव यत्याचारविहितत्वेन चारित्रोत्कर्षकत्वादित्यादिविस्तरो भाषारहस्ये इति कृतं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः—न पुनराख्यातशब्द इत्यादि, शेषपक्षनिराकरणं प्रायः सुगमम्। क्रियास्फोटवदिति पूर्वापरीभूतावयवास्वाश्रितक्रमासु क्रियास्वेकः क्रियास्फोटो यथा नास्ति तथा क्रमवत्पदसमुदाये वाक्यस्फोटोऽपि, एकत्वप्रतीतेर्द्रव्यप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तेरिति। यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्येति परस्परापेक्षनिरपेक्षपदानुस्मरणरूपस्येत्यर्थः। बुद्धिर्मानस्युत्प्रेक्षानुसंहतिः स्मरणमित्यनयोः पक्षयोर्भेदः। तावतोदाहरणोपनयमात्रेण, अर्थं प्रत्येति प्रकृतसाध्यं निश्चिनोति, किमितीति शेषं निगमनं, किमित्याकाङ्क्षति–साधनमात्रेणार्थसिद्धौ तत्रेष्टसाधनताज्ञानाभावेनाकाङ्क्षाभावात् यस्य च फलीभूतशाब्दबोधेच्छया निगमनशब्द एवाकाङ्क्षा तस्य तच्छब्दाध्याहारेणैव शाब्दबोध इति भावः। सत्यभामादिपदवदिति यथा भामापदेन सत्यभामापदं स्मर्यते तथा प्रकरणादिना पदान्तरमिति तत्सापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य न निराकाङ्क्षत्वव्याघात इति भावः। यत्र च प्रकरणादिनाऽखिल एव वाक्यार्थो ज्ञायते चेष्टादिना वा, तत्र तादृशवाक्यकल्पनयैव शाब्दव्यवहारः सङ्गतिमङ्गति, अत एव न चेष्टादेः प्रमाणान्तरत्वम्, अवश्यकल्प्यशब्दमुखनिरीक्षकत्वादिति दिग्। इत्युक्तः (क्तं) प्रागिति "त्वन्मतामृतबाह्यानाम्" इत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे

न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलमित्यादिना, तत्र क्वचित्प्रयुज्यमान इत्यादि, क्वचिच्च जीवादिपदसमीपे प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्ताद्विशेषणतया जीवादिपदसमभिव्याहृततया, प्रकृतार्थतत्त्वं सर्वथैकान्तप्रतिपक्षजीवादिपदार्थम्, अवयवेन जीवादिपदद्वारेण, सूचयति लक्षयति, तथा च जीवादिसामान्यविशेषशक्तस्य जीवादिपदस्य नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवादिविशेषे लक्षणा तात्पर्यग्राहकत्वमेव स्याच्छब्दस्य द्योतकत्वमिति भावः। एवकारादिवदिति शङ्कः पाण्डुर एवेत्यादौ पाण्डुरादिपदस्य पाण्डुराद्यन्यत्वव्यवच्छिन्ने लाक्षणिकताया एवकारस्य च तत्र तात्पर्यग्राहकतायाः सम्प्रदायसिद्धत्वादिति भावः। न कश्चिद्दोष इति सम्भूयोच्चारणेन स्यात्पदजीवादिपदाभ्यां मिलित्वाऽनेकान्तात्मकजीवादितत्त्वबोधनोपपत्तेरिति भावः। तथा च गम्यं प्रति विशेषणमित्यस्य समुदायशक्तिजन्यबोधे जीवादिपदस्य तुल्यकक्षतया सहकारीत्यर्थः।

विशेषणमित्यनन्तरं च वाकारोऽध्याहृत्य योजनीयः, तेन पक्षद्वयाभिव्यक्तिर्भवति, यद्वाऽनेकान्तद्योतीत्यस्यानेकान्तं पदसामान्यशक्तिविषयं द्योतयत्यनुभावयतीत्येकोऽर्थः, स चापरेषां घटादिपदस्य सामान्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन कार्यत्वान्वितघटादौ शक्तिग्रहेऽपि ततः कार्यत्वान्वितघटाद्यनुभवे कार्यतावाचकपदसमभिव्याहारापेक्षा. आनुभाविकायाः शक्तेस्तदपेक्षत्वात्, स्मारिका च जाताविति तदभावे घटत्वादिमात्रस्मरणमेवेति कुब्जशक्तिवादः, तथाऽस्माकं नित्यानित्याद्यनेकान्तक्रोडीकरणं विना व्यवहारमात्रस्यायोगाच्छब्दत्वावच्छेदेन नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मक एव शक्तिग्रहादाद्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन जीवादिपदस्यापि नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थ एव शक्तिर्गृह्यत इत्यानुभाविका शक्तिः, तथाऽनुभवजननेऽनेकान्तवाचकपदमपेक्षते स्मारिका तु नेति केवलजीवादिपदाज्जीवाद्यर्थोपस्थितिमात्रम्, अनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थानुभवस्तु स्यात्पदसंयोगादित्येतत्पक्षपरिष्कारः।

न चैवं मीमांसकमतानुप्रवेशः, सर्वनयात्मके भगवत्प्रवचने क्वचिन्मीमांसकमतोपग्रहस्याप्यदुष्टत्वात्, सिद्धार्थप्रामाण्यस्वीकारेणैव [स्याच्छब्दो लिङ्गाद्यर्थव्यतिरिक्तार्थप्रतिपादकजीवादिपदसमभिव्याहृतस्यात्पदम]नेकान्तं द्योतयति औपसन्दानिक्या शक्त्या बोधयति यः स तथेति द्वितीयोऽर्थः, तथा च स्याच्छब्दोत्तरजी [वादिपदप्रतिपाद्या]नेकान्तात्मकजीवाद्यर्थे विशिष्य शक्तिस्वीकारादौपसन्दानिकी शक्तिरेवात्र द्योतनमिति भावः। उभयत्रापि गम्यं प्रति विशेषणमित्यस्य पदान्तरबोध्यबोधने सहकारीत्यर्थः, तदाह, सूचकत्वपक्षेऽपीति, अपिर्वाचकत्वपक्षं समुच्चिनोति, तद्बुद्धेरपि तथाभावादिति तेन तदादिवत् स्याच्छब्दस्य स्वातंत्र्येण बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नेऽपि शक्तिः, तद्बोधकताया वैचित्र्यादिति स्यादस्तीत्यादावस्तित्वाद्यवच्छेदकस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावादीनामपि ततो नासाङ्कर्येणानुपस्थितिरिति ध्येयम्। धर्मिवाचकपदसमभिव्याहृतं स्यात्पदमनेकान्तात्मकत्वद्योतकं धर्मवाचकपदसमभिव्याहृतं तु तत्तत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालाद्यवच्छेदकस्फोरकं सकलादेशमहिम्ना तु प्रकृतधर्मे स्वेतरानन्तधर्माभिन्नत्वस्य प्रकारतया प्रकृतधर्मस्य स्वस्वेतरानन्तधर्मात्मकत्वसम्बन्धेन धर्मिण्यन्वयाभ्युपगमाद्वा न काचिदनुपपत्तिरिति श्रद्धेयं स्वसमयव्युत्पत्तिशालिभिः ॥ १०३ ॥

ननु च कथंचिदित्यादिशब्दादपि भवत्येवानेकान्तार्थप्रतिपत्तिः ?, सत्यं, भवति, तस्य स्याद्वचनपर्यायत्वात्। तथा हि,—

स्याद्वादः सर्वथैकान्त–त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ॥ सप्तभङ्गनयापेक्षो, हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

किमो वृत्तः किंवृत्तः। स चासौ चिद्विधिश्चेति कथंचिदित्यादिः किंवृत्तचिद्विधिः स्याद्वादपर्यायः। सोयमनेकान्तमभिप्रेत्य सप्तभङ्गनयापेक्षः स्वभावपरभावाभ्यां सदसदादिव्यवस्थां प्रतिपादयति। के पुनः सप्तभङ्गाः के वा नयाः ? सप्तभङ्गी प्रोक्ता पूर्वमेव।

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्यां, शास्त्रान्तरे प्रोक्ता इति संबन्धः। द्रव्यार्थिकप्रविभागाद्धि नैगमसंग्रहव्यवहाराः, पर्यायार्थिकप्रविभागादृजुसूत्रादयः। तत्र ऋजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोर्थनयाः, तेषामर्थप्रधानत्वात् शेषास्त्रयः शब्दनयाः शब्दप्रधानत्वात्। तत्र मूलनयस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्ध्या संग्रहः, सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धस्य सन्मात्रस्य विषयीकरणात् सम्यगेकत्वेन सर्वस्य संग्रहणात्। तस्यैवाशुद्ध्या व्यवहारः, संग्रहगृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकत्वव्यवहरणात्, द्रव्यत्वादिविशेषणतया स्वतोऽशुद्धस्य स्वीकरणात्, यत्सत्तद्द्रव्यं गुणो वेत्यादिवत्। एवं नैगमोप्यशुद्ध्या प्रवर्तते, सोपाधिवस्तुविषयत्वात्। स हि त्रेधा प्रवर्तते, द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्, नैकं गमो नैगम इति निर्वचनात्। तत्र द्रव्यनैगमो द्वेधा—शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। पर्यायनैगमस्त्रेधा अर्थपर्याययोर्व्यञ्जनपर्याययोरर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च नैगम इति। अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा ज्ञानार्थपर्याययोर्ज्ञेयार्थपर्याययोर्ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति। व्यञ्जनपर्यायनैगमः षोढा—शब्दव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोरेवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः शब्दैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति। अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमस्त्रेधा ऋजुसूत्रशब्दयोः, ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः ऋजुसूत्रैवंभूतयोश्चेति। द्रव्यपर्यायनैगमोऽष्टधा, शुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च, एवमशुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोरशुद्धद्रव्यशब्दयोरशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोरशुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्चेति। लोकसमयाविरोधेनोदाहार्यम्। तथा पर्यायार्थिकस्य मूलनयस्याशुद्ध्या तावदृजुसूत्रः, तस्य कालकारकलिङ्गभेदेनाप्यभेदात्। शुद्ध्या शब्दस्तस्य कालादिभेदेन भेदात्। शुद्धितरया समभिरूढस्तस्य पर्यायभेदेनापि भेदात्। शुद्धितमयैवंभूतस्तस्य क्रियाभेदेनापि भेदात्॥ इति मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्यां बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः। पूर्वपूर्वा महाविषया

उत्तरोत्तरा अल्पविषयाः शब्दविकल्पपरिमाणाश्च । तदेवं व्याख्यातः सप्तभङ्गनयापेक्षः स्याद्वादो हेयादेयविशेषकः प्रसिद्धस्तमन्तरेण हेयस्योपादेयस्य च विशेषेण व्यवस्थानुपपत्तेः । सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च केवलज्ञानवत् ॥ १०४ ॥ एतदेव दर्शयति,—

अर्थप्रधानत्वात् शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदास्वीकर्तृत्वात्, शब्दप्रधानत्वाच्छब्दतद्धर्म्मभेदेनार्थभेदस्वीकर्तृत्वात्, एवं नैगमोऽप्यशुद्ध्या प्रवर्त्तत इति अशुद्धिरत्र भेदपरता, द्रव्यार्थिकेऽभेदभेदयोरेव शुद्ध्यशुद्धिपदार्थत्वादिति यथास्थानं भावनीयम् । द्रव्ययोरित्यादि अभिलापश्चात्रात्मा पुद्गली मनुष्यपर्यायो देवपर्यायोत्तरः द्रव्यमनन्तपर्यायवदित्यादिः । शुद्धद्रव्यनैगमो यथाऽऽकाशद्रव्यं धर्मद्रव्यसंयुक्तमिति । अशुद्धद्रव्यनैगमो यथा घटद्रव्यं पटद्रव्यसंयुक्तमिति । अर्थपर्याययोर्नैगमस्त्रिविधो यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानसहचरितमिति ज्ञानरूपार्थपर्याययोः, मतिविषयपर्यायः श्रुतविषयपर्यायसदृश इति ज्ञेयार्थपर्याययोः, ग्राहकाकारो ग्राह्याकारानुगत इति ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोः । व्यञ्जनपर्याययोः षोढा नैगमो यथा-तट इति शब्दवाच्यस्तटीतिशब्दवाच्यसदृश इति, शब्दव्यञ्जनपर्याययोः १ घटशब्दवाच्यः पर्यायः कुम्भशब्दवाच्यसदृश इति, समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः २ राजपदव्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया सुप्पदव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासदृशीति, एवम्भूतव्यञ्जनपर्याययोः ३ भिन्नलिङ्गतटादिशब्दवाच्यपर्यायो भिन्नशब्दवाच्यसदृश इति, शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः ४ संभिन्नक्रिया शब्दवाच्यसदृश इति, शब्दै* [वंभूतव्यञ्जनपर्याययोः ५ संभिन्नवर्तमानक्रिया शब्दवाच्यसदृश इति, समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः ६ व्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया वर्तमानक्रियासदृश इति।एवं ऋजुसूत्रशब्दयोः १ ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः २ ऋजुसूत्रैवंभूतयो ३ रिति त्रिविधोऽप्यर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमः, अष्टधा च द्रव्यपर्यायनैगमः इत्यादि स्वधिया विभाव्योदाहार्यम्]॥१०४॥

* इतोऽग्रेतनं विवरणं त्रुटितं लक्ष्यते, स्याच्चेत्कस्यचिन्महोदयस्य सविधे निवेद्यमनुग्रहधिया प्रकाशकस्य ॥

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने ॥ भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

साक्षादसाक्षात्प्रतिभासिज्ञानाभ्यामन्यस्याप्रतीतेरवस्तुत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः । स्याद्वादकेवलज्ञाने इति निर्देशात् तयोरभ्यर्हितत्वानियमं दर्शयति, परस्परहेतुकत्वात् । न चैवमन्योन्याश्रयः पूर्वसर्वज्ञद्योतितादागमादुत्तरसर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः ततोप्युत्तरकालमागमद्योतनात् सर्वज्ञागमसन्तानस्यानादित्वात् । केवलज्ञानस्याभ्यर्हितत्वे वा पूर्वनिपाते व्यभिचारं सूचयति, शिष्योपाध्यायादिवत् । ततोऽनवद्यो निर्देशः स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने इति । कथं पुनः स्याद्वादः सर्वतत्त्वप्रकाशनः ? यावता 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति श्रुतस्यासर्वपर्यायविषयत्वव्यवस्थानमिष्यते, तच्चैवं विरुध्यते, इति सूत्रविरोधं मन्यते, तदयुक्तं, पर्यायापेक्षया तदनभिधानात् । एवं हि भगवतामभिप्रायोऽत्र 'जीवादयः सप्त पदार्थास्तत्त्वं, 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमि'ति वचनात् । तत्प्रतिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्' इति न विरोधः । यथैव ह्यागमः परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपीति न विशेषः, साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य । तदाह भेदः साक्षादसाक्षाच्चेति । साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति नान्यत इति यावत् । न हि वचनात्तान्प्रकाशयति, समुत्पन्नकेवलोपि भगवान्, तेषां वचनागोचरत्वात् । तदेवं स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणनयसंस्कृतमिति व्याख्याने, स्याद्वादः प्रमाणं, सप्तभङ्गीवचनविधिर्नैगमादयो बहुविकल्पा नया इति संक्षेपतः प्रतिपादितं, विस्तरतोन्यत्र तत्प्ररूपणात् ॥ १०५ ॥

संप्रत्यहेतुवादागमः स्याद्वादो, हेतुवादो नयस्ताभ्यां संस्कृतमलंकृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राविरुद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकमिति व्याख्यानान्तरमभिप्रायवन्तो भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात् ।

सधर्मणैव साध्यस्य, साधर्म्यादविरोधतः ॥ स्याद्वादप्रविभक्तार्थ–विशेषव्यञ्जको नयः ॥ १०६ ॥

नीयते साध्यते गम्यार्थोनेनेति नयो–हेतुः । स च हेतुः सधर्मणैव दृष्टान्तधर्मिणा साधर्म्यात्साध्यस्य साध्यधर्माधिकरणस्य धर्मिणः परमागमप्रविभक्तस्यार्थविशेषस्य शक्यस्याभिप्रेतस्याप्रसिद्धस्य विवादगोचरत्वेन, व्यञ्जको, न पुनर्विपक्षेण साधर्म्यात्, तेन वैधर्म्यादेवाविरोधेन हेतोः साध्यप्रकाशनत्वोपपत्तेः । अत्र 'सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादि' त्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्य 'मविरोधादि' त्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता, केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं, तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्वं, ' नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते' इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् । नन्वत्र संक्षेपात् तथाभिधानेपि त्रैलक्षण्यं शक्यमुपदर्शयितुं पञ्चावयववत् । सत्यमेतत्, केवलं, यत्रार्थक्रिया न संभवति तन्न वस्तुतत्त्वं यथा विनाशैकान्तः । तथा च नित्यत्वेपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति, नापरं प्रकारान्तरमिति, त्रिलक्षणयोगेपि प्रधानमेकलक्षणं, तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः । तदेव च प्रतिबन्धः पूर्ववद्वीतसंयोग्यादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकं, न पुनस्तादात्म्यतदुत्पत्ती प्रतिबन्धः संयोगादिवत्, तदभावेपि हेतोः साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणस्य भावे गमकत्वसिद्धेः, शीताचले विद्युत्पातः, केदारे कलकलायितत्वादित्यादिवत्, सत्यपि च तदुत्पत्त्यादिप्रतिबन्धेऽन्यथानुपपन्नत्वाभावे गमकत्वासंभवात्, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादिवत्, अस्त्यत्र धूमोग्नेर्महानसवदित्यादिवच्च । सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावादस्यागमकत्वेऽन्यथानुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वमुक्तं स्यात् इति तस्यैव लक्षणत्वमस्तु, सकलसम्यग्घेतुभेदेषु कार्यस्वभावानुपलम्भेष्विव पूर्ववत्–शेषवत्–सामान्यतो दृष्टेषु वीतावीततदुभयेषु संयोगिसमवायैकार्थसमवायिविरोधिषु भूतादिषु प्रवर्तमानस्य पक्षव्यापिनः सर्वस्माच्च विपक्षादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेः ।

तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किंचित्कस्यचिल्लक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत । सति चान्यथानुपपन्नत्वे प्रतिपाद्याशयवशात् प्रयोगपरिपाटी पञ्चावयवादिरपि न निवार्यते इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । ततः स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति । तदेव हि स्याद्वादप्रविभक्तोर्थः, प्राधान्यात्–सर्वाङ्गव्यापित्वान् । तस्य विशेषो नित्यत्वादिः पृथक्पृथक् । तस्य प्रतिपादको नयः । इति नयसामान्यलक्षणमप्यनेन दर्शितमिति व्याख्यायते । तथा चोक्तम्–'अर्थस्यानेकरूपस्य, धीः प्रमाणं, तदंशधीः ॥ नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृतिः' ॥१॥ इति । तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णयः, केवलविपक्षविरोधदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात् । ॥ १०६ ॥ किं पुनर्वस्तु स्यादित्याहुः—

नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः ॥ अविभ्राड्भावसम्बन्धो, द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

उक्तलक्षणो द्रव्यपर्यायस्थानः संग्रहादिर्नयः. तच्छाखाप्रशाखात्मोपनयः । तदेकान्तानां विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकालविषयाणां समितिर्द्रव्यं वस्तु, 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम' इति वचनात् । कः पुनस्तेषां समुच्चयो नामेति चेत्, कथंचिदविभ्राड्भावसंबन्ध इत्याचक्षते, ततोन्यस्य समुच्चयस्य संयोगादेरसंभवात् द्रव्यपर्यायविशेषाणाम । न चैवमेकमेव द्रव्यं नयोपनयैकान्तपर्यायाणां तत्तादात्म्यादित्यारेकितव्यं, ततस्तेषां कथंचिद्भेदादनेकत्वमिति वचनात । तर्ह्यनेकमेवास्तु तादात्म्यविरोधादनेकस्थस्येत्यपि न शङ्कितव्यं, कथंचित्तादात्म्यस्याशक्यविवेचनत्वलक्षणस्याविरोधात्तथाप्रतीतेः । केवलं नतस्तेषामपोद्धाराद्गुणगुण्यादिवत् तदनेकधा । ततः सूक्तं, त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति ॥१०७॥ अत्र परारेकामुपदर्श्य परिहरन्तः सूरयः प्राहुः—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चे-न्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः॥ निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

सुनयदुर्णययोर्यथास्माभिर्लक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्यं न परिहारः, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात्तद्विषयाणामर्थक्रियाकारित्वात्, तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः। तथा हि, निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाऽविशेषप्रसङ्गात, धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेर्दुर्णयादन्यनिराकृतेश्च । इति विश्वोपसंहृतिः, व्यतिरिक्तप्रतिपत्तिप्रकाराणामसंभवात् ॥१०८॥

नन्वेवमनेकान्तात्मार्थः कथं वाक्येन नियम्यते यतः प्रतिनियते विषये प्रवृत्तिर्लोकस्य स्यादित्यारेकायामिदमभिदधते--

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन, विधिना वारणेन वा ॥ तथान्यथा च सोवश्य–मविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात स्वविषयाकारसंवित्तिवत । यद्विवादाध्यासितं वस्तु तत्सर्वं धर्मि प्रत्येयम्, अप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात्, तस्यानेकान्तात्मकत्वेन विवादाध्यासितत्वात् साध्यत्वोपपत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वादिति हेतुरसिद्धत्वादिदोषानाश्रयत्वात् प्रधानैकलक्षणयोगाच्च । स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्युदाहरणं, तथा वादिप्रतिवादिसिद्धत्वात्। सौगतस्य चित्राकारैकसंवेदनोपगमात्, यौगानामीश्वरज्ञानस्य स्वार्थसंवेदिनो मेचकज्ञानत्वोपगमात, कापिलानामपि स्वरूपबुद्ध्यध्यवसितार्थसंवेदिनः स्वसंवेदनस्येष्टेः, श्रोत्रियाणामपि फलज्ञानस्य स्वसंवेदिनोर्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धेः, चार्वाकस्यापि प्रत्यक्षस्य वेदनस्य स्वार्थपरिच्छेदिनोभ्युपगमनीयत्वात् सम्यगिदं साधनवाक्यम् । तथा न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाऽसंभवाद् गगनकुसुमादिवदिति । अत्रापि विवादापन्नं वस्तुतत्त्वं धर्मि पराध्यारोपितैकान्तत्वेन प्रतिषेध्यं, क्वचित् सत इवारोपितस्यापि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेरन्यथा

कस्यचित्परमतप्रतिषेधायोगात् मत एव संज्ञिनः प्रतिषेधो नासतः इत्यस्याप्यविरोधात्, सम्यगेकान्ते प्रसिद्धस्य रूपस्य सापेक्षस्य निरपेक्षत्वेनारोपितस्य क्वचित्प्रतिषेधात्, 'सर्वथा तदर्थक्रियाभावात्' इति हेतुर्व्यापकानुपलब्धिरूपत्वात् । गगनकुसुमादिवदित्युदाहरणं साध्यसाधनावैकल्याद्गगनकुसुमादेरत्यन्ताभावस्य परैरेकान्तवस्तुरूपत्वसर्वथार्थक्रियाकारित्वयोरनिष्टेः । इतीदमपि श्रेयः साधनवाक्यम् । विशेषेण पुनर्नास्ति सदेकान्तः सर्वव्यापारविरोधप्रसङ्गादसदेकान्तवत् । एतेन विशेषतोऽनेकान्तात्मकः परिणाम्यात्मार्थक्रियाकारित्वात् प्रधानवदित्याद्युपदर्शितम् । इति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्येत तथान्यथा च तस्यावश्यंभावसमर्थनात् । अन्यथा तद्विशिष्टमर्थतत्त्वं विशेष्यमेव न स्याद्विधेः प्रतिषेधरहितस्य प्रतिषेधस्य च विधिरहितस्य विशेषणत्वनिराकरणात् तदुभयरहितस्य च विशेष्यत्वविरोधात् खपुष्पवत् । इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोर्गुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु वृत्तिरिति लक्षयति । ततो न तेषां पौनरुक्त्यं, येन सप्तभङ्गीविधिरनवद्यो न स्यात् ॥१०९॥ विधिनैव वस्तुतत्त्वं वाक्यं नियमयति सर्वथेत्येकान्ते दूषणमुपदर्शयन्ति—

तदतद्वस्तुवागेषा, तदेवेत्यनुशासती ॥ न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः, कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतं विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमविरुद्धं वस्तु समायातं, स्वशिरस्ताडं पूत्कुर्वतोपि तदतद्रूपतयैव प्रतीतेः । तदुक्तं—'विरुद्धमपि संसिद्धं, तदतद्रूपवेदनम् । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ॥ १ ॥' इति । तच्च तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती, विध्येकान्ते प्रतिषेधैकान्ताभावस्येष्टस्यानभिधानात्, तदभिधाने वा विध्येकान्तप्रतिपादनविरोधात् । न च मृषावाक्यैस्तत्त्वार्थदेशना युक्तिमती । इति कथमनयार्थदेशनम् । इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्तिरालक्ष्यते ॥ ११० ॥

प्रतिषेधमुखेनैवार्थं वाक्यं नियमयतीत्येकान्तोपि न श्रेयानिति प्रतिपादयन्ति—

वाक्स्वभावोन्यवागर्थ–प्रतिषेधनिरङ्कुशः ॥ आह च स्वार्थसामान्यं, तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥

वाचः स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्यं प्रतिपादयन्ती तदपरं निराकरोति, न पुनस्तदप्रतिपादयन्ती, स्वार्थसामान्यप्रतिपादनतदन्यनिराकरणयोरन्यतरापायेनुक्तानतिशायनात । इदंतया नेदंतया वा न प्रतीयेत तदर्थः कूर्मरोमादिवत् । न खलु सामान्यं विशेषपरिहारेण विशेषो वा सामान्यपरिहारेण क्वचिदुपलभामहे । अनुपलभमानाश्च कथं स्वं परं वा तथाभिनिवेशेन विप्रलभामहे, विध्येकान्तवदन्यापोहैकान्तस्य प्रागेव व्यासेन निरस्तत्वात ॥ १११ ॥ भूयोप्यन्यापोहवादिनमाशङ्क्य निराकुर्वते—

सामान्यवाग् विशेषे चे–न्न शब्दार्थो मृषा हि सा ॥ अभिप्रेतविशेषाप्तेः, स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥११२॥

अस्तीति सत्सामान्यवाग् केवलमभावविच्छेदाद् विशेषमपोहमाहेति चेत्, कः पुनरपोहः ? किमन्यव्यावृत्तिरुत तथा विकल्पः ? परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह इष्यते इति चेत, कथमेवं सत्यभावं प्रतिपादयति ? भावं न प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात् ? तद्विकल्पोन्यापोहोस्तु मिथ्याभिनिवेशादिति चेत, न चैतत्तस्य प्रतिपादकं मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद्व्यलीकवचनवत । ततो नान्यापोहः शब्दार्थः सिद्ध्यति, येन तत्र प्रवर्तमानास्तीत्यादिसामान्यवाग् मृषैव न स्यात । ततः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनो मन्तव्यः स्वाभिप्रेतार्थविशेषप्राप्तेः । सर्वो हि प्रवर्तमानः कुतश्चिद्वचनात क्वचित्स्वरूपादिना सन्तमभिप्रेतमर्थं प्राप्नोति, न पररूपादिनानभिप्रेतं, प्रवृत्तिवैयर्थ्यात्, स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वप्रसङ्गात, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वाभावात् स्वयमभिप्रेतस्याप्यनभिप्रेतत्वप्रसक्तेश्च ॥ ११२ ॥ ततः स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यतिशाययति भगवान् समन्तभद्रस्वामी ।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं, प्रतिषेध्याविरोधि यत् ॥ तथैवादेयहेयत्व–मिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

अस्तीत्यादिविधेयमभिप्रेत्य विधानात्, मर्वत्रैतावन्मात्रलक्षणत्वात् विधेयत्वस्य। न हि परिवृढभयादेरनभिप्रेतस्यापि विधाने विधेयत्वं युक्तं, वीतरागस्यापि तत्कृतबन्धप्रसङ्गाज्जनापवादानुषङ्गाच्च। नाप्यभिप्रेतस्याप्यविधानेऽविधेयत्वं, तद्योग्यतामात्रसिद्धेरन्यथा विधानानर्थक्यात्। तत एवाभिप्रायशून्यानां किंचिदप्यकुर्वतां न किंचिद्विधेयं नापि हेयमभिप्रेत्यहानाभावादुपेक्षामात्रसिद्धेः। तद्विपरीतानां तु किंचिद्विधेयं, तच्च नास्तित्वादिभिरविरुद्धं, प्रतिषेध्यैरीप्सितार्थाङ्गत्वात्, तस्य तद्विरोधे स्वयमीप्सितार्थहेतुत्वासंभवात्, विधिप्रतिषेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात् स्वार्थज्ञानवत्। न हि स्वार्थज्ञानयोरन्योन्याविनाभावोऽसिद्धः, स्वज्ञानमन्तरेणार्थज्ञानानुपपत्तेः कुटवत् स्वज्ञाने एवार्थज्ञानघटनात् सर्वज्ञज्ञानवत्। न हीश्वरस्यापि स्वज्ञानाभावः, मर्वज्ञत्वविरोधात् स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यंभावात्। नापि विषयाकारज्ञानमन्तरेण स्वज्ञानं, स्वाकारस्यार्थस्य परिच्छेद्यत्वविरोधात् स्वज्ञानाभावप्रसङ्गात्। तदनवद्यमुदाहरणं प्रकृतं साधयति। यथैव च विधेयं प्रतिषेध्याविरोधि सिद्धमीप्सितार्थाङ्गं तथैवादेयहेयत्वं वस्तुनो, नान्यथा, विधेयैकान्ते कस्यचिद्धेयत्वविरोधात् प्रतिषेध्यैकान्ते कस्यचिदादेयत्वविरोधात्। न हि मर्वथा विधेयमेव मर्वथा प्रतिषेध्यं स्याद्वादिनोभिप्रेतं, येनोभयात्मकत्वे एवादेयहेयत्वं न स्यात्, कथंचिद्विधिप्रतिषेधयोस्तादात्म्योपगमात्। तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभङ्गीसमाश्रयात्। यथैव हि विधेयोऽस्तित्वादिविशेषः, स्वात्मना विधेयो न प्रतिषेध्यात्मनेति स्याद्विधेयः सिद्धः। प्रतिषेध्यात्मविशेषश्च विधेयात्मना प्रतिषेध्यो न प्रतिषेध्यात्मना इति स्यात्प्रतिषेध्यः स्यादप्रतिषेध्योन्यथा व्याघातात्। तथैव जीवाद्यर्थः स्याद्विधेयः स्यात्प्रतिषेध्यः। इति सप्तभङ्गीसमाश्रयात् स्याद्वादस्य प्रक्रियमाणस्य सम्यक् स्थितिः, मर्वत्र युक्तिशास्त्राविरोधात्, भावैकान्तादिष्वेव तद्विरोधसमर्थनात्। ततो भगवन्ननवद्यमध्यवसितमस्माभिः, "स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्," इति ॥ ११३ ॥ तदेवं प्रारब्धनिर्वहणमात्मनस्तत्फलं

च सूरयः प्रकाशयन्ति—

इतीयमाप्तमीमांसा, विहिता हितमिच्छताम् ॥ सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ–विशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीसमन्तभद्राचार्यविनिर्मितेयमाप्तमीमांसा ॥

इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं, तत्र) विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छतां निःश्रेयसकामिनां, मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्य च हितत्वघटनात्, तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां, तदनुपयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः, तथा मोक्षकारणानुष्ठानात् मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः । सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये युक्ताप्तमीमांसा भगवतामाचार्याणां परहितसंपादनप्रवणहृदयत्वात्, दर्शनविशुद्धिप्रवचनवात्सल्यमार्गप्रभावनापरत्वाच्च । ततः परमार्हन्त्यलक्ष्मीपरिसमाप्तेः स्वार्थसंपत्तिसिद्धिः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सम्यगुपदेशः, तदन्यतमापाये मोक्षस्यानुपपत्तेः समर्थनात् । ' ज्ञानेन चापवर्गः ' इत्यादिमिथ्योपदेशः, तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वसाधनात् । तयोरर्थविशेषः सत्येतरविषयभेदः सम्यग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिप्रयोजनभेदो वा तद्भावनाविशेषो वा मोक्षबन्धप्रसिद्धिभेदो वा । तस्य प्रतिपत्तिरुपादेयत्वेन हेयत्वेन च श्रद्धानमध्यवसायः समाचरणं चोच्यते । तस्यै सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये । शास्त्रारम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता । इति स्वामिप्रेतार्थनिवेदनमाचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११४ ॥

अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते,—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्, विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ॥
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्, स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥११५॥

श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिदं वदन्ति— (स्वभाष्यपरिसमाप्तिमङ्गलं)

श्रीवर्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य—पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ॥
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं, स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥ १ ॥ इति ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालंकृतौ दशमः परिच्छेदः ॥

परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः, यद्वाचोऽप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ॥
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्, विद्यानन्दघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥१॥
श्रीमदकलङ्कशशधर—कुलविद्यानन्दसंभवा भूयात् । गुरुमीमांसालंकृति—रष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ॥२॥
वीरसेनाख्यमोक्षगे, चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम् ॥
सारतरात्मध्यानगे, मारमदाम्भोदपवनगिरिगह्वराथि तु ॥ ३ ॥
अष्टसहस्री सिद्धा, साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् ॥ शश्वदभीष्टसहस्रीं, कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमद्कलङ्कदेवप्रणीत–भाष्योपबृंहिता श्रीविद्यानन्दसूरिसन्दब्धेयमष्टसहस्रीवृत्तिः ॥

[स्याद्वादकेवलज्ञान इत्यादि ॥ १०५ ॥ सधर्मणैव साध्यस्येत्यादि ॥ १०६ ॥ नयोपनयैकान्तानामित्यादि ॥ १०७ ॥ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेदित्यादि ॥ १०८ ॥ नियम्यतेऽर्थो वाक्येनेत्यादि ॥ १०९ ॥ तदतद्वस्तुवागेषेत्यादि ॥ ११० ॥ वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थेत्यादि ॥ १११ ॥ सामान्यवाग्विशेषे चेदित्यादि ॥ ११२ ॥ विधेयमीप्सीतार्थाङ्गमित्यादि ॥ ११३ ॥ सर्वं निगदसिद्धम् ॥]

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-मेतावतैव यदि चेतयते न कोऽपि ॥
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १ ॥
विशुद्धिसङ्क्लेशजपुण्यपापे, प्रतिक्रिया यत्र नियम्यते नो ॥
ज्ञानेऽन्यहेतुश्च जिनप्रसादा–द्विना जिनाज्ञा मम सा प्रमाणम् ॥ २ ॥

॥ इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंस-पंडितश्रीलाभविजयशिष्याग्रेसरपंडितश्रीजीतविजयगणि सतीर्थ्यालङ्कारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचिते अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे दशमः परिच्छेदः॥

श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुविरुद्धारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्य-
महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंस-पंडितश्रीलाभविजयगणिशिष्याग्रेसर-पं-
डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यालंकार-पंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण
पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण गङ्गोपकण्ठकाशीस्थविद्वन्मंडलीप्रदत्तन्यायविशार-
द-परःशतग्रन्थग्रथनार्जितन्यायाचार्योपपदोपशोभितेन भव्यसत्त्वोपकृतिप्रणीतरहस्य-
पदोत्तराष्टाग्रशतसंख्यशास्त्राद्यनेकलक्षप्रमाणसंस्कृतप्राकृतभाषावबद्धगद्यपद्यमय-
ग्रन्थकुसुममालामालाकारेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना सन्दृब्धमिदम्—

॥ श्रीअष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणं सम्पूर्णम् ॥

